अध्याय

# 1

# धर्म और उसका प्रभाव
# (RELIGION AND ITS IMPACT)

## संरचना

- धर्म के समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य (Perspective of Sociology of Religion)
- धर्म के प्रमुख पहलू (Main Aspects of Religion)
- धार्मिक संस्थाएँ (Religion Institutions)
- धर्म और समाज सेवा (Religion and Social Activities)
- धार्मिक सहिष्णुता (Secularism)
- धर्म में विकसित ऐसी प्रवृत्तियाँ जो मानव व समाज की प्रगति में बाधक हैं (Tendencies Developed in Religion which binder the Progress of Man and Society)
- धर्म का सामाजिक महत्व (Social Importance of Religion)
- धर्म की उपयोगिता (Utility of Religion)
- धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता (हानियाँ) [Social Unusefulness (Demerits) of Religion]
- धर्म के विविध स्वरूप (Various Forms of Dharma)
- धर्म का मार्क्सवादी विचार (Marxist thought of Religion)
- धर्म की प्रभावशाली विचारधारा (Effective Ideology of Religion)
- अधिसंरचना के रूप में धर्म (Religion as a Restructure)
- धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त (Theories of Origin of Religion)
- दुर्खीम का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Durkheim's Theory of Origin of Religion)
- धर्म की उत्पत्ति का आत्मावादी सिद्धान्त (Animistic Theory of Religion's Origin)
- धर्म की उत्पत्ति का प्रेतवादी सिद्धान्त (Ghost Theory of Religion's Theory)
- धर्म की उत्पत्ति में मानावाद का सिद्धान्त (The Theory of Manaism in Religion's Origin)
- धर्म की उत्पत्ति का प्रकृतिवादी सिद्धान्त (Naturalistic Theory of Religion's Origin)
- धर्म की उत्पत्ति का फ्रेजर सिद्धान्त (Frazer's Theory Regarding the Origin of Religion)
- धर्म का सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory of Religion)
- धर्म की उत्पत्ति का टोटमवादी सिद्धान्त (Totemistic Theory f Religion's Origin)
- धर्म दर्शन तथा विज्ञान (Philosophy of Religion and Science)
- धर्म दर्शन तथा दर्शनशास्त्र (Philosophy of Religion and Philosophy)
- धर्म एवं नीतिशास्त्र (Religion and Ethics)

- धर्म तथा तर्कशक्ति (Religion and Rationality)
- संस्कृतिक व्यवस्था के रूप में धर्म (Religion as Cultural System)
- अभ्यास प्रश्न

अपने पारंपरिक रूप में भारतीय संस्कृति ने धर्म को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। **धर्म की संकल्पना** (इसके सांस्कृतिक अर्थ से उधार लेकर कर्त्तव्य के रूप में अस्पष्ट शैली में अनुवादित) भारत में हजारों वर्षों से हिंदुओं की संस्कृति के लिए मार्गदर्शी ज्योतिपुंज रही है। यद्यपि धर्म शब्द बहुत विशाल है और इसका क्षेत्र रिलीजन शब्द (आस्तिकता, विश्वास) की तुलना में व्यापक है, धार्मिक आदेशों ने सांस्कृतिक प्रथाओं के सभी रूपों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अक्सर यह कहा जाता है कि **वृत्ति धर्म** (व्यावसायिक कर्त्तव्य), **राज धर्म** (शासक का कर्त्तव्य), **मानव धर्म** (मनुष्य के रूप में कर्त्तव्य), **सामान्य धर्म** (सामान्य दायित्व) और इसी तरह के अन्य धर्म, जैसा पहले वर्णन किया गया है, यथार्थत: धर्म के अनुष्ठानात्मक कार्य के अंग नहीं हैं।

## ● धर्म के समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य (Perspective of Sociology of Religion)

भारतीय संदर्भ में, धर्म विश्व की व्यवस्था का वर्णन करता है और आवश्यक नहीं कि अलौकिक शक्ति के किसी कार्य का वर्णन करे। उदाहरण के लिए, जब उपनिषद् कहते हैं : 'सत्यम वद् धर्माचरा' (सच बोलो, अपने कर्त्तव्यों का पालन करो)। व्यक्ति को सलाह दी जाती है कि वह कोई धार्मिक कार्य करने की बजाय सांस्कृतिक प्रणाली के उच्च मूल्यों के अनुसार काम करे। दूसरे शब्दों में, दैनिक क्रियाओं को पूरा करना धर्म है और धार्मिक कार्यों और अनुष्ठान को करना ही हमेशा धर्म नहीं कहलाता है। धर्म के इस पहलू पर आगे और विचार करने से पहले, हमें धर्म की समाजशास्त्रीय संकल्पना पर इसके सामान्य अर्थ में स्पष्ट रूप से विचार कर लेना चाहिए।

भारत विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के लिए स्वदेश है। भारत का प्रमुख धर्म हिन्दू धर्म है, लेकिन इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म, यहूदी धर्म और विश्व के अन्य अनेकों धर्म के अनुयायी भी यहाँ निवास करते हैं। परंतु, धर्म-निरपेक्षता के आगमन से, विशेष रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था, राज्यतंत्र, विज्ञान और संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में आगमन से भारतीय धार्मिक परिदृश्य में प्रमुख परिवर्तन हुए हैं। वस्तुत:, हमने जब शासन का धर्म-निरपेक्ष रूप अपनाया उसके बाद से ही भारत में धर्म का अर्थ ही बदल गया है। धर्म और समाज की अन्य संस्थाओं के बीच संबंधों ने आधुनिक भारतीय के जीवन में धर्म के स्थान में आमूल परिवर्तन दिया है। भारत में पहले यह धारण थी कि समाज में प्रत्येक सदस्य का अपना-अपना धर्म होता है, परंतु अब यह माना जाता है कि धर्म भी अन्य सामाजिक संस्थाओं जैसी एक संस्था है जिसे किसी न किसी प्रकार के सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता है।

सभी समाजों और संस्कृतियों में धर्म विद्यमान है। प्रारंभिक पश्चिमी विचार कि 'केवल पश्चिम ही धार्मिक था और अन्य लोग ईश्वरीय कृपा से वंचित हैं' काफी पहले ही अर्थहीन सिद्ध हो चुका है। भारत, मिस्र और चीन जैसी प्राचीन संस्कृतियों की हजारों वर्ष पहले ही अत्यंत जटिल और व्यापक धार्मिक प्रणालियाँ होती थीं। धर्मशास्त्रियों ने तो विश्व के केवल कुछ हिस्सों में ही धर्मों के विद्यमान होने के बारे में बताया था परंतु समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों के कॉम्टे, स्पेंसर, और बाद में दुर्खीम और वेबर के शास्त्रीय लेखनों के वर्णनों, धर्म की विश्वव्यापकता को हमेशा से ही स्वीकार किया है। परन्तु धर्म की विश्वव्यापकता के मुद्दे का फैसला करने से यह कठिन समस्या उत्पन्न हो गई है कि सभी संस्कृतियों में धर्म का कोई न कोई रूप क्यों होना चाहिए और व्यक्ति के जीवन में धर्म की इतनी प्रमुख भूमिका क्यों होनी चाहिए।

इस विषय की कुछ युक्तिसंगत व्याख्याएँ की गई हैं। सभी भक्तों के लिए ईश्वर का प्रारंभिक प्रकटीकरण (दैवी संदेश) एक बोधगम्य धर्मशास्त्रीय व्याख्या है जिसने मध्य युगों के दौरान काफी ख्याति प्राप्त की। लेकिन ऐसी व्याख्या वैज्ञानिक जाँच के क्षेत्र से बाहर है, वैधता के संदर्भों में अतर्कसंगत है और तर्कसंगत जाँच के संदर्भ में स्वीकार्य नहीं हो सकती। इस अनिश्चितता के विकल्प के रूप में समाजशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर अधिक तर्कसंगत और विषयनिष्ठ तरीके से विचार किया है, और ऐसा करते समय उन्होंने अक्सर सांस्कृतिक मानवविज्ञान, मनोविज्ञान और साहित्य जैसे अन्य समान विषयों से अंतर्दृष्टि और तर्कवाक्य ग्रहण किए हैं।

धर्म अपनी सर्वव्यापक उपस्थिति में और सार्वभौमिक है। इस बारे में समाजवादियों और मानवविज्ञानियों ने हमें ठोस प्रमाण उपलब्ध कराए हैं। प्रागैतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट रूप से यह संकेत मिलता है कि धार्मिक प्रथाएँ मानव समूह के अत्यंत प्रारंभिक काल से ही चली आ रही हैं। अनेकों गहन अध्ययनों से इसी बात की अधिक जानकारी मिल रही है कि जिन लोगों के बारे में प्रारम्भ में यह रिपोर्ट दी गई थी कि उनका कोई धर्म नहीं, वस्तुत: उनके धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ विद्यमान थीं; इस बारे में दी गई अनेकों प्रारंभिक रिपोर्टें गलत सिद्ध हुई हैं, क्योंकि जिस समुदाय की इस संबंध में जाँच की जा रही थी उसके बारे में जाँचकर्त्ताओं के विचार या तो पूर्वाग्रह युक्त थे या उनके संपर्क सतही थे। द्वंद्व समाजशास्त्र भी एक सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के सर्वत्रव्यापी स्वरूप को अलग नहीं करता। मार्क्सवादी संकल्पनात्मक आधार वाक्य तो धर्म को शक्तिसंपन्न लोगों द्वारा शक्तिहीन व्यक्तियों को नियंत्रित करने का तंत्र कहकर टाल देता है, लेकिन समाज में धर्म के विभिन्न रूपों के अस्तित्व के बारे में अभी तक खंडन नहीं किया गया है।

अन्य शब्दों की भाँति, धर्म शब्द में भी इसकी प्रारंभिक सरल व्याख्याओं से बदलाव आया है। यह शब्द लैटिन के रिलीजिन शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है ''नेकनीयती'' (सच्चाई)। अपने मूल अर्थ में यह शब्द किसी प्रकार के ''अनुष्ठान'' का भी संकेत देता है। सामान्य अर्थों में, धर्म शब्द का अर्थ ऐसे संस्थागत विश्वासों और प्रथाओं के समुच्चय के रूप में माना जाता है, जो जीवन के चरम सत्य से संबंधित होते हैं। संस्कृति के सत्य के समान, धर्म समाज के हर सदस्य के व्यवहार हेतु नैतिकता के दिव्य, अलौकिक या अतींद्रिय आदेश द्वारा धारित सिद्धांतों के अनुसार एक रूपरेखा प्रदान करता है। धर्म ऐसी वस्तु है जिसका लोग सामाजिक समूहों के सदस्यों के रूप में अनुसरण करते हैं और इसलिए धर्म का अध्ययन निरपवाद रूप से जनसमूह और संस्कृति के अध्ययन की ओर अग्रसर करता है।

धर्म ऐसी प्रमुख सामाजिक संस्था है जो रिकॉर्डबद्ध मानव इतिहास की शुरूआत से ही समाज के सभी रूपों में पाई जाती है, यद्यपि इसका स्वरूप और अंतर्वस्तु हर अवधि में और हर क्षेत्र में बदलती रही है। इसके बाहरी स्वरूप में पाई जाने वाली अनेकों भिन्नताओं के कारण समाजशास्त्रियों के लिए इसकी संकल्पना की संतोषपूर्ण परिभाषा प्रदान करना अत्यंत कठिन हो जाता है। धर्म के अध्ययन में जिन प्रश्नों पर विचार किया जाता है वे हैं; विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के विभिन्न धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ कैसे होती हैं, पूरी दुनिया में धार्मिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं को सार्थक रूप से कैसे समझा जा सकता है और उनके सही संदर्भ में रखा जा सकता है। इस अर्थ में, धर्म का अध्ययन तुलनात्मक है, क्योंकि भिन्न सांस्कृतिक संदर्भों के अंतर्गत विभिन्न धर्मों और भिन्न-भिन्न प्रकार की धार्मिक प्रथाओं के बीच तुलनाएँ की जाती हैं। वस्तुत:, आधुनिक समाजशास्त्रीय साहित्य में, धार्मिक अध्ययनों का अक्सर ''तुलनात्मक धर्म'' कहकर वर्णन किया जाता है। समकालीन सामाजिक विज्ञानों में अब धर्म को एक विश्वव्यापी सामाजिक संस्था समझने के सामान्य विचार से परे हटने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। इसकी बजाय अब इसको दो अलग-अलग परंतु पारस्परिक रूप से संबंधित दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास किया जा रहा है। पहला दृष्टिकोण है, धर्म को धार्मिक परंपराओं की व्याख्या के रूप में देखना और दूसरा धर्म को एक विश्वव्यापी सामाजिक संस्था के रूप में देखना जो सभी मानव समाजों में पाई जाती है।

## धर्म का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Religion)

धर्म मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य तत्व है। धर्म की विशेषताओं, उसके आदर्शों और जीवन को संगठित करने से सम्बन्धित उसके कार्यों को देखते हुए यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि धर्म एक ऐसा अमूर्त तत्व है जो मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं से भी बढ़कर महत्वपूर्ण है। **डेविस** (Davis) के शब्दों में, ''मानव समाज में धर्म इतना सार्वभौमिक, स्थायी एवं व्यापक है कि धर्म को समझे बिना हम समाज को नहीं समझ सकते हैं।''

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि धर्म केवल सभ्य समाज के साथ ही जुड़ा हुआ है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। धर्म जनजातियों में भी किसी न किसी रूप में पाया जाता है। वास्तविकता यह है कि सभ्य समाज के धर्म की पृष्ठभूमि जनजातीय समाज से ही निर्मित हुई है और सभ्य जीवन का धर्म जनजातीय धर्म का ही संशोधित एवं परिवर्तित रूप है। गिलिन तथा गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार सामाजिक विज्ञानों में धर्म की वास्तविकता के सन्दर्भ में उसकी सत्यता या असत्यता का अध्ययन नहीं किया जाता वरन् सामाजिक जीवन के एक पहलू के रूप में धर्म का अध्ययन किया जाता है।

धर्म को आंग्ल भाषा में 'रिलीजियन' कहा जाता है। शाब्दिक अर्थों में 'रिलीजियन' एकता और सामंजस्य का तत्व है। (लैटिन : रिलीजिओ ओनिस, रि = वापस अथवा पुन: लिगेअर = बाँधना) 'रि' से यह बोध होता है, कि एकता के दोनों विषय जो इस समय एक हैं, मूल रूप में एक ही थे। वे कुछ समय के लिये एक-दूसरे से पृथक् हो गये थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म मानव और ईश्वर, ससीम और असीम की परम एकता में आस्था पर आधारित है। अत: जो धर्म मानव और ईश्वर के बीच स्थाई खाई खोदता है, परोक्ष रूप से धर्म कहलाने का अधिकार नहीं है।

### विभिन्न मत (Different Views)

धर्म सम्बन्धी भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करने पर भिन्न-भिन्न तथ्य सामने आ जाते हैं—

**(क) भारतीय विचारकों द्वारा व्यक्त किये गये मत** (Views Expressed by Indian Thinkers)—भारतीय परम्परा में वेदों को ही धर्म का मूल माना जाता है। वेद ही परम धर्म है। जो वेदों में कहा गया है वही सत्य है तथा जो वेदों के विपरीत है, वही असत्य है—

(i) **'श्रीमद्भागवद्'** में लिखा गया है कि, ''जो कुछ वेद में कहा गया है वही सत्य है तथा इसके विपरीत सब असत्य है।''

(ii) **मनुस्मृति** में लिखा गया है कि, ''वेद धर्म का मूल है।''

(iii) **जैमिनी** सूत्र में कहा गया है कि, ''वेद जिसकी घोषणा करें वही धर्म है।''

(iv) **महाभारत** में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' (धारण करना) धातु से सम्बन्धित है अर्थात् धर्म वही है जो समस्त विश्व को धारण करे। धर्म ही समाज को धारण कर सकता है तथा सामाजिक और आर्थिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

(iii) **मजूमदार तथा मदन** (Majumdar and Madan) के अनुसार, ''धर्म किसी अलौकिक और अतीन्द्रिय शक्ति के भय का एक मानवीय प्रत्युत्तर है। यह व्यवहार की अभिव्यक्ति अथवा परिस्थितियों से किये गये अनुकूलन का वह रूप है जो अलौकिक शक्ति की धारणा से प्रभावित होता है।''

मजूमदार तथा मदन के अनुसार जब मनुष्य अतीन्द्रिय (परामानवीय) शक्ति से भयभीत हो जाता है तो वह धर्म के रूप में ही अपने भय को अभिव्यक्ति करता है। इस तरह से, धर्म असामान्य परिस्थितियों को

फ्रेजर ने उच्च शक्तियों में विश्वास पर बल दिया है।

**(7) बोकेट** (Bauquet)—बोकेट ने धर्म की शाब्दिक व्याख्या की है। उसका मत है कि रिलीजियन (Religion) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द Rel (1) igio शब्द से हुई है जो स्वयं धातु (leg) से निकला है, जिसका अर्थ 'बाँधना' या 'साथ-साथ' (Together) है। इसमें दो अर्थ निहित हैं। पहले अर्थ के अनुसार पवित्र प्रतीकों में विश्वास तथा दूसरे अर्थ में ऐसे कार्य जो मनुष्य व अलौकिक शक्ति को परस्पर बाँधे अर्थात् दोनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करें। धर्म के अर्थ में दोनों ही बातें सम्बन्धित हैं। विश्वास व स्तुति (पूजा) दोनों ही धर्म के मुख्य अंग हैं। इस व्याख्या के अनुसार धर्म का तात्पर्य मनुष्य व अलौकिक शक्ति के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाले कार्यों को करने से है। वस्तुत: मानव मस्तिष्क प्रारम्भ से ही उच्च शक्तियों में विश्वास करता आया है। ये शक्तियाँ अलौकिक हैं व अदृश्य हैं, फिर भी अत्यधिक शक्तिशाली व प्रभावपूर्ण हैं।

**(8) डावसन** (Dowson)—''जब कभी और जहाँ कहीं भी मनुष्य में बाह्य शक्तियों पर निर्भरता के भाव उत्पन्न होते हैं, जो रहस्य के समान गुप्त रहती है तथा जो स्वयं मनुष्य से उच्च है, वही धर्म होता है। भय की तथा स्वयं को नीचे गिराने की भावना, जिसमें मनुष्य उन शक्तियों की उपस्थिति में भरा रहता है, वह आवश्यक रूप से धार्मिक संवेग है, पूजा व प्रार्थना का पथ है।''

इस परिभाषा का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह न केवल अत्यन्त विस्तृत है वरन् जीववाद तथा जादू, जो धर्म नहीं है, पर अधिक लागू होती है।

विचारकों से एक वर्ग की मान्यता है कि उच्च शक्तियों के भय के कारण उन्हें खुश करने के लिये जो प्रयत्न किये जाते हैं, वह धर्म है। राबर्टसन स्मिथ ने इस मत का खण्डन किया है कि धर्म कोई ''**भय का अनजान देवता**'' या ''**कष्ट देवता**'' है। उनके अनुसार, 'धर्म समुदाय के सदस्यों का ऐसी शक्ति से सम्बन्ध है जिसके दिल में समुदाय की भावना है तथा जो उसके नियमों व नैतिक व्यवस्थाओं का संरक्षण करती है।' कुछ लोग धर्म को आध्यात्मिकता से सम्बन्धित बताते हैं, परन्तु **बेनेडिक्ट** इस बात से असहमत है। उसके अनुसार यदि धर्म अपने स्वभाव में आध्यात्मिक है या नैतिकता का स्रोत लगता है तो यह समाज की ही प्रतिक्रिया है। **समनर** तथा **केलर** ने यह मत अस्वीकार कर दिया है कि धर्म जीवन की कठिनाइयों के विरुद्ध एक बीमे की भाँति है। ट्यूलियस लिपर्ट ने धर्म को अस्तित्व के लिये संघर्ष बताया।

**(9) हेगेलवादी** (Hegelian)—धर्म की व्याख्या करते हुए हेगेलवादियों ने बुद्धि के अंश पर बल दिया है। प्रो० मैक्टेगार्ट ने कहा है, ''धर्म स्पष्टतया ही एक मानसिक अवस्था है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह हममें और विस्तृत विश्व में एक सामंजस्य की आस्था पर आधारित एक भावना के रूप में सर्वोत्तम रीति से वर्णन किया जा सकता है।'' इस प्रकार का सिद्धान्त समस्त धर्मों में एक प्रकार के बौद्धिक ज्ञान को आवश्यक तत्व मानता है। तथापि अनेक धार्मिक व्यक्तियों ने कभी किसी प्रकार के दार्शनिक अथवा बौद्धिक विचार का विकास नहीं किया।

**(10) नीतिवाद** (Moralists)—नीतिवादी विचारक धर्म के नैतिक पक्ष पर बल देते हैं। मैथ्यू आरनल्ड ने धर्म की व्याख्या ''भावनामय नैतिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं'' के रूप में की है। कान्ट ने नैतिक संकल्प की प्राथमिकता पर जोर दिया है। ब्रैडले का मत है कि, ''नैतिकता एक अधिक ऊँचे शुभ के स्तर पर पहुँचती है। वह वहाँ समाप्त होती है, जिसको हम धर्म कहते हैं।'' ''नैतिक न होना एक नैतिक कर्त्तव्य है और यह कर्त्तव्य धार्मिक होता है।''

आलोचकों का कथन है कि अनैतिक न होते हुये भी धर्म नीति से परे है, क्योंकि धर्म का विषय समस्त मानव मूल्यों का अतिक्रमण करता है।

**(11) विलियम जेम्स** (William James)—विलियम जेम्स ने धर्म की इस प्रकार व्याख्या की है, ''व्यक्तियों की अपने एकान्त की अनुभूतियाँ, कर्म और अनुभव जहाँ तक कि वे अपने को उस सत्ता से सम्बन्धित पाते हैं, जिसको कि वे दैवी कहते हैं।'' इस परिभाषा के आलोचकों का मत है कि यह दैवी तत्व पर यथार्थ रूप में बल देते हुये भी उसके वस्तु विषयक और सामाजिक पक्ष को भूल जाती है। **व्हाइट हैड** और **जेम्स** दोनों ही धर्म में मोक्ष और सीमाओं से मुक्ति के पक्ष को विस्तृत कर देते हैं जिसमें कि मानव अपने एकाकीपन से उठकर दैवी सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करता है।

**(12) हाफडिंग** (Haffding)—हाफडिंग ने ''मूल्यों के संरक्षण में आस्था'' के रूप में धर्म की व्याख्या की है।

इस परिभाषा का एक बड़ा दोष यह है कि परिभाषा मूल्य के रूप में धर्म के तत्व को यथार्थ ही पहचानती है तथा व्यापारिक रूप को भुला देती है। धर्म केवल मूल्यों के संरक्षण में नहीं, वरन् उनकी सिद्धि में आस्था है। दूसरे, धर्म के तत्व के रूप में मूल्य केवल नैतिक नहीं है, क्योंकि ईश्वर नीति अनीति से परे है। **अलेक्जेन्डर** ने इस परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा है कि यह अत्यधिक बौद्धिक है, परन्तु यह कहने में कि ''ईश्वर को सर्वोच्च मूल्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कोई ऐसा निर्मूल्य (Unvalue) नहीं है, जिससे उसकी तुलना हो सके'' उसने निरपेक्ष विधियों को सापेक्ष विधेय (Predicate) मान लिया है। यदि किसी वस्तु में मूल्य होता है तो वह किसी मूल्यहीनता की तुलना में होता है। सीमित वस्तुओं के विधेय सापेक्ष होते हैं परन्तु ईश्वर के विषय में स्थिति भिन्न है जो कुछ ईश्वर के विषय में कहा जाता है वह निरपेक्ष विधेय है।

**(13) टॉयलर** (Tylor) के अनुसार, ''धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।''

टॉयलर ने अपनी परिभाषा में धर्म को प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक विश्वास के साथ सम्बन्धित किया है। जब मनुष्य अपनी शक्ति और विवेक से किसी घटना के कारण को समझने में समर्थ हो जाता है तो वह भय और श्रद्धा के फलस्वरूप किसी न किसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास करने लगता है। यही धर्म है।

**(14) मैलिनोव्स्की** (Malinowski) के अनुसार, ''धर्म क्रिया की एक विधि है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी। धर्म एक समाजशास्त्रीय तथ्य होने के साथ ही एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।''

मैलिनोव्स्की ने धर्म को विश्वासों पर आधारित एक व्यवस्था माना है जिसे पूरा करने के लिए अनेक प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। साथ ही, मैलिनोव्स्की ने धर्म को एक ऐसा तथ्य माना है जो सम्पूर्ण समाज को सामूहिक रूप से प्रभावित करने के साथ-साथ व्यक्तिगत रूप से समाज के प्रत्येक सदस्य को भी प्रभावित करता है।

**(15) प्रो० मिल्टन चिंगर** (Prof. Milton Chinger)—प्रो० मिल्टन चिंगर का मत है कि धर्म की सौ से अधिक परिभाषायें दी जा सकती हैं। चिंगर ने धर्म की समस्त परिभाषाओं का तीन भागों में वर्गीकरण किया है—

**(i) मूल्यात्मक परिभाषायें**—इन परिभाषाओं में धर्म की मूल्यात्मक व्याख्या की जाती है। यह बतलाया जाता है कि धर्म को क्या होना चाहिये। **हाफडिंग** की परिभाषा इसी वर्ग में आती है।

**(ii) वर्णनात्मक परिभाषायें**—इन परिभाषाओं में यह अध्ययन किया जाता है कि धर्म के स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने के क्या परिणाम हो सकते हैं। इस श्रेणी में टाइलर की परिभाषा में आती है।

**(iii) क्रियात्मक परिभाषायें**—इन परिभाषाओं में यह बतलाया जाता है कि धर्म क्या करता है। अधिकतर परिभाषायें इसी वर्ग में आती हैं।

इस प्रकार, धर्म को किसी न किसी रूप में अतिमानवीय शक्ति पर विश्वास के रूप में ही स्पष्ट किया गया है। इसके विपरीत, डॉ राधाकृष्णन द्वारा धर्म की दी हुई परिभाषा, धर्म को सीधे-सीधे सामाजिक रूप देती है। **डॉ० राधाकृष्णन** के शब्दों में जिन सिद्धान्त के अनुसार हम अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं, जिसके द्वारा हमारे सामाजिकि सम्बन्धों की स्थापना होती है, वही धर्म है। वह जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।

## ● धर्म के प्रमुख पहलू (Main Aspects of Religion)

मानव-जीवन के तीन प्रमुख पहलू होते हैं—वर्धी, प्राणी-जीवन सम्बन्धी और सबसे अधिक विशेषता वाला मानव-जीवन सम्बन्धी। शुद्ध मानवीय पहलू बौद्धिक चयन कर आधारित होकर अन्य दो पहलुओं को रूपान्तरित करता है और धीरे-धीरे उन पर अधिकार जमा लेता है। हमारी सामाजिक संस्थाएँ और संगठन-पद्धतियाँ, जिनके बारे में अब तक उल्लेख कर चुके हैं, प्रमुखत: उन्हीं विधियों के रूप हैं जिन्हें हमारी निम्नतम आवश्यकतायें और भावनाएँ अपने सचेतन चयन के कारण प्राप्त करती हैं। अब हमें उस आदर्श ध्येय की ओर ध्यान देना चाहिए जो हमारी जटिल प्रकृति के शुद्ध मानवीय पक्ष से विशेषत: सम्बन्धित है। यही शुद्ध मानवीय ध्येय स्वत: ही सत्यं, शिवं, सुन्दरं के अनुशीलन में प्रकट होता है। धर्म भी इन्हीं उच्चतम रूपों के साथ ही पूर्णत्व को प्राप्त करता है। यहाँ सामाजिक कार्यों में हित क्या होता है, उसे देखना ही प्रमुख उद्देश्य है, परन्तु अन्य पहलुओं को भी पूर्णत: भुलाया नहीं जा सकता।

जब सामाजिक कार्यों पर धर्म के प्रभाव को विशेष रूप से देखा जाता है, तब धर्म और नैतिकता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यहाँ नैतिकता शब्द अपने उच्चतम अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है-कि मूलत: धर्म ''संवेगों से युक्त नैतिकता है।'' परन्तु सभी नैतिकताएँ, जो अधिकांश लोगों के लिए शुभ होती हैं, संवेग का पुट रखती हैं। नीतिशास्त्र-सम्बन्धी विचार भी धर्म-सहित उच्च नैतिकता ही तो है। परन्तु यह एकत्व विधेयकवाद की तरह धर्म से प्रकृति पूजा और अनुभवगम्य-ब्रह्माण्ड की अवधारणा को पृथक् करता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का भाव इसके उच्चतम अर्थों में प्रत्येक वस्तु का अनुशीलन करना है, जो सत्य और शिव हो। परन्तु कुछ भी हो, वह उन सब का एक अनुशीलन है, जहाँ वे सब धर्म में आन्तरिक रूप से प्रत्यक्ष अथवा वस्तु की प्रकृति में सम्पृक्त होते हैं। अधिकतर नैतिकता का अर्थ जहाँ सामान्यत: किसी विशेष काल और स्थान में सत्यं एवं शिवं के प्रति समर्पण और अनुशीलन समझा जाता है, वहाँ धर्म में निरपेक्ष आदर्श करने की भावना होती है। नैतिकता की व्याख्या अस्तित्व रूप में व्याख्या करने की प्रवृत्ति है। कुछ अंशों में वह परम्परागत भी होती है। यह भी कहा जा सकता है कि थोड़ा या अधिक यही बात धर्म के बारे में भी सत्य है, परन्तु कम-से-कम इसका उद्देश्य निश्चित रूप से पूर्वत्व की ओर ही अधिक है। इसे नैतिकता में प्रगति लाने वाली भावना भी कहा जा सकता है। परन्तु इसी से कला और दर्शन में भी प्रगति होती है और वे दोनों अपने श्रेष्ठतम रूप में धर्म का रूप धारण कर लेते हैं, जैसा कि नैतिकता भी। सौन्दर्य का आनन्द और सत्य के प्रति चिन्तन मूलत: धार्मिक प्रवृत्ति है। इसी तरह सत्यं और सुन्दर की रक्षा के लिए नैतिकता का मूलतत्व—सहज प्रयास भी एक धार्मिक प्रवृत्ति है। इस प्रकार धर्म सत्यं, शिवं और सुन्दरं का समन्वय एक ऐसे ढंग से करता है जो विज्ञान, कला और नैतिकता के समन्वय में नहीं मिल सकता। फिर यह भी सत्य हो सकता है कि दार्शनिक चिन्तन के श्रेष्ठ रूप काव्य-सर्जन और नैतिकता के प्रयास भी मूलत: धार्मिक ही हैं।

## ● धार्मिक संस्थाएँ (Religion Institutions)

यह स्वाभाविक है कि धार्मिक प्रवृत्ति विशेषत: अपने सामाजिक पक्ष में, कुछ विशेष संस्थाओं के समर्थन और निर्माण के लिए प्रेरित करती है, जैसे कि मानव-प्रकृति के अन्य पहलू भी करते हैं। यह भी स्वाभाविक है

कि उन संस्थाओं में अन्यों की भाँति कुछ ऐसे तत्व भी हों, जिन्हें हम परम्परागत कहते हैं। इनका सबसे अधिक स्पष्ट रूप हम विविध गिरजाघरों और अन्य साम्प्रदायिक संघों में देख सकते हैं। इसी तरह कैथोलिकवाद के विशाल संगठनो से लेकर मित्र-समाज के साधारण संगठन तक पहुँचा जा सकता है। कभी-कभी कुछ अंशों में सामाजिक लक्ष्य ऐसी संस्थाओं में ही निहित अथवा उन्हीं के अधीन होते हैं। वे संस्थाएँ सामाजिक संगठन के आदर्शों की अपेक्षा विशेष सिद्धान्तों की घोषणा और विशेष समारोह करने अथवा वैयक्तिक जीवन के सुधार की ओर ही अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु उद्देश्य सभी के सामान्य होते हैं और उनको एक विशेष सामाजिक महत्व देते हैं। यह सही है कि कभी-कभी धर्म के बारे में यह कहा जाता है कि वह एक शुद्ध वैयक्तिक वस्तु है। कभी-कभी ऐसा भी सोचा जा सकता है कि व्यक्ति धर्म को उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार चित्रकला अथवा संगीतकला को ग्रहण किया जाता है। उसमें वे एक प्रकार का सन्तोष और अनुशासन भी प्राप्त करते हैं। परन्तु सामाजिक कर्तव्य के साथ उन लोगों का सम्बन्ध बहुत कम होता है, और सामान्यत: धार्मिक संगठनों के साथ अपने-आपको सम्बन्धित नहीं करते। प्राचीन रहस्यवादी, मध्यकालीन सन्त और वे 'सुन्दर-आत्माएँ' (जैसा गेटे ने कहा), उन प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं; परन्तु ऐसी प्रवृत्तियों को धारण करने वाले भी सामान्यत: एक ही मानसिक दशा वाले लोगों के साथ मैत्री करना अधिक उचित समझते हैं। 'मेसोनिक लाज' और इसी तरह की अन्य संस्थाएँ, विशेष तौर से जब वे कुछ ऐसी अवधारणाओं से अनुप्राणित होती हैं जैसी गेटे के मेसोनिक भजनों में व्यक्त हुई है, तो वे भी इसी प्रसंग में ध्यान देने योग्य होती हैं। वास्तव में चित्रकार, संगीतज्ञ और विचारक लोग भी कभी-कभी अपना एक संगठन बनाते हैं और विशेष उत्साह के साथ अपने सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति में आत्म समर्पण कर देते हैं। इस प्रवृत्ति को भी धार्मिक कहा जा सकता है। यह निर्णय करना कुछ कठिन होगा कि पैथागोरियन लोगों के संगठन को दार्शनिक मण्डल अथवा धार्मिक सम्प्रदाय कहा जाए। इसी तरह सामाजिक आदर्शों के प्रचार के लिए उत्सर्ग करने वाले लोगों और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बने संघों को भी इस प्रवृत्ति के कारण धार्मिक समझा जा सकता है, पर उनके उद्देश्य के अनुसार उन्हें धार्मिक वर्गीकरण में नहीं रखा जा सकता। कभी-कभी कुछ ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है, जैसे, ''अमेरिकी लोकतन्त्र एक धर्म के रूप में'' अथवा ''समाजवाद का धर्म''। इन सबसे यही ज्ञात होता है कि राजनीतिक अथवा सामाजिक आदर्शों का भी पूरे दिल से अनुशीलन किया जा सकता है और उन्हें जीवन का उच्च और सुन्दरतम स्वरूप समझा जा सकता है। फिर, शैक्षणिक और धर्मार्थ संस्थाओं की स्थापना मुख्यत: धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों द्वारा की जाती रही है, और ऐसी संस्थाओं को कभी-कभी विशेषत: धार्मिक समझा जाता है। इस तरह से यहाँ धार्मिक संस्थाओं से भाव व्यापक अर्थों में लेना चाहिए। कुछ विशेष संस्थाएँ मुश्किल से ही धार्मिक कहला सकती हैं, परन्तु धर्म उनके आन्तरिक रूप तथा उनके कार्यों में विशेष स्थान रखता है। इस तरह से दासवृत्ति को भी दिव्य बना दिया जा सकता है। अत: अब धर्म का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं के साथ देखना चाहिए।

## ● धर्म और समाज सेवा (Religion and Social Activities)

धर्म को मतों तथा गिरजाघरों की परिधि में बाँध देना तो स्पष्टत: उसे अत्यधिक संकुचित बना देना है। इसके वास्तविक रूप का दर्शन, शिक्षा अथवा धर्मार्थ कार्यों, राजनीतिक आदर्शों, कला और विज्ञान की सेवाओं तथा अन्य अनेक विधियों में होता है। परन्तु इसके अधिक विशेष दर्शन तो हमें सामाजिक दशा के सुधार के प्रयास में होंगे, और उसका अध्ययन अपने वर्तमान उद्देश्य के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व रखता है। विशेष रूप से संगठित समाजों में भी न्याय और समता के आदर्शों का पूर्ण साक्षात्कार कठिनाई से ही होता है। और जो मूलत: साम्य है वह सीमित और कठिनाइयों से घिरा हुआ है, जिन्हें दूर करना अथवा पूर्णत: समाप्त करना वांछनीय है। ये कारण उन समाजों के लिए अधिक सही रूप से लागू होते हैं जो अभी पूरी तरह से सुव्यवस्थित

नहीं हो सके। इन कठिनाइयों का समाधान तथा उनसे ऊपर उठाने का कार्य मानव जाति के हित में लगी शक्तियाँ करती रहती हैं। युद्धकाल में ऐसे प्रयासों का महत्व प्रत्यक्ष रूप में विशेष होता है परन्तु शान्तिकाल में भी उन्हें अनेक सेवा-कार्यों जैसे, अस्पताल, जेलखानों तथा गन्दे स्थानों आदि में निरन्तर अवसर मिलते रहते हैं। और इस तरह के कार्यों से पद, धन, सम्पत्ति, शिक्षा और अन्य परिस्थितियों के कारण व्यक्ति और वर्गों के मध्य के अन्तर अथवा खाई को पाटने का काम होता है। आधुनिक काल में विश्वविद्यालीय क्षेत्रों में इन बातों के विकास का अच्छा उदाहरण मिलता है। नि:सन्देह इन कार्यों का प्रत्यक्ष रूप से धर्म के मामलों में कोई हवाला नहीं दिया जाता। परन्तु यदि हम इस शब्द के व्यापक अर्थ में जाएँ तो ये कार्य धार्मिक भावना से प्रेरित होने चाहियें और वास्तव में अनेक धर्म-स्थान ऐसे कार्य करना अपना प्रमुख उद्देश्य समझते हैं। संभवत: उनके कार्य का यही पक्ष निश्चित रूप से अधिक विकसित एवं मान्य हुआ है। यह कार्य, चूँकि राज्य अथवा स्थानीय शासन के अन्तर्गत नहीं आता, अत: वैयक्तिक प्रयास होने के कारण पूरी तरह नहीं हो पाता। इसका मूल कारण अन्य अनेक कारणों की तरह मुख्यत: धर्म-स्थानों के आपसी संगठन का न होना ही है। परन्तु धर्म के मूल तत्वों की मान्यता के कारण संगठित प्रयासों की आशा की जा सकती है। इस प्रकार विचारों के मतभेद, जो लोगों के पृथक्-पृथक् चिन्तन, रूचि और संस्कारों पर आधारित होते हैं, संगठन के इस व्यावहारिक प्रयास को रोकने में समर्थ नहीं होंगे।

## ● Oeeefce&keâ meefn<Ceglee (Secularism)

धार्मिक सहिष्णुता, विचार-स्वातन्त्र्य और उसकी अभिव्यक्ति सामान्य समस्या का ही एक भाग है, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में भी कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं, उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। धर्म के सम्बन्ध में मतभेद का मतलब, यदि वह सच्चाई पर आधारित है, और वे धर्म के सम्बन्ध में ही हैं, उसकी अभिव्यक्ति और संगठन के सम्बन्ध में नहीं, तो उसका मतलब अनिवार्यत: जीवन-सम्बन्धी पूर्ण दृष्टिकोण के प्रति भिन्नता से है। इस तरह के मतभेद केवल विचार-सम्बन्धी ही नहीं व्यावहारिक भी होते हैं और उनसे गम्भीर संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उनसे अन्तर्राष्ट्रीय और गृह-युद्ध भी हो सकते हैं। और यदि इन मतभेदों से वास्तविक संघर्ष नहीं होता तो वे घृणा तथा विरोध उत्पन्न करते हैं। परन्तु जिस संस्था का उद्देश्य सामान्य जनता का हित हो, वह अपनी इच्छा से ऐसे मतभेद नहीं रख सकती। और मतभेद अथवा भिन्नता के प्रति यदि उपेक्षा की जाए तो मतभेद समाप्त हो जाते हैं। इस बात को इस प्रकार निपटाया जा सकता है कि हम उन कारणों पर विचार करें कि किनसे मतभेद पैदा होते हैं और किनसे नहीं। उदाहरण के लिए अनुष्ठानात्मक अथवा चर्च सरकार सम्बन्धी मतभेद यदि आधारभूत अन्तर से ही सम्बन्धित हैं, तो वे महत्वपूर्ण नहीं होते। राज्य के दृष्टिकोण से यदि सैद्धान्तिक मतभेद ही हों तो विशेष कठिनाई नहीं होती। कुछ कामों के करने के ढंग के गलत अथवा सही होने के अन्तर से भी कोई गंभीर समस्या पैदा नहीं होती। उदाहरण के लिए पशु-खाद्य के प्रयोग, चीरफाड़, नृत्य आदि देखना, खेल अथवा रंगमंच क्रियाएँ, शपथ-ग्रहण, पद के अनुसार विशेषता, शारीरिक अथवा अन्य दण्डों का प्रयोग, माता-पिता तथा बच्चों के पारस्परिक कर्तव्य, लैगिंक-साम्य अथवा वैषम्य आदि के भेद। यद्यपि ये सब बातें एक जैसी मानसिक दशा वालों के लिए गम्भीर भेद भी पैदा करती हैं, परन्तु मैत्रीपूर्ण संसर्ग के लिए यह भेद आवश्यक भी होते हैं, वैसे ये सहिष्णुता के मार्ग में कोई गंभीर समस्या भी खड़ी नहीं करते। इस प्रसंग में भी यह मान लेना सरल हो जाता है कि एक मनुष्य के लिए जो कुछ सही है वह दूसरे के लिए सही नहीं हो सकता, यद्यपि व्यावहारिक रूप से यह बात मान्य नहीं हो सकती। वास्तविक समस्या प्रमुख रूप से तब उत्पन्न होती है जब अधिकारों का दावा किया जाता है, अथवा एक व्यक्ति के कर्तव्य दूसरों के अधिकारों और आबन्धों में बाधक होते हैं अथवा वे राज्य की स्वतन्त्र सत्ता में हस्तक्षेप सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की भिन्नताओं अथवा मतभेदों पर बहुत दबाव न

दिया जाए तो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। इन कठिनाइयों से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न प्रकार के लोग अपने विभिन्न आचरण के लिए स्वतन्त्र हैं। किसी राज्य के लिए असह्य कठिनाइयाँ दो ही हो सकती हैं—एक असहिष्णुता और दूसरी उसके आधिपत्य अथवा अधीनता को स्वीकार न करना। और धर्म से उत्पन्न मतभेद में इनमें से एक अथवा दोनों बातें रहती हैं।

यह स्पष्ट है कि कोई भी राज्य असहिष्णुता को सहन नहीं कर सकता और न ही वह किसी के हस्तक्षेप का विरोध किये बिना रह सकता है। यदि हम यह चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे अधिकारों का आदर करें, तो उस अधिकार के साथ यह कर्तव्य भी जुड़ा रहता है, कि हम भी दूसरों के विचारों और अधिकारों का आदर करें। अपनी परम्पराओं में किसी का कितना ही दृढ़ विश्वास क्यों न हो, परन्तु उनमें सहिष्णुता आ ही नहीं सकती, क्योंकि परम्पराओं को दृढ़ करने वाली सभी क्रियाएँ दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन करती हैं। इसी तरह ऐसे किसी भी विश्वास को सहा नहीं जा सकता, जो दूसरों पर जबरदस्ती थोपा जाता है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब उस विचार को बहुत ही पवित्र बनाया जाए और कार्यरूप में तुरन्त परिणत न किया जा सके। ऐसी अवस्था में भी वे विश्वास तभी सह्य हो सकते हैं, जब किसी राज्य के अधिकारियों को आश्वस्त किया जाए कि इन विश्वासों को कभी भी कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता अथवा उन्हें यह विश्वास हो जाए कि यदि ये कार्यरूप में परिणत हो भी जाएँगे तो उन्हें सरलता से रोका भी जा सकेगा।

इसी तरह से राज्य की अधीनता स्वीकार न करने वालों को भी सहन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह तो उस सत्ता के प्रति अस्वीकृति है, जिस पर राज्य का अस्तित्व आधारित होता है। राज्य की सीमाओं में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-सत्ता मान्य होनी ही चाहिए। फिर ऐसी अवस्था में भी स्वतन्त्रता की कुछ सीमा होती है परन्तु जहाँ तक वह सह्य हो। यदि कुछ नागरिक किसी विशेष कानून अथवा किसी निर्णय को अनुचित समझते हैं, तो कभी उन्हें उनका उल्लंघन करने की अनुमति भी दी जा सकती है। पर यह इस शर्त पर ही संभव हो सकता है कि वे अन्य सभी कानूनों का पालन करने वाले हों और उनके इस एक कानून के उल्लंघन से हुकूमत पर कोई प्रभाव न पड़े। उदाहरण के लिए, युद्ध-काल में यदि कोई राज्य सेना में अनिवार्य भर्ती का नियम घोषित कर देता है और कुछ नागरिक इस तरह की सैन्य-सेवा के लिए इन्कार करते हों और यह इसलिए कि वे लोग किसी विशेष युद्ध को अनुचित समझते हों अथवा उनका यह विश्वास हो कि सभी युद्ध अनुचित होते हैं, तो उन्हें ऐसी सेवाओं से मुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि ऐसे लोगों की संख्या इतनी अधिक हो, कि उनकी मुक्ति युद्ध की सफलता में बाधक हो अथवा उनकी स्वतन्त्रता राज्य की सर्वोच्च-सत्ता के प्रति अपमान का विषय बनती हो, तो उन्हें छूट देना कठिन होता है। इसी तरह यह विचार किसी विशेष प्रकार के कर की अस्वीकृति में भी लागू किया जा सकता है, कि उसे लगाने का ध्येय अवांच्छनीय है, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि इस तरह की छूट केवल इस आधार पर कभी स्वीकार नहीं की जा सकती कि दावा करने वाले लोग अल्पमत के सदस्य हैं और उनके विचारों को दबा दिया गया है। यह छूट इस आधार पर मिल सकती है कि उससे किसी धार्मिक सिद्धान्त का उल्लंघन हो जाता हो, अर्थात् इस प्रकार से वह मूल में एक धार्मिक बात ही होती है। समस्या से सम्बन्धित कठिनाइयों को प्रकाश में लाने और उन्हें दूर करने के सम्बन्ध में कुछ सामान्य विचार रखना और इतना ही कहना पर्याप्त होगा क्योंकि यहाँ अधिक विस्तार से लिखना तो इस विषय से दूर जाना है।

## धर्म की विशेषताएँ (Characteristics of Religion)

धर्म की मौलिक विशेषताएँ निम्नलिखित प्रकार से हैं—

**(1) धर्म के दो पक्ष** (Two aspects of religion)—धर्म के दो पक्ष हैं—आन्तरिक पक्ष (Internal aspect) तथा बाह्य पक्ष (External aspect)। प्रथम पक्ष में विचारों का समूह, संवेग व भावनाएँ, धार्मिक प्रथाएँ तथा मानव के ईश्वर से सम्बन्धित कार्यों के सम्बन्ध में विश्वास आदि आन्तरिक बातें सम्मिलित होती हैं जबकि द्वितीय पक्ष में प्रार्थना की प्रथा धार्मिक उत्सव, स्मृतियाँ आदि आते हैं। इनके माध्यम से धार्मिक विश्वास की अभिव्यक्ति की जाती है। इसी में धार्मिक संस्थाएँ, जैसे—चर्च, मन्दिर, मस्जिद आदि भी आते हैं।

**(2) धर्म का आधार : विश्वास** (The base of religion : belief)—किसी मानवोपरि शक्ति में विश्वास करना धर्म की प्रमुख विशेषता है। वह शक्ति मानव शक्ति की उपेक्षा श्रेष्ठतर है। इस शक्ति में विश्वास न करने वाला व्यक्ति नास्तिक, अधार्मिक या धर्म विरोधी कहलाता है। धर्म को बाह्य आचरणों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। केवल विश्वास ही पर्याप्त नहीं होता। यह स्पष्ट करने का माध्यम भी अत्यावश्यक है कि किसी व्यक्ति में मानवोपरि शक्ति में विश्वास पाया जाता है। इस विश्वास का प्रदर्शन अनेक बाह्य क्रियाओं, जैसे—तीज-त्यौहार, धार्मिक उत्सव, धार्मिक मेले आदि से होता है।

**(3) धर्म : व्यक्तिगत व सामाजिक** (Religion : individualistic and social)—धर्म हमारे व्यक्तिगत अनुभवों से सम्बन्धित होने के साथ-साथ सामाजिकि अनुभवों से भी सम्बन्धित है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि धर्म एक सामाजिक वस्तु होते हुए भी व्यक्तिगत है। व्यक्ति की अनुभूति द्वारा उचित समझा, जाने वाला ही उसका धर्म है। यदि व्यक्ति यह विश्वास करे कि उसके अपने धर्म के स्थान पर किसी अन्य धर्म में अधिक श्रेष्ठता है तब तक उस धर्म को भी अपना सकता है तथापि धर्म एक सामाजिक वस्तु है।

**(4) पवित्रता की धारणा** (Idea of purity)—धर्म के साथ-साथ पवित्रता की धारणा भी सम्बद्ध होती है। धार्मिक विश्वासों, व स्थानों में पवित्रता का भाव निहित रहता है।

**(5) भय की धारणा** (Idea of fear)—धर्म में पवित्रता व आदर के साथ-साथ भय की भावना भी निहित रहती है। इसी भय की धारणा के कारण ही मनुष्य अनैतिक कार्य करने से डरता है और धर्म सामाजिक नियन्त्रण की भूमिका निभाता है।

**(6) धर्म : मानव समाज का सर्वश्रेष्ठ मूल्य** (Religion : the supreme value of human society)—पवित्रता, आदर, भय की अवधारणा, विश्वासों की अनुभूति के कारण धर्म मानव समाज का सर्वश्रेष्ठ मूल्य बन गया है।

**(7) सार्वभौमिकता** (Universality)—धर्म एक सार्वभौमिक संस्था है। आदिम मनुष्य से सभ्य मनुष्य तक धार्मिक विचार किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते रहे हैं। आदिमतम जनजातियों में भी 'आत्मा', 'माना', 'भूत-प्रेत' इत्यादि इस प्रकार की शक्तियों में विश्वास पाया जाता है जोकि इनमें धर्म की भावना की विद्यमानता की पुष्टि करता है।

**(8) मानव जीवन का नियन्त्रण व निर्देशन** (Control and direction of human life)—यह शक्ति प्राकृतिक व मानवीय जीवन को निर्देशित व नियन्त्रित करती है। इस शक्ति को मानवोपरि माने जाने के कारण इससे डरा भी जाता है। यह शक्ति एक सामाजिक शक्ति है।

**(9) पवित्र शक्ति** (Holy power)—धर्म की चीजें पवित्र मानी जाती हैं। मन्दिर, मस्जिद, मठ, शिवालय, गिरजाघर, रामायण, गीता, वेद, बाइबिल, कुरान आदि पुस्तकें पवित्र मानी जाती हैं।

## ● धर्म में विकसित ऐसी प्रवृत्तियाँ जो मानव व समाज की प्रगति में बाधक हैं (Tendencies Developed in Religion which binder the Progress of Man and Society)

धर्म में कतिपय ऐसी प्रवृत्तियाँ विकसित हो गयी हैं जो मानव व समाज की प्रगति में बाधक हैं—

**(1) रूढ़िवादिता** (Conservatism)—समाज प्रगतिशील है, जबकि धर्म रूढ़िवादी है। अत: समाज तो प्रगति के पथ पर आरूढ़ होने का प्रयास करता है, पर धर्म अपनी रूढ़िवादी प्रवृत्तियों से समाज की प्रगति में बाधायें उपस्थित करता है। धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध समाज में होने वाले परिवर्तन समाज में संघर्षों को जन्म देते हैं।

**(2) जटिलता** (Complexity)—आधुनिक धर्मों में जटिलता भी विकसित होती जा रही है। धर्म का स्थान बाह्य आडम्बर लेते जा रहे हैं। हम इन बाहरी आडम्बरों को ही वास्तविक धर्म समझ बैठते हैं।

**(3) संकीर्णता को प्रोत्साहन** (Narrow Mindedness Encouraged)—अपनी संकीर्ण प्रवृत्तियों के फैलाव से धर्म साम्प्रदायिकता के प्रसार का कारण बनता जा रहा है। समय-समय पर विभिन्न सम्प्रदायों में धर्म के नाम पर संघर्ष होते रहे हैं तथा मानवता का खून बहाया जाता रहा है।

**(4) कुरीतियों को प्रोत्साहन** (Evil Customs Encouraged)—धर्म के नाम पर आज भी समाज में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। बाल-विवाह, विधवा विवाह निषेध, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता आदि प्रवृत्तियों को धार्मिक संरक्षण प्राप्त है।

**(5) अन्धविश्वास** (Superstitions)—आधुनिक धर्मों में अन्धविश्वास की प्रवृत्ति भी व्याप्त है। धार्मिकता के नाम पर प्राचीन अनुचित परम्पराओं का पालन अनिवार्य सा है। बौद्धिक तर्क के लिये कोई स्थान नहीं।

**(6) भाग्यवादिता** (Fatalism)—धर्म मनुष्य को भाग्यवादी बनाकर उन्हें कार्यशील बनने से रोकता है। मनुष्य के प्रयत्नों पर भाग्य का विश्राम देकर पूर्ण विराम लगा देता है।

## ● धर्म का सामाजिक महत्व (Social Importance of Religion)

धर्म का प्रत्येक समाज में पाया जाना ही इसके सामाजिक महत्व को स्पष्ट करता है। धर्म का सामाजिक महत्व निम्नलिखित कार्यों से स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

**(1) धर्म जीवन का एक आधार होता है**—धर्म परम्पराओं को बनाये रखता है। धर्म व्यक्ति को ज्ञान कराता है कि जो परम्परायें चली आ रही हैं, वह जीवन के लिये महत्वपूर्ण हैं।

**(2) धर्म अध्यात्मवाद** (Spiritualism) **को बढ़ावा देता है**—धर्म में ऐसा विश्वास किया जाता है कि अधार्मिकता व्यक्ति पर संकट डालती है। इसके डर के कारण व्यक्ति अनुचित कार्य करने से डरता है।

**(3) धर्म हर समाज की संस्कृति का भाग होता है**—धर्म तथा संस्कृति में एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अर्थात् धर्म संस्कृति का एक अंग होता है। संस्कृति धर्म को निश्चित करती है।

**(4) धर्म नैतिकता का आधार होता है**—धर्म तथा नैतिकता में भी एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में धर्म ही नैतिकता का आधार है। किसी समाज की नैतिकता एवं संस्कृति धर्म पर आधारित होती है क्योंकि धर्म यह बताता है कि वह ही नैतिक है जो कि धार्मिक ग्रन्थों के अनुरूप है।

**(5) धर्म समाज में एकता बढ़ाता है**—प्राय: हर समाज में एक धर्म होता है। उस धर्म के मानने वाले सभी अपने आपको एक समझने लगते हैं जिससे एकता बढ़ती है। धार्मिक संस्कार व्यक्तियों को परस्पर नजदीक लाने में सहायता देते हैं।

**(6) धर्म जीवन के संघर्षों और दुखों का सहारा होता है**—धर्म मनुष्य को संघर्षों एवं कठिनाइयों में एक प्रेरणा देता है। जब व्यक्ति पर आपत्ति आती है तब वह धर्म का ही सहारा लेता है।

**(7) धर्म देशभक्ति को बढ़ावा देता है**—क्योंकि देश में एक धर्म प्रचलित होता है। एक देश के रहने वाले प्राय: एक ही धर्म को मानते हैं। एक-से ही उत्सव आदि होते हैं, इस हेतु एक जगह रहने वालों में एकता की भावना आ जाती है। धर्म के द्वारा ही समाज में एकता आती है। यह एकता देशभक्ति को बढ़ावा देती है।

**(8) धर्म सामाजिक नियन्त्रण का महत्वपूर्ण कारक है**—सामाजिक नियन्त्रण में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान होता है। लोग कानून से इतना नहीं डरते हैं जितना कि धर्म से, क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि धर्म की एक अपनी शक्ति होती है जिससे व्यक्ति को जीवन में सफलता मिलती है।

**(9) धर्म में जन-कल्याण की भावना होती है**—धर्म के नाम पर अनेक समितियाँ तथा संस्थायें बनती हैं जिनका उद्देश्य मानव कल्याण होता है।

**(10) धर्म भाई-चारा भी बढ़ाता है**—क्योंकि एक समाज में एक ही धर्म होता है। सभी व्यक्ति उसको मानते हैं। इस कारण सभी व्यक्तियों में एकता की भावना आ जाती है। धर्म के आधार पर ही मानवता को बढ़ावा मिलता है।

## ● धर्म की उपयोगिता (Utility of Religion)

प्राचीन काल से ही मानव जीवन के लिये धर्म की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

### ( क ) विभिन्न मत (Different Views)

**(1) भारतीय विचारकों के अनुसार धर्म की उपयोगिता** (Utility of Religion According to Indian Thinkers)—धर्म की उपयोगिता के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों का मत निम्न प्रकार हैं—

(i) धर्म मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

(ii) धर्म दु:खों से मुक्ति प्रदान कराता है।

(iii) यह आनन्द का स्रोत है। जो व्यक्ति धार्मिक नहीं है, वह त्याज्य है।

(iv) धर्म-हीन व्यक्ति खाते-पीते पशु के तुल्य है। पशु तथा मानव में धर्म का ही अन्तर है। मनुष्य में धर्म है, पशु में नहीं।

(v) धर्म ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है।

(vi) धर्म मनुष्य को वह संबल प्रदान करता है, जिससे मनुष्य अपने जीवन-मार्ग का निर्धारण करता है। इन विचारों को अपनाने के कारण किसी भी कार्य को करने के पूर्व निष्ठावान हिन्दू पूजा-पाठ अवश्य करता है। उसे धार्मिक अनुष्ठान के अभाव में सदैव ही अनिष्ट की आशंका बनी रहती है। हिन्दू धर्म में धार्मिक अनुष्ठान जन्म से प्रारम्भ होकर मरणोपरान्त चलते रहते हैं।

**(2) पाश्चात्य विचार के अनुसार धर्म की उपयोगिता** (Utility of Religion According to Western Thinkers)—पाश्चात्य विचारक **मैक्स-मूलर** का मत है कि, ''मनुष्य का इतिहास धर्म का इतिहास है।'' वस्तुत: धर्मशास्त्र अन्य किसी भी मानवीय शास्त्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा प्रभावशाली है। धर्म की उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये गये हैं—

(i) पाश्चात्य विचारकों के एक वर्ग का मत है कि मानव विकास के अध्ययन के अभाव में कोई भी अध्ययन अपूर्ण रहेगा।

(ii) **एडवर्ड** का मत है कि मनुष्य के इतिहास में कोई वस्तु इतनी अधिक प्रभावशाली नहीं है जो धर्म की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो।

(iii) **टालस्टाय** का मत है कि, ''मनुष्य अन्तत: सत्य से ही प्यार करता है और परम्पराओं के संसार को पीछे छोड़ देता है। जिस तरह दार्शनिक सत्य को ही उच्च आदर्श मानता है, उसी प्रकार सच्चे धर्म के पथिक के हृदय में परम सत्य के लिये ही प्रेम का सागर उमड़ता है। अतएव वास्तविक धर्म परम्पराओं का पालन ही नहीं वरन् परम सत्य की आराधना मात्र है, परम सत्य का अभिनन्दन है।''

### ( ख ) मानव जीवन के लिये धर्म की उपयोगिता (Utility of Religion For Human Life)

मानव जीवन के लिये धर्म की उपयोगिता का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है—

**(1) नैतिक दृष्टि से धर्म की उपयोगिता** (Utility of Religion from Moral Point of View)—नैतिक दृष्टि से धर्म का मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि नैतिकता धर्म का मूल है—

(i) प्रत्येक धर्म के नैतिक आचार-विचार मिश्रित हैं। इनके अभाव में धर्म की मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकती।

(ii) धर्म मानव जीवन को वह मार्ग दिखाता है जिस पर चलकर मनुष्य जीवन के अभीष्ट तक पहुँच सकता है। ईश्वर तक पहुँचने के लिये नैतिक आचार-विचार रूपी सोपानों का सहारा लिया जाता है।

(iii) सभी धर्म अपने नैतिक दृष्टिकोण के प्रति कट्टर होते हैं। धार्मिक कार्यों के प्रतिपादन में नैतिकता को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है।

(iv) नैतिकता धर्म से पृथक् वस्तु है पर प्राचीन काल में नैतिकता धर्म के अन्तर्गत ही आती थी। नैतिक व्यक्ति के लिये धार्मिक होना आवश्यक नहीं है। कोई व्यक्ति अनीश्वरवादी तथा धर्म विरोधी होकर भी नैतिक हो सकता है।

(v) नैतिकता की दृष्टि से धर्म अत्यधिक उपयोगी है। धर्म नैतिक दृष्टिकोण के प्रचार में सहायक होता है। धार्मिक आधार पर नैतिकता का पालन सरल होता है।

(vi) धर्म का प्रभाव व्यापक होता है। प्राय: साधु महात्मा के उपदेशों का मानव समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।

(vii) नैतिक दृष्टिकोण का विचार धर्म के द्वारा अधिक संयत ढंग से सम्भव है। राजाज्ञा तथा कानून, दण्ड के भय से समाज को नैतिक कार्य करने की ओर उन्मुख करता है, पर धार्मिक पुरुष सन्तगण अपनी रहस्यवादी तथा लोकोपकार के नि:स्वार्थ प्रयासों से नैतिकता का पालन करवाते हैं।

(viii) धर्म के आधार पर मनुष्य स्वेच्छा से कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का निर्णय करके बिना किसी दबाव के ही नैतिक नियमों का पालन करता है।

**(2) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म की उपयोगिता** (Utility of Religion from Psychological Point of View)—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म की उपयोगिता निर्विवाद है—

(i) मनुष्य में एक प्राचीन धारणा है कि धर्म विरोधी कार्य करने से ईश्वर क्रुद्ध हो जाता है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड देता है। इस प्रकार धर्म में भय की धारणा छिपी रहती है। उससे डर कर मनुष्य समाज विरोधी आचरण नहीं करता। किसी भी कार्य के करने से पूर्व वह उचित-अनुचित, पाप-पुण्य तथा शुभ-अशुभ का विचार लेता है।

(ii) धर्मों में स्वर्ग-नरक की अवधारणा का भी मानव मस्तिष्क पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

(iii) अच्छाई का परिणाम भला होता है, बुराई का परिणाम बुरा होता है, कार्य के अनुसार फल प्राप्त होगा, मनुष्य को इस जन्म के कार्यों का फल अगले जन्म में भोगना पड़ेगा, इस प्रकार की धार्मिक अवधारणाओं का मनोवैज्ञानिक प्रभाव ही मनुष्य को धर्म-भीरू बना देता है।

(iv) धर्म संस्कार मनोविज्ञान से सम्बन्धित है।

(v) धर्म द्वारा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाज को अनेक लाभ होते हैं। कतिपय लाभ निम्न प्रकार हैं—

**(a) दया भावना**—मनुष्य-मनुष्य के मध्य प्रेम, पीड़ितों के प्रति करुणा, सहानुभूति तथा दया का भाव उत्पन्न होता है।

**(b) उच्च आदर्श**—उच्च मानवीय आदर्शों को प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

**(c) विश्व-बन्धुत्व**—विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास होता है।

**(d) सुविकसित करना**—मानव जीवन सुव्यवस्थित होता है। वस्तुत: मानव चेतना के इतिहास में धर्म ने मानव जीवन को सुव्यवस्थित करने का जो प्रयास किया है, वह अन्य किसी संस्था ने नहीं किया।

**(e) मित्रता व सेवा भावना**—परस्पर मित्रता तथा सेवा की भावना विकसित होती है।

**(f) आन्तरिक शान्ति**—मनुष्य जब कभी अपने बाह्य परिवेश से ऊब जाता है तब आन्तरिक शान्ति प्राप्त करने के लिये धर्म की शरण में जाता है। उदाहरण के लिये, विश्व-शान्ति व करुणा तथा सहानुभूति का जितना व्यापक प्रचार बुद्ध की वाणियों द्वारा हुआ उतना अन्यत्र दिखलाई नहीं पड़ता है।

**(6) धर्म तथा प्रगति** (Religion and Progress)—धर्म तथा प्रगतिशीलता के मध्य सम्बन्ध विवादास्पद विषय है। अधिकांश प्रगतिशील विचारकों ने धर्म को कोई महत्व नहीं दिया है। धर्म को प्रगतिशीलता का विरोधी भी माना जाता है। धर्म प्राचीन रूढ़ियों तथा सरकारों का समर्थक है। इसके विपरीत प्रगतिशीलता वर्तमान भौतिक दृष्टिकोण की उत्पत्ति है।

**(7) सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से धर्म का महत्व** (Importance of Religion from the Point of View of Social Organization)—धर्म को सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण संस्था माना जाता है। समाजशास्त्री नाडेल ने धर्म के पहलू को सामाजिक परिवेश में रखा है। रेडक्लिफ ब्राउन का भी यही मत है उनके अनुसार धर्म समाज का अनन्य भाग है। इस क्षेत्र में धर्म की उपयोगिता निम्न प्रकार है—

**(i) निश्चितता**—सामाजिक जीवन को निश्चित रूप प्रदान करता है।

**(ii) समानता की भावना**—धर्म सामाजिक जीवन की एक दर्शनिक अनुभूति में बाँधकर व्यक्तियों में समानता की भावना का अभ्युदय करता है। धर्म ने पारिवारिक प्रेम व विश्वास की प्रगाढ़ता को धार्मिक स्वरूप प्रदान कर भारतीय हिन्दू समाज के पारिवारिक संगठन को स्थायित्व प्रदान किया है।

**(iii) सामाजिक नियन्त्रण**—धर्म सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख साधन है।

**(iv) व्यवहारों पर नियन्त्रण**—मनुष्य के व्यवहारों को धार्मिक पवित्रता तथा भय की अवधारण नियन्त्रित करती है।

**(v) सात्विकता को प्रोत्साहन**—धर्म मनुष्य को देशभक्त बनाता है तथा पारस्परिक भेदभावों का निवारण कर मनुष्यों में सात्विक प्रेम के बीज बोता है।

**(vi) सामाजिक विघटन से बचाव**—धर्म भ्रातृत्व व बन्धुत्व के भावों को प्रेरणात्मक स्फूर्ति प्रदान कर सामाजिक संगठन को विघटित होने से बचाता है।

**(vii) शान्तिप्रियता का विकास**—अशान्तिमय वातावरण का निवारण कर धर्म मानव में शान्तिप्रियता को विकसित कर युद्ध के अभिशाप से मानव की रक्षा करता है।

**(8) धर्म का सामाजिक या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से महत्व** (Importance of Religion from Social Point of View)—मानव समाज के लिये धर्म का महत्व निम्न तथ्यों से प्रकट होता है—

**(i) मस्तिष्क की चिन्ताओं का हल** (Solution of the Mental Worries)—धर्म उन व्यक्तियों के लिये एक प्रकार की शान्ति की अवस्था का निर्माण करता है, जो किसी प्रकार के कष्टों का सामना कर रहे होते हैं। जब मनुष्य कष्ट में होता है तो वह भगवान की शरण में आ जाता है और यहाँ उसे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। डॉ० जूँग, विएन (vienna) के एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक को अपने 35 साल के व्यवसाय में एक भी व्यक्ति नहीं मिला जिसने अपनी मानसिक चिन्ताओं को दूर करने के लिये धर्म को अन्तिम साधन के रूप में नहीं अपनाया हो।

**(ii) जीवन में निश्चितता लाना** (To Bring Certainty in Life)—विभिन्न सामाजिक प्रथाओं को स्वीकृति देकर धर्म जीवन को एक निश्चित ढाँचे में ढालता है। संस्कृति व पर्यावरण को दृढ़ता प्रदान करता है।

**(iii) सामाजिक व्यवहारों पर नियन्त्रण करना** (To Control Social Behaviours)—धर्म मानव के सामाजिक व्यवहारों पर नियन्त्रण करता है। धर्म बताता है कि कौन-सा कार्य करना चाहिये, कौन-सा नहीं। अनैतिक व बुरे कार्यों में धर्म मानव को रोकता है। व्यक्ति अलौकिक शक्ति पर भावात्मक रूप से निर्भर है। इस भावात्मक निर्भरता के परिणामस्वरूप वह अपने साथियों पर निर्भर रहता है और इस प्रकार समाज में पारस्परिक विश्वास, सहयोग, स्नेह और प्रेम उत्पन्न होते हैं।

**(iv) सभ्यता की ओर अग्रसर करना** (To Lead Towards Civilization)—**टायनबी, अरनोल्ड, डावसन** आदि के अनुसार धर्म सभ्यता का मुख्य तत्व है। **टायनबी** के अनुसार वर्तमान समाज में धर्म का जो महत्व कम होता जा रहा है तो उसे सभ्यता, सामाजिक, आध्यात्मिक जीवन तथा भौतिक अस्तित्व के लिए सबसे बड़ा खतरा समझना चाहिए।

**(5) विश्व में शान्ति के कारकों की सहायता** (To Help the Factors of Peace in the World)—धर्म युद्ध के विरुद्ध है। धर्म युद्ध के तत्वों को नष्ट कर प्रत्येक समस्या के शान्तिपूर्वक समाधान पर बल देता है। धर्म मानव जीवन की रक्षा चाहता है तथा मनुष्यों को विश्व में नैतिक कार्यों के माध्यम से सुख, शान्ति व समृद्धि लाने को प्रेरित करता है।

**(6) स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय का पोषक** (Supporter of Liberty, Equality and Justice)—धर्म विश्व के प्राणियों की स्वतन्त्रता का समर्थक है। यह सबके प्रति न्याय की कामना करता है। जो व्यक्ति अच्छे कार्य करेंगे उन्हें अच्छा प्रतिफल मिलेगा तथा बुरे कार्य के लिये वे दण्ड के भागी होंगे। धर्म में सभी मनुष्य समान हैं। सभी व्यक्ति, अमीर या गरीब, उच्च सामाजिक स्थिति का या निम्न, धर्म की दृष्टि से सब समान हैं।

**(7) मनुष्य-मनुष्य में घनिष्ठ सम्बन्धों का संस्थापक** (Founder of Close Relations among Human Beings)—धर्म मानव-मानव के सम्बन्धों को घनिष्ठतम बनाता है। उनमें भ्रातृत्व व बन्धुत्व की भावना से एकता की प्रेरणा देता है। धार्मिक उत्सवों के अवसर पर लोग परस्पर मिलते हैं। इस प्रकार उनमें परस्पर सम्पर्क बढ़ता है व सम्बन्धों में घनिष्ठता आती है।

## ● धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता ( हानियाँ )
## [Social Unusefulness (Demerits) of Religion]

धर्म के एक संस्था होने का कारण इसका विशेष लक्षण स्थायित्व है। धर्म में परिवर्तन तो अवश्य होते हैं, लेकिन इतनी मंद गति से कि वह बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक तथा भौतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन तथा अनुरूपता स्थापित नहीं रख पाता।

स्थायित्व के कारण प्रत्येक संस्था में निहित कुछ स्वार्थ विकसित तथा स्थापित हो जाते हैं। **प्रो० डेविस** (K. Davis) ने उचित ही लिखा है कि "जिस प्रकार अनेक औषधियाँ कभी-कभी हमारे उस रोग को बढ़ा भी देती हैं जिससे छुटकारा पाने के लिए उनका उपयोग किया गया था, उसी प्रकार धर्म कभी-कभी लाभ लेने के स्थान पर अनेक मानसिक रोगों तथा सामाजिक समस्याओं में भी वृद्धि करता है।"

धर्म निम्नलिखित दृष्टि से हानिप्रद भी है—

**(1) धर्म समाज के लिए अफीम है**—मार्क्स धर्म को समाज के लिए अफीम मानते हैं, एक आध्यात्मिक शराब मानते हैं जिसका प्रयोग पूँजीपति अपनी स्थिति को सुधारने के लिए क्रांति कर रहे श्रमिकों के लिए करते हैं, उन्हें धर्म के नाम पर मदहोश और बेहोश करते हैं, मीठी नींद में सुलाते हैं जिससे कि वे क्रांति न कर सकें। मार्क्स के अनुसार धर्म एक व्यर्थ की वस्तु है, मानव की प्रगति में रोड़ा है, ईश्वर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, भाग्य, कर्म-फल, पुनर्जन्म आदि धर्म से संबंधित अवधारणाएँ लोगों को अपने सांसारिक कष्टों के प्रति उदासीन बना देती हैं, धर्म से प्रेरित व्यक्ति यथा-स्थिति को सब कुछ ईश्वर की मर्जी समझकर स्वीकार कर लेता है। इसलिए धर्म व्यक्ति को प्रगति की प्रेरणा नहीं देता। यह सामाजिक परिवर्तन के चक्र को रोकता है।

**(2) धर्म सामाजिक प्रगति में बाधक**—धर्म की प्रकृति रूढ़िवादी है। धर्म आज तक अपने अनुयायियों को हजारों वर्ष पुरानी मान्यताओं, कर्म-कांडों व विधि-विधानों में बाँधे हुए है। बदलती हुई परिस्थितियों के

साथ धर्म की आचार-संहिता में कोई खास परिवर्तन नहीं होता और साथ-ही-साथ वह नवीन विचारधाराओं व सिद्धान्तों का भी विरोधी है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति को आगे की ओर नहीं, वरन् पीछे की ओर धकेलता है। इसीलिए तो समाज में आज तक कई कुरीतियाँ ज्यों-की-त्यों विद्यमान हैं क्योंकि धर्म का वरदहस्त उन्हें प्राप्त है।

**(3) सामाजिक समस्याओं में वृद्धि**—धर्म-वस्तुस्थिति बनाए रखने का समर्थक है। जैसी स्थिति है वैसी ही बनी रहे, धर्म इस बात का सदैव समर्थन करता है। वस्तु-स्थिति बनाए रखना समाज के लिए लाभदायक है अथवा हानिकारक, इस बात से धर्म का कोई संबंध नहीं है। इसीलिए धर्म के ठेकेदारों, पंडों, पुजारियों आदि ने धर्म की आड़ में कई कुरीतियों को संरक्षण प्रदान किया। ब्राह्मणों ने समाज में अपने आप को श्रेष्ठ घोषित कर अन्य वर्णों का शोषण किया। यद्यपि बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध आदि समस्याओं के निवारण हेतु सरकार ने कई कानून बनाए, परन्तु अंधविश्वासी लोग धार्मिक नियमों की अपेक्षा सरकारी कानूनों की अवहेलना करना अधिक उचित समझते हैं।

**(4) तनाव, भेद-भाव एवं संघर्ष के लिए उत्तरदायी**—प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकार विभिन्न धर्मावलंबी एक-दूसरे को हीन समझते हैं और धर्म के कारण उनमें आपस में गहरी खाई बन जाती है। यह धार्मिक खाई सामाजिक एकता पर कुठाराघात करती है। समय-समय पर विभिन्न सांप्रदायिक दंगे होते हैं जिनसे समाज में तनाव एवं संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धर्म के नाम पर, मानव, मानव से भेदभाव, छुआछूत व पक्षपात करता है।

**(5) विज्ञान विरोधी**—धर्म का आधार अलौकिक शक्ति पर विश्वास है, जबकि विज्ञान का आधार निरीक्षण एवं प्रयोग है। इस प्रकार इन दोनों का मेल कदापि नहीं हो सकता। विज्ञान अपनी नयी-नयी खोजों व तर्क के आधार पर पुरानी चली आ रही मान्यताओं पर प्रहार करता है, जैसे हिन्दू धर्म में चन्द्रमा को देवता माना जाता है, परंतु वैज्ञानिकों ने चंद्रमा पर अपने कदम रखकर यह सिद्ध कर दिया कि चन्द्रमा भी पृथ्वी की भाँति एक ग्रह है जहाँ मिट्टी, पहाड़ आदि सब कुछ हैं। इस प्रकार धर्म हमें विज्ञान से दूर ले जाता है, जबकि विज्ञान अपने आविष्कारों के द्वारा तर्क के आधार पर धार्मिक विचारधाराओं को झुठलाता है।

**(6) समय के साथ परिवर्तन में अक्षम**—धर्म बदलती हुई परिस्थितियों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने में असमर्थ है। इस कारण धर्म हमारे व्यावहारिक जीवन में अधिक साथ नहीं दे पाता है। क्योंकि नवीन परिस्थितियों के साथ-साथ मानव की इच्छाएँ, आवश्यकताएँ आदर्शों तथा लक्ष्यों में भी परिवर्तन हो जाता है, अत: धर्म हमारे लिए उपयोगी नहीं रह पाता। इसीलिए कई महत्त्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अनेक समाजसेवी संस्थाओं ने ले लिया तथा धर्म-प्रधान शिक्षा के स्थान पर अब धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का महत्त्व बढ़ने लगा है।

**(7) अकर्मण्यता को जन्म देता है**—धर्म व्यक्ति को अकर्मण्य भी बनाता है। एक तरफ तो समाज का एक बड़ा भाग बिना किसी परिश्रम के अर्थात् पण्डे, पुजारी आदि ईश्वर के नाम पर अपनी आजीविका कमाकर जीवनयापन करते हैं तो दूसरी तरफ ऐसे विश्वासों का प्रचार है कि 'जिसने चोंच दी है वह चुग्गा भी देगा', व्यक्ति को निष्क्रिय बनाते हैं। व्यक्ति धार्मिक विश्वासों के आधार पर ही बिना कर्म किए अधिक-से-अधिक प्राप्त करने की कामना रखता है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा आभास होता है कि शायद विज्ञान की प्रगति व समय के झंझावातों से धर्म रूपी महान् अट्टालिका एक दिन धराशायी हो जाएगी और धर्म का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, परंतु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि मानव केवल यंत्र चालित मशीन है जो केवल तर्कों के आधार पर ही संचालित होता है, परंतु इसके विपरीत मानव भय, प्रेम, घृणा, उत्साह, दु:ख आदि कोमल भावनाओं का एक पुलिंदा भी है। इन सब

भावनाओं का आधार मात्र तर्क ही नहीं है। यदि धर्म के अतार्किक पक्ष को जो आधुनिक समाज में निराधार है तथा धर्म में व्याप्त असंगतियों व कुप्रथाओं को समाप्त कर उसे एक ठोस व तार्किक आधार प्रदान करें तो धर्म हमारे जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इसके साथ-ही-साथ यदि सभी धर्म एकाकार हो जाएँ तथा केवल एक समूह अथवा संप्रदाय तक सीमित न रहकर उदार दृष्टिकोण अपनाएँ तो संपूर्ण मानव समाज का कल्याण संभव हो सकेगा। इस प्रकार धर्म का यह नया रूप यंत्रवत् मानव जीवन में तपते हुए रेगिस्तान में वर्षा की सुखद बौछारों द्वारा प्राप्त शीतलता के समान सिद्ध होगा। अत: धर्म के सामने अब एक चुनौती है कि या तो वह अपने अतार्किक चोले को उतार फेंके व मानव कल्याण का नया चोला धारण करे अथवा समाप्त होने को तत्पर रहे।

## ● धर्म के विविध स्वरूप (Various Forms of Dharma)

हिन्दू धर्म के तीन प्रमुख स्वरूप माने गये हैं जो इस प्रकार हैं—

### ( क ) सामान्य धर्म (Samanya Dharma)

सामान्य धर्म को मानव धर्म भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत वे नैतिक नियम आते हैं जिनके अनुसार आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति का परम दायित्व है। इस धर्म का लक्ष्य मानव मात्र में सद्गुणों का विकास और उसकी श्रेष्ठता को जाग्रत करना है। यह वह धर्म है जो प्रत्येक के लिए अनुसरणीय है। चाहे बालक हों या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, गरीब हो या अमीर, सवर्ण हो या अवर्ण, राजा हो या प्रजा, सबके लिए सामान्य धर्म का पालन करना आवश्यक कर्तव्य है। **श्रीमद्भागवत्** में सामान्य धर्म के ये तीस लक्षण बतलाये गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, कष्ट सहने की क्षमता, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, सभी के लिए समान दृष्टि, सेवा, उदासीनता, मौन, आत्म चिन्तन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य को देखना और उन्हें अन्न देना, महापुरुषों का संग, ईश्वर का गुण-गान, ईश्वर-चिन्तन, ईश्वर-सेवा, पूजा और यज्ञों का निर्वाह, ईश्वर के प्रति दास्य-भाव, ईश्वर वन्दना, सखा-भाव, ईश्वर को आत्म-समर्पण। धर्म के ये लक्षण सामान्यत: सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं। ये ऐसे लक्षण हैं जो व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास में योग देते हैं जो व्यक्ति को दायित्व-निर्वाह की ओर अग्रसर करते हैं, तथा अध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है—

*धृति: क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।*

*धीर्विद्या सत्यमक्रोधी दशमं धर्मलक्षणम्।।*

ये दस लक्षण हैं—

(1) धृति अर्थात् अपनी जीभ या जननेन्द्रियों पर संयम रखना,

(2) क्षमा अर्थात् शक्तिशाली होते हुए भी क्षमाशील होना, उदार कार्य करना, दूसरों को क्षमा कर देना,

(3) काम एवं लोभ पर नियन्त्रण अर्थात् शारीरिक वासनाओं पर संयम रखना,

(4) अस्तेय अर्थात् सोये हुए, पागल या अविवेकी व्यक्ति से विविध तरीकों द्वारा कपट करके कोई वस्तु न लेना,

(5) शुचिता अर्थात् पवित्रता अपने मन, जीवात्मा और बुद्धि को पवित्र रखना,

(6) इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना,

(7) धी का तात्पर्य बुद्धि के समुचित विकास से है, किसी वस्तु के गुण-दोष की विवेचना शक्ति से है,

(8) विद्या वह है जो व्यक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि क्षुद्र वृत्तियों से मुक्त करती है और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थों को समझाकर तदनुरूप आचरण योग्य बनाती है,

(9) सत्य,

(10) अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना।

सामान्य धर्म के उपर्युक्त लक्षण मानव मात्र के विकास में योग देते हैं। इन गुणों को अपने आप में विकसित करने की प्रत्येक मानव से अपेक्षा की जाती है।

### ( ख ) विशिष्ट धर्म (Vishistha Dharma)

विशिष्ट धर्म को **'स्वधर्म'** भी कहा गया है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वे कर्तव्य आते हैं जिनका समय, परिस्थिति और स्थान विशेष को ध्यान में रखते हुए पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण व शूद्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, माता-पिता और पुत्र सभी के लिए अलग-अलग कर्तव्यों के निर्वाह की बात कही गई है।

**विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, युग धर्म, मित्र धर्म, गुरु धर्म, आदि** आते हैं। इन सभी का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे—

**(1) आश्रम धर्म**—हिन्दू शास्त्रकारों ने व्यक्ति के जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया है जिन्हें **ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम** और **संन्यास आश्रम** कहा गया है। ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में सादा जीवन व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन, अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा मानवोचित गुणों से अपने को विभूषित करता था। धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति गृहस्थ के परम कर्तव्य थे। वह पंच महायज्ञों के द्वारा अन्य लोगों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता था और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा समाज की निरन्तरता में योग देता था। वानप्रस्थी निष्काम भाव से धर्म-संचय और मानव कल्याण के लिए अपने आपको लगा देता था। वह सम्पत्ति, परिवार और संसार का मोह त्याग कर जंगल में कुटिया बनाकर रहता था तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्य आश्रमों के लोगों का मार्ग-दर्शन करता था। संन्यासी का धर्म संसार का पूर्णतया त्याग करके अपने आपको परम सत्य की खोज में लगाना, ईश्वर में लीन करना और मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना था।

**(2) वर्ण धर्म**—वर्ण-धर्म के अन्तर्गत चारों वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—प्रत्येक के अलग-अलग कर्तव्य बतलाये गये हैं। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ और धार्मिक कार्यों की व्यवस्था करना, आदि है; क्षत्रिय का जीवन व सम्पत्ति की रक्षा, युद्ध और प्रशासन है, वैश्य का कृषि, उद्योग एवं व्यवसाय से धनोपार्जन और विभिन्न वर्णों की आवश्यकताओं की पूर्ति और शूद्र का उपयुक्त तीनों वर्णों की मन, वचन व कर्म से सेवा करना है।

**(3) कुल धर्म**—कुल धर्म का लक्ष्य पारिवारिक संगठन को बनाये रखना, कुल परम्पराओं की रक्षा और विभिन्न संस्कारों को पूर्ण करना है। परिवार के सदस्य के रूप में व्यक्ति के अन्य सदस्यों के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं। पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, माता-पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता-पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति कुछ कर्तव्य, कुछ धर्म होता है। परिवार में प्रत्येक सदस्य से उसकी विशिष्ट प्रस्थिति और आयु के अनुसार व्यवहार करने की आशा की जाती है।

**(4) राज धर्म**—राज धर्म के अन्तर्गत राजा या शासक के प्रजा के प्रति कुछ कर्तव्य आते हैं जिनका पालन करना उसके लिए जनहित की दृष्टि से आवश्यक है। राजा का धर्म है कि वह राजोचित व्यवहारों का

पालन करे अर्थात् उसे दृढ़-प्रतिज्ञ होना चाहिए, अपने कर्मचारियों के पोषण की समुचित व्यवस्था, योद्धाओं का आदर-सत्कार करना एवं उद्देश्य प्राप्ति के लिए कुटिल नीति का प्रयोग कर लेना चाहिए।

**(5) युग धर्म**—युग धर्म को काल के धर्म के नाम से भी पुकारते हैं। हिन्दू शास्त्रकार इस तथ्य से परिचित थे कि समय परिवर्तन के साथ-साथ शक्ति के कर्तव्यों में परिवर्तन आना भी आवश्यक है। जो धर्म स्थिर हो जाता है, जिसमें गति नहीं रहती, वह मनुष्य के व्यवहारों को अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर पाता और विघटित होने लगता है। मनुस्मृति, पाराशर स्मृति और पद्मपुराण में युग धर्म की चर्चा की गयी है। अलग-अलग व्यक्ति के अलग-अलग कर्तव्य बताये गये हैं। प्रत्येक युग में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नैतिक संहिताओं में परिवर्तन लाना आवश्यक होता है।

**(6) मित्र धर्म**—मित्र धर्म के अन्तर्गत एक मित्र के दूसरे मित्र के प्रति कर्तव्य आते हैं, जो दोनों पक्षों के लिए समान रूप से मान्य होते हैं। मित्र और मित्र में आयु, धन और पद के आधार पर किसी प्रकार का कोई भेद नहीं किया जाता। एक मित्र का अपने मित्र के प्रति यह कर्तव्य है कि वह सुख-दुख में उसका साथ दे; कर्तव्य का पालन करने के लिए उसे प्रेरित करे; मन, कर्म और वचन से उसकी रक्षा करे और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए सब प्रकार का त्याग करने के लिए तत्पर रहे।

**(7) गुरु धर्म**—हिन्दू समाज में गुरु को बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है, परन्तु साथ ही उसके कुछ कर्तव्य (धर्म) भी बतलाये गये हैं : उसे सदैव अपने शिष्यों की हित कामना, लोभ एवं दम्भ से दूर रहना तथा अहिंसा और त्याग भावना से ज्ञान का प्रसार करना चाहिए।

### सामान्य तथा विशिष्ट धर्म में अन्तर (Distinction between Samanya and Vishistha Dharma)

सामान्य और विशिष्ट धर्म में कुछ अन्तर पाये जाते हैं—

(1) सामान्य धर्म का क्षेत्र व्यापक है जबकि विशिष्ट धर्म का क्षेत्र अपेक्षाकृत रूप में सीमित। इसी कारण सामान्य धर्म को 'मानव धर्म' भी कहा गया है।

(2) सामान्य धर्म का सम्बन्ध प्रमुखत: ईश्वर प्राप्ति के साथ जबकि विशिष्ट धर्म का सम्बन्ध लौकिक और व्यावहारिक जीवन के साथ।

(3) ईश्वरीय विश्वास तथा देवी-देवताओं की पूजा सामान्य धर्म के अन्तर्गत और कर्तव्य पालन विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

(4) सामान्य धर्म सम्पूर्ण समाज के कल्याण से सम्बन्धित है जबकि विशिष्ट धर्म अन्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में दायित्व निर्वाह से।

(5) सामान्य धर्म का प्रमुख लक्ष्य मानवीय गुणों के विकास से है और विशिष्ट धर्म का लक्ष्य विभिन्न व्यक्तियों और समूहों में सामंजस्य तथा समाज में संगठन बनाये रखने से।

(6) यदि सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म के आदेशों में कहीं टकराव की स्थिति पैदा हो जाये तो व्यक्ति से विशिष्ट धर्म के अनुरूप आचरण करने की आशा की गयी है।

(7) सामान्य धर्म के नियम स्थिर हैं जबकि विशिष्ट धर्म के नियम समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की छूट भी देते हैं।

(8) सामान्य धर्म की प्रकृति समूहवादी है जबकि विशिष्ट धर्म की व्यक्तिवादी।

### (ग) आपद्धर्म (Apat Dharma)

आपद्धर्म का तात्पर्य यह है कि आपत्तिकाल में या संकट के समय व्यक्ति को अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेना चाहिए। रोग, शोक, विपत्ति और धर्म-संकट की स्थिति में व्यक्ति को कर्तव्य-नियमों में कुछ छूट दी गयी है, अपवाद की अनुमति प्रदान की गयी है। यह परिस्थिति विशेष से

सम्बन्धित अस्थायी धर्म है। जब व्यक्ति के कर्तव्यों की दृष्टि से दो धर्मों के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो जाये तो अधिक महत्वपूर्ण धर्म या दायित्व के निर्वाह के लिए दूसरे धर्म के नियमों को कुछ समय के लिए छोड़ देना आपद्धर्म है। आपद्धर्म के नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने प्राणों की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार का आचरण करने की स्वीकृति दी गयी है। उदाहरण के रूप में, 'कल्याण' के हिन्दू संस्कृति विशेषांक में एक ऋषि का वर्णन मिलता है जो अकाल के कारण भूख से पीड़ित और मरणासन्न स्थिति में थे। इस स्थिति में अपने वर्ण धर्म पालन की बजाय अपने प्राणों की रक्षा करना उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण था। अत: उन्होंने एक शूद्र से झूठे उड़द लेकर खा लिये। धर्मानुकूल जीने के लिए यह आवश्यक है कि पहले जीवित रहा जाये। आपत्तिकाल में धर्म की रक्षा के लिए झूठ बोलने तक की आज्ञा है। केवल असामान्य परिस्थितियों में ही आपद्धर्म का सहारा लेने की स्वीकृति प्रदान की गयी है।

## ● धर्म का मार्क्सवादी विचार (Marxist thought of Religion)

कार्ल मार्क्स के अनुसार धर्म अन्य सामाजिक संस्थाओं की तरह ही है जो किसी दिये हुए समाज की भौतिक तथा आर्थिक वास्तविकता पर निर्भर करता है। इसलिये धर्म को अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं तथा समाज की आर्थिक संरचना के सम्बन्ध में ही समझा जा सकता है क्योंकि यही उत्पादन शक्ति का निर्माता है। उनके अनुसार धार्मिक संसार वास्तविक संसार का परावर्तन है। उनकी धर्म की व्याख्या प्रकार्यात्मक कही जा सकती है क्योंकि उनका उद्देश्य धर्म के सामाजिक लक्ष्य से था न कि धार्मिक सिद्धान्त अथवा उसी रूप में धार्मिक विश्वास।

मार्क्स के अनुसार धर्म एक भ्रम है जो समाज को ज्यों का त्यों बने रहने का कारण तथा छूट प्रदान करता है। उसके लिये धर्म अतार्किक, विरोधी तथा पाखंडी है। धर्म अतार्किक है क्योंकि यह भ्रांति तथा दिखावे की पूजा है जो छिपी हुई वास्तविकता की पहचान को अनदेखा करती है। यह लोगों को उनके उच्च आदर्शों तथा इच्छाओं से विचलित करता है तथा उन्हें एक अजनबी, जिसे ईश्वर कहते हैं जिसे जाना नहीं जा सकता है, से जोड़ता है। एक मानव में जो भी सम्मानजनक है उसे अस्वीकार करने के लिये प्रस्तुत दशा को मानने के लिये उन्हें दासवत तथा प्रभाव्य बनाता है; एक दबी हुई प्रस्थिति दिलाता है। यह पाखंडी है हालांकि यह मूल्यवान नियम देता है, परन्तु शोषकों का पक्ष करता है। ईसा ने गरीबों की मदद के लिये कहा परन्तु ईसाई गिरजाघर दमनकारी रोम के राज्य से मिल गये तथा कई शताब्दियों तक लोगों को दास बनाते रहे। मध्य युग में कैथोलिक गिरजाघर स्वर्ग के बारे में बताते थे, परन्तु उन्होंने उतनी सम्पत्ति व शक्ति प्राप्त कर ली जितनी अधिकतम सम्भव थी।

मार्क्स यह विश्वास करते थे कि लोगों की वास्तविक खुशी के लिये भ्रमात्मक खुशी आवश्यक है तथ धर्म का उन्मूलन आवश्यक है। परिस्थितियों के बारे में भ्रम को छोड़ने की माँग परिस्थितियों को छोड़ने की माँग है जिसके लिये भ्रम आवश्यक है। धर्म किस प्रकार भ्रम का कार्य करता है तथा वे कौन-सी सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जिनके लिये भ्रम आवश्यक है?

मार्क्स कहते हैं कि धर्म गरीबों के लिये भ्रमित कल्पनायें बनाता है। गरीब पर शासकीय वर्ग द्वारा प्रभाव जमाया जाता है तथा शासन किया जाता है तथा शासकीय वर्ग ही उत्पादन की शक्ति पर स्वामित्व रखता है। आर्थिक वास्तविकतायें जो उन्हें दबाये रखती हैं, उन्हें जीवन की वास्तविक खुशियों को खोजने से रोक देती है। धर्म उन्हें भ्रम देता है कि यह ठीक है और सत्य है क्योंकि वे अगले जीवन में वास्तविक खुशी पा लेंगे। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में लोग कष्ट में हैं तथा धर्म उन्हें ढांढस प्रदान करता है। इस प्रकार मार्क्स कहते हैं कि धर्म वास्तविक सामाजिक सच्चाई को मुखौटा पहना देता है, अस्थाई आराम देता है, उसी तरह जैसे भौतिक रूप से

घायल व्यक्ति को अफीम युक्त दवा आराम देती है। यहाँ मार्क्स ने धर्म की तुलना अफीम-शामक औषधि से की है।

एक शामक कुछ समय के लिये दर्द भूलने में मदद करता है, वह भौतिक घाव को भरने में असफल है। दर्द पूरी तरह तभी ठीक हो पायेगा जब उसके कारण का निदान किया जायेगा। इसी प्रकार धर्म लोगों के दर्द और कष्ट के कारण को जान कर उपाय नहीं करता—वरन् वह उनकी मदद यह भूलने में करता है कि वे क्यों कष्ट में हैं तथा उन्हें काल्पनिक भविष्य की तरफ देखने के योग्य बनाता है तथा सामाजिक व्यवस्था को वर्तमान स्वरूप में मानने में मदद देता है। इस प्रकार यह परिस्थितियों को बदलने से रोक देता है। मार्क्स के अनुसार सबसे बुरा यह है कि यह ''अफीम का द्रव्य'' है अर्थात् धर्म शोषण करने वालों के द्वारा लागू किया जाता है जो दर्द तथा कष्ट के अथवा वास्तविक शोषण के उत्तरदायी हैं।

मार्क्स के अनुसार धर्म आधारभूत दुखों की अभिव्यक्ति है तथा आधारभूत एवं दबी हुई आर्थिक सच्चाइयों का लक्षण है। वह आशा करता है कि मानव एक समाज का निर्माण करेगा जिसमें इतना दर्द और कष्ट देने वाली आर्थिक परिस्थितियाँ उखाड़ फेंकी जायेंगी और, इसलिये, शामक दवायें जैसे धर्म की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। दूसरे शब्दों में मार्क्स की आशा है कि समाजवादी साम्यवादी अन्तिम समाज में एक समूह का दूसरे पर दबाव नहीं होगा इसलिये किसी भ्रमित खुशी की आवश्यकता नहीं होगी तथा इसीलिये किसी धार्मिक सिद्धान्त की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

मार्क्स यह विश्वास करते हैं कि धार्मिक विश्वास किसी समाज में तभी तक बने रहते हैं जब तक लोग अपने हितों के प्रति जागरूक नहीं होते। लोग यह नहीं जानते कि धर्म शासकीय वर्ग के हितों को पूरा करता है। यह इसलिये है क्योंकि लोगों का समाजीकरण ही इस प्रकार किया जाता है कि वे जो जानते हैं उसी को सत्य मान लेते हैं। मार्क्स कहते हैं कि धर्म लोगों में विश्वासों के उस संकलन को भर देता है जो उनके हितों के विपरीत है तथा शासकीय वर्ग के हितों के अनुकूल है। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में मार्क्स ने सुझाया कि नैतिकता तथा दर्शन की तरह धर्म का भी उन्मूलन करना चाहिये यदि हमें नये राजनीतिक तथा आर्थिक अस्तित्व को प्राप्त करना है। उसने तथा एन्जल ने लिखा है ''साम्यवाद सभी धर्मों तथा सभी नैतिकताओं के बजाय उन्हें नये आधार पर बनाने का अनुमोदन करता है।'' इसका कारण वे ऐतिहासिक साक्ष्य हैं जो उत्पादन व्यवस्था में पहले हुए परिवर्तन को देखे बिना सदा ही शोषण करने वाले और शोषित होने वाले व्यवस्था की वैधता बनाये रखने को धर्म सहमति देता है। इस प्रकार एक सत्य स्वतंत्र समाज बनाने के लिये धर्म को अतीत के बन्धन की तरह हटा देना चाहिये।

इस प्रकार हमने देखा कि धर्म सामाजिक सच्चाई पर एक भ्रमित मुखौटे के समान तथा सामाजिक अन्याय की चिरस्थाई बनाने का कार्य करता है। धर्म किस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर शोषण तथा अत्याचार की सामाजिक सच्चाई को मुखौटा पहनाता है; ये मुख्यत: धार्मिक उपदेशों के आंतरिकृत करने से होता है।

### धर्म दमन का एक उपकरण (Religion as tool of Suppression)

मार्क्स के विचारों में धर्म दमन के दर्द में आराम देता है तथा साथ-साथ दमन का उपकरण भी है। यह दमन के दर्द को हल्का करता है उदाहरण के लिये, ईसाई धर्म में मृत्यु के बाद के जीवन में चिरस्थायी परम सुख सहित स्वर्ग का वादा करता है। ईसाई धर्म की दबे हुए वर्ग के लिये अपील उनके बन्धनों तथा कष्टों से बाद के जीवन में मोक्ष के वादे में हैं। ईसाईयों की स्वर्ग की दूरदृष्टि धरती पर जीवन को अधिक सहनीय बना देती है क्योंकि वह लोगों को आगे देखने की प्रेरणा देती है। दमन द्वारा दिये गये दुखों को धर्म एक सद्गुण बना देता है। वे यह सिखाते हैं कि जो गरीबी के कारण वंचित रहने को गौरव तथा विनम्रता के साथ सह लेगा वह

बाद के जीवन में इस गुण का पुरस्कार पायेगा, इस प्रकार गरीबी को अधिक सहनीय बना देता है। दमन को संतुष्ट करने का धर्म का एक दूसरा तरीका धरती की समस्याएँ सुलझाने का अलौकिक बाधा का प्रस्ताव है। धार्मिक समूह के सदस्य जैसे जौवाह के विटनैस उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब अलौकिक शक्तियाँ ऊपर से आयेंगी तथा धरती पर स्वर्ग बनायेंगी। इस भविष्य का इन्तजार वर्तमान को अधिक अपनाने योग्य बना देता है। इस प्रकार धर्म अधिकतर सामाजिक व्यवस्था को न्यायोचित बताता है तथा साथ-साथ लोगों की दबी हुई अवस्था को भी उचित बताता है। यह सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक स्तरीकरण की अनिवार्यता को स्थायी कहकर करता है कि गरीबी और दुर्भाग्य पाप के दण्डस्वरूप दैवीय विधान है।

मार्क्स के अनुसार धर्म केवल दमन को औचित्य ही प्रदान नहीं करता वरन् दमन के उपकरण का भी कार्य करता है। यह सामाजिक नियन्त्रण के साधन का कार्य करता है, अत्याचार की वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखता है। धर्म दमनकारी वर्ग तथा दमन होने वाले वर्ग के सम्बन्धों को शक्तिशाली बनाता है। धर्म सांसारिक जीवन के कष्टों को उचित बताकर लोगों को उनके जीवन को बदलने के प्रयास से भी हतोत्साहित करता है। आशाहीन परिस्थिति में धुंधली आशा दिखाता है तथा व्यवस्था को उखाड़-फेंकने के विचार को रोक देता है। यह सच्चाई को विकृत करके झूठी चेतना प्रदान करता है, जो दबे हुए वर्ग के सदस्यों को उनकी वास्तविक परिस्थितियों तथा वास्तविक हितों से बांध देती है। इस प्रकार यह ध्यान को दमन के वास्तविक स्रोत से हटा देती है तथा शासकीय वर्ग की शक्ति बनाये रखने में सहायक होती है। किसी समाज में धर्म दमन के उपकरण का कार्य किस प्रकार करता है? किसी भी दिये गये समाज में धर्म प्रभावशाली विचारधारा तथा अधि-संरचना का कार्य करता है।

### धर्म के अध्ययन में मार्क्सवादी उपागम की आलोचना (Critism of Marxist thought of Religion)

धर्म का मार्क्सवादी सिद्धान्त आलोचना रहित नहीं है। मार्क्स की धार्मिक व्याख्या मुख्यत: ईसाई धर्म के अध्ययन पर आधारित है, इसाई धर्म के बारे में उन्हें अधिक जानकारी थी। उन्होंने धर्म को सामान्य ढंग से नहीं देखा हालांकि अन्य धर्मों के साथ उनके विचारों में एक शक्तिशाली ईश्वर तथा जीवन के बाद प्रसन्नता का वर्णन मिलता है; उन्होंने यह विचार आधारभूत विभिन्न धर्मों पर नहीं लगाये। यह कहा जा सकता है कि इस संदर्भ में उनके विचार हीगल से प्रभावित थे जिन्होंने ईसाई धर्म को धर्म का सबसे उच्च स्वरूप माना था तथा जो उसके बारे में कहा गया वह ''छोटे'' धर्मों पर भी स्वत: लागू हो जाता था—परन्तु यह सत्य नहीं है।

इस सिद्धान्त की दूसरी कमी यह है कि उनका मानना है कि धर्म भौतिक तथा आर्थिक वास्तविकताओं से निर्धारित है। यही नहीं और कोई धर्म को प्रभावित नहीं करता। साथ ही यह प्रभाव दूसरी दिशा में नहीं हो सकता अर्थात् धर्म से भौतिक तथा आर्थिक वास्तविकता प्रभावित नहीं होती। यह भी असत्य सिद्ध हुआ क्योंकि यदि मार्क्स ठीक थे तब प्रोटेस्टैन्टवाद आने से पहले कई देशों में पूँजीवाद आ जाता क्योंकि प्रोटेस्टैन्टवाद वह धार्मिक व्यवस्था है जिसे पूँजीवाद ने बनाया परन्तु हमें ऐसा नहीं मिलता। सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी में पुनर्निमाण प्रारम्भ हुआ जो कि प्रकृति में सामन्तवादी था; वास्तविक पूँजीवाद उन्नीसवीं शताब्दी तक नहीं आया था। इसी कारण मैक्स वैबर ने सिद्धान्त दिया कि धार्मिक संस्था नई आर्थिक वास्तविकताओं का निर्माण करती है।

कुछ लोगों ने साक्ष्यों सहित यह विचार दिया कि समाज में धर्म की भूमिका के बारे में मार्क्स के विचार उन्हें विशिष्ट समय और विशिष्ट स्थानों के धर्म पर लागू करने पर सीमित होने चाहिये। अत: इस विचार पर दृढ़ नहीं रहा जा सकता कि धर्म केवल आर्थिक स्थिति पर आधारित है अन्य किसी पर नहीं, अत: धर्म की यह वास्तविक विचारधारा अनावश्यक है। फिर भी हम यह समझ सकते हैं कि धर्म पर विभिन्न प्रकार के

सामाजिक प्रभाव हैं जिनमें समाज की आर्थिक तथा भौतिक वास्तविकतायें भी हैं। इसी प्रकार धर्म का बदले में समाज की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव है।

वर्तमान समय में साम्यवादी समाज, जिसके बारे में मार्क्स ने कहा था, टूटता हुआ दिखाई देता है। मार्क्स के साम्यवादी आदर्श सामाजिक व आर्थिक स्थिति में धर्म पूर्णतया लुप्त नहीं हुआ यह भी सत्य है। विचारधारा तथा व्यक्तित्व के साथ अनेक समस्यायें होने के बाद भी धर्म तथा समाज के बारे में मार्क्स का सिद्धान्त बहुत से विरोधाभासों के होते हुए भी समाज की क्रिया शैली को समझने के लिये महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। मार्क्स के धर्म के बारे में विचारों की यथार्थता तथा विश्वसनीयता के बारे में कोई कुछ भी अन्तिम निर्णय ले, हमें यह मानना होगा कि उसकी अमूल्य सेवाओं ने लोगों को सामाजिक जाल जिसमें धर्म हमेशा होता है, के बारे में सोचने पर विवश किया। उसके अध्ययन के कारण धर्म को उसके सामाजिक और आर्थिक बन्धनों को जाने बिना अध्ययन करना असम्भव हो गया। यहाँ तक कि जो समाज की अधोसंरचना तथा अधिसंरचना के बीच अंत:क्रियाओं पर आधारित मार्क्स के राजनीतिक विचार तथा सामाजिक सिद्धान्त को नहीं मानते वे भी निरन्तर समाज तथा धर्म के अध्ययन के समाजशास्त्रीय उपागमों के लिये इसे एक महत्वपूर्ण विभेद करने वाले बिन्दु के रूप में मानते हैं।

## ● धर्म की प्रभावशाली विचारधारा (Effective Ideology of Religion)

*जर्मन आइडियोलॉजी* में मार्क्स ने विचारधारा को पथ-भ्रष्ट अथवा अस्पष्ट विचारों की व्यवस्था कहा है। वे विचारधारा को, जो अस्पष्ट व परिक्षणरहित है, विज्ञान से अलग करते हैं जो वास्तविक तथा परीक्षण योग्य है। उनके विचार से विचारधारा एक प्रक्रिया है जो व्यक्ति की झूठी चेतना से जानबूझकर बनायी जाती है। उन्होंने विचारधारा को नकारात्मक एवं सीमित अवधारणा बताया है। यह नकारात्मक इसलिये है क्योंकि इसमें विकृति तथा विरोधाभासों की गलत व्याख्या है। यह सीमित है क्योंकि इसमें सभी प्रकार की त्रुटियाँ व विकृतियाँ सम्मिलित नहीं है। धर्म को सामाजिक सत्यता के विचारों की गलत अभिव्यक्ति बताते समय मार्क्स फ्यूरबैक की धर्म की अवधारणा से प्रभावित थे।

### ( अ ) लुडविग एन्ड्रियास फ्यूरबैक

लुडविग एन्ड्रियास फ्यूरबैक एक जर्मन दार्शनिक थे जो हीगल से प्रभावित थे तथा जिन्होंने मार्क्स तथा एंजिल के कार्य को प्रभावित किया था। उन्होंने 1841 में अपनी पुस्तक *दास वैसस डैस क्रिंसटेनटमस (दी एसेंस ऑफ क्रिसचिएनिटी)* में धर्म तथा ईसाई धर्म की आलोचना की। फ्यूरबैक ने धर्म को एक ''स्वप्न'' के रूप में परिभाषित किया तथा कहा कि ''आत्मिक विकास'' मानव के बारे में अधिक है न कि ईश्वर के बारे में। मूलत: उनका यह कहना था कि ईश्वर में विश्वास एन्थ्रोपोमोरफिज्म की उपज है क्योंकि मानव प्रकृति पर अपने विचार और कल्पनाएँ लागू करता है। फ्यूरबैक जर्मनी में पहली बार 1841 में प्रकाशित पुस्तक *दी एसेंस ऑफ क्रिसचिएनिटी* तथा *लैक्चरस ऑन दी एसेंस ऑफ रिलीजन* (1848) के लेखक के रूप में प्रसिद्ध थे। उनके लिये धर्म मानव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है तथा मानव के आत्म-अलगाव को दूर करने के लिये धर्म को झाँसा देने से दूर करना होगा तथा तार्किक स्तर पर रखना होगा।

*एसेंस ऑफ क्रिसचिएनिटी* से कुछ मुख्य कथन जो फ्यूरबैक के सिद्धान्त को दर्शाते हैं—

''ईश्वर मनुष्य है, मनुष्य ईश्वर है।''

''नास्तिकता धर्म का रहस्य है।''

''धर्म स्वयं, सतह पर नहीं वरन् आधारभूत रूप से, केवल अपनी इच्छा में भी नहीं है और न अपनी मान्यता के अनुसार नहीं वरन् हृदय से, अपने सार में, विश्वासों में और कुछ नहीं है सिवा मानव प्रकृति की सत्यता व दैवीयता के।''

''धर्म जो मानवता की प्रकृति में बनावटी है उसे असली मान लेता है इसलिये सही सार को अलग और विशेष अस्तित्व मान लेता है।''

''धर्म मानव मस्तिष्क का स्वप्न है...इन दिनों, भ्रम केवल पवित्र है, सत्य अपवित्र।''

**फ्यूरबैक का कार्ल मार्क्स पर प्रभाव**—मार्क्स ने अपनी दार्शनिक जारूकता फ्यूरबैक से पाई। *एसेंस ऑफ क्रिसचिएनिटी* के मुख्य विचार के अनुसार धर्म के अलौकिक देवी-देवता वास्तव में मानव प्रकृति की आवश्यक गुणों की अनैच्छिक अभिव्यक्ति है। फ्यूरबैक के अपने शब्दों में ''मानव अपनी हस्ती को वस्तुनिष्ठता में व्यक्त करता है, तथा फिर अपनी बनाई हुई कल्पना के लिये स्वयं को एक वस्तु बनाता है, इस प्रकार एक विषय में बदल जाता है।'' तद्नुसार ईश्वर के रूप में धार्मिक मस्तिष्क की पूजा और कुछ नहीं है बस मानव प्रजाति की सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में कल्पना का विचार है। एक बार मुखौटा उतरने पर, ये वास्तव में क्या हैं दिखाई देने लगता है, धार्मिक विश्वास तथा ईश्वर का विचार मानव को स्वयं को समझने के लिये लाभदायक उपकरण है, जो हमें हमारी प्रकृति की आवश्यकता बताता है तथा आवश्यक है। परन्तु यदि ऊपरी तौर से देखें, ये अलगाववादी है क्योंकि यह हमारी स्वयं की संभावनाओं को हमसे बाहर ईश्वर के गुणों में रखते हैं तथा मानवता में नहीं रखते तथा इस प्रकार हमें हमारी अपनी प्रकृति की आवश्यकताओं की कल्पना से बनी अभिव्यक्ति के लिये बेकार वस्तु के रूप में देखते हैं। फ्यूरबैक के अनुसार धर्मशास्त्र केवल अलगाव की स्थिति को बढ़ाता है तथा इसके लिये वास्तविक वस्तुओं का धर्म वस्तुकरण करता है, तथा धर्मशास्त्री इस मत के साथ समाप्त करते हैं जो स्वयं विरोधी तथा असंगत है।

उनकी *दि एसेंस ऑफ रिलीजन* में उन्होंने बताया कि धर्म का आत्मनिष्ठ स्रोत प्रकृति पर मानव की निर्भरता में स्थित है। प्रकृति की शक्तियाँ जिन पर हमारा अस्तित्व पूर्णत: निर्भर करता है वे हमारे द्वारा उन्हें स्वयं हमारे जैसे व्यक्ति के रूप में समझने से कम रहस्यात्मक तथा अधिक लचीले बन जाते हैं। ''प्रकृति वास्तव में, कोई व्यक्तिगत प्राणी नहीं है; इसके कोई हृदय नहीं होता, यह मानव की इच्छाओं और शिकायतों के लिये अंधी और बहरी है।'' संक्षेप में, धर्म अंधविश्वास है तथा विज्ञान को इसे हटा देना चाहिये।

मार्क्स फ्यूरबैक के कुछ कथनों से प्रभावित थे जैसे—

(1) मानव ने धर्म को स्वयं अपनी कल्पना में बनाया है;

(2) वे धर्म से तब तक चिपके रहते हैं जब तक स्वयं को ब्रह्माण्ड के सामने अभिव्यक्त करने की आवश्यकता महसूस करते हैं, जब तक कि वे जागरूक संसार की तुलना में अपने स्वप्नों की अस्पष्टता को अधिक प्रेम करते हैं;

(3) मानव परिपक्वता की एक पहचान यह है कि मानव के आत्म-अलगाव को दूर करने के लिये वह स्वयं चेतन रूप से प्रयास करता है, उन प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति के प्रति चेतन होता है जो धर्म को पैदा करती है, तथा फिर धर्म को पीछे छोड़ देता है।

इस प्रकार फ्यूरबैक की आधारभूत धारणा यह है कि मानव धर्म बनाता है तथा यह विचार कि ईश्वर मानव बनाता है, के यह विपरीत है। फ्यूरबैक से मार्क्स इस बात पर सहमत है कि धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचार संसार के बारे में झूठा दृष्टिकोण देते हैं तथा ये झूठे दृष्टिकोण मानव के लक्ष्य तथा इच्छाओं से और सामाजिक संगठन से पैदा होते हैं, जो इन लक्ष्य तथा इच्छाओं को वास्तविक होने से रोक देते हैं। फ्यूरबैक का यह विचार था कि यदि इसकी एक बार स्पष्ट जानकारी हो जाये तब लोग दूसरे संसार के ग्रस्त ध्यान से स्वयं

को स्वतंत्र कर पायेंगे, तथा इस मानव संसार में और अधिक शक्ति के साथ प्रेम, न्याय, अच्छाई तथा विवेक के लिये प्रयास कर पायेंगे। मार्क्स के लिये भी धर्म की अवधारणा विपरीत है जो वास्तविकता को छिपाती है।

परन्तु मार्क्स फ्यूरबैक से और आगे बढ़ गये और उन्होंने मानव के आत्म-अलगाव तथा मानव के भ्रमित संसार से जुड़े रहने के कारणों का प्रथम स्थान पर विश्लेषण किया। उनके अनुसार मानव तथा उसके आत्म-अलगाव को समझने के लिये उसे व्यवहारिक, समाजिक तथा आर्थिक अर्थ में समझना होगा। मार्क्स के अनुसार ईश्वर द्वारा मानव को बनाने का विचार एक दर्शनवादी अलगाव से कुछ अधिक अथवा केवल एक भ्रम है। यह भ्रमित संसार के दुखों तथा विरोधाभासों को प्रकट करता है। उनके अनुसार राज्य तथा समाज धर्म उत्पन्न करते हैं, जो संसार की विपरीत चेतना है क्योंकि वे एक विपरीत संसार है (*क्रिटिक ऑफ हीगलस फिलोस्फी ऑफ राइट : इन्ट्रोडक्शन*)। धार्मिक विपरीतता मानव के वास्तविकता से दूर होने की क्षति पूर्ति करती है; यह कल्पना में एक मेल खाता हुआ उपाय निर्मित करता है जो वास्तविक संसार से विरोधों को दूर करने से आगे है।

मार्क्स ने बाद में इन विपरीत विचारों को विचारधारा कहा (*जर्मन ऑडियोलोजी में), कुछ ऐसा जो भौतिक वास्तविकता के स्थान पर चेतना से आरम्भ होता है। उनके अनुसार मानवता की वास्तविक समस्या गलत विचार नहीं है वरन् वास्तविक सामाजिक विरोध है तथा ये गलत विचार अथवा विचारधारा वास्तव में सामाजिक विरोधों का परिणाम है। मार्क्स ने कहा है कि कार्य के सीमित भौतिक ढंग के कारण मानव व्यवहारिक रूप से सामाजिक विरोधों को सुलझाने में असमर्थ है और इसलिये वे चेतना के विचारात्मक रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं, जो पूरी तरह मानसिक हैं तथा जो अस्तित्व एवं इन अन्तर विरोधों की विशेषता को गलत प्रकार से व्याख्या करते हैं, या छिपाते हैं। इस प्रकार धार्मिक विचारधारा सामाजिक विरोधों को छुपाती है, उन्हें बढ़ाने में सहयोग देती है तथा शासक वर्ग के हितों को पूरा करती है। धार्मिक विचारों में वैचारिक विकृतियाँ प्रकट होती हैं व आलोचना से दूर नहीं हो सकती; वे तभी दूर हो सकती है जब विरोध, जो उन्हें जन्म देते हैं, को वास्तव में समाप्त कर दिया जाये।*

इस प्रकार मार्क्स धर्म का एक जबरदस्त आलोचक है, हालांकि उनका मुख्य लक्ष्य धर्म को समस्या के कारण के रूप में देखना नहीं था, परन्तु केवल लक्षण के रूप में देखना था, जो यदि एक बार अस्तित्व में आ जाये तो भ्रष्ट सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का एक अंग बन जाता है तथा समस्या को चिरस्थाई बना देता है तथा सुलझाने का ढोंग करता है। मार्क्स कहते हैं ''लोगों की भ्रामक खुशियों के रूप में धर्म का उन्मूलन वास्तविक खुशी के लिये आवश्यक है। उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में भ्रम को छोड़ने की माँग उन परिस्थितियों को छोड़ने की माँग है जिनके लिये भ्रम की आवश्यकता है... इस प्रकार स्वर्ग की आलोचना पृथ्वी की आलोचना में बदल जाती है...धर्मशास्त्र की आलोचना राजनीति की आलोचना में'' (गिडिंग)।

### ( ब ) मार्क्सवाद में विचारधारा की अवधारणा में बदलाव
### ( नकारात्मक से सकारात्मक अर्थ बोधन की ओर )

मार्क्स की मृत्यु के तुरन्त बाद विचारधारा की अवधारणा नये अर्थ लेने लगी। नये अर्थ ने दो मुख्य स्वरूप लिये-सामाजिक चेतना के प्रकारों की सम्पूर्णता के रूप में विचारधारा की अवधारणा, जिसे विचारधारा की अवधारणा की अधि:संरचना के द्वारा अभिव्यक्त किया गया; तथा वर्ग के हितों से जुड़े राजनीतिक विचारों के रूप में विचारधारा की अवधारणा। इन नये अर्थों ने आखिरकार विचारधारा की अवधारणा के नकारात्मक अर्थ बोधन को हटा दिया। मार्क्स के बाद के विचारकों ने मार्क्सवाद को भी एक विचारधारा कहा। लेनिन के साथ विचारधारा के अर्थ में परिवर्तन की प्रक्रिया चरम सीमा पर पहुँच गयी। उनके अनुसार विचारधारा एक राजनीतिक चेतना है जो कई वर्गों के हितों से जुड़ी है तथा विशेष रूप से वे धनीवर्ग तथा समाजवादी

विचारधारा के विरोध पर ध्यान केन्द्रित करती है। इस प्रकार उनके लिये विचारधारा एक विकृति नहीं है जो विरोधों को छुपाती है वरन् एक तटस्थ अवधारणा बन जाती है जो निम्न वर्ग समेत वर्गों की राजनीतिक चेतना को बताती है।

धार्मिक विचारधारा की उत्पत्ति *जर्मन आइडियोलोजी* में फ्यूरबैक (जिसके लिये धर्म केवल मरीचिका है) की आलोचना करते हुए धार्मिक विचारधारा की सामाजिक और राजनीतिक उत्पत्ति का वर्णन किया। मार्क्स के लिये मानवता या मानव सामाजिक विकास के सभी अवसरों पर एक समान नहीं हैं। अलग-अलग समय तथा स्थानों पर मानव के विभिन्न प्रकारों का अस्तित्व है। आदमी एक सामाजिक प्राणी है जिसकी प्रकृति जिस प्रकार का वे जीवन जीते हैं उसके साथ बदल जाती है। उनके जीवन का प्रकार जिसे वे जीते हैं वह उनके जीविका पाने के ढंग, उपकरण तथा भोजन और आश्रय पाने तथा अन्य आवश्यकतायें पूरी करने के लिये श्रम के संगठन के साथ बदल जाती है। विकास के साथ-साथ मानव समाज में मानव में तथा मानव और कार्य में श्रम विभाजन होता है। श्रम विभाजन का परिणाम वर्ग विभाजन है तथा विभिन्न समय में सर्व प्रमुख उत्पादन के ढंग के अनुसार मानव समाज में विभिन्न वर्ग प्रभावशाली हुए। उत्पादन के ढंग तथा श्रम विभाजन की प्रकृति के आधार पर प्रत्येक समाज में एक वर्ग प्रभावशाली रहा। जब प्रभावशाली वर्ग में विभाजन हुआ तब उपवर्ग बने जो विचार उत्पन्न करने में दक्ष थे। चूँकि ये विचार प्रभावशाली वर्ग के अन्दर से बने, वे पूरे समाज पर लाद दिये गये। ये प्रभावशाली वर्ग की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की वास्तव में अभिव्यक्ति है हालांकि जिन्होंने उन्हें बनाया है तथा अनेक अन्य के द्वारा उन्हें सार्वभौमिक महत्वता वाले विचारों के रूप में देखा जाता है। धार्मिक विचार (संवैधानिक, राजनीतिक, कलात्मक, दार्शनिक आदि अन्य विचार भी) समाज में इस प्रकार दिये गये वर्ग अथवा दिये गये ऐतिहासिक युग के सांचे के आदेश पर विशेषज्ञों द्वारा समाज में उत्पन्न किये जाते हैं तथा ये विचार वस्तुओं की भ्रमित चेतना को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति किसी विशिष्ट ऐतिहासिक युग के विकृत दृष्टिकोण को वास्तविक बताने की प्रभावशाली विचारधारा के रूप में हुई।

## ● अधिसंरचना के रूप में धर्म (Religion as a Restructure)

मार्क्स के अनुसार अर्थव्यवस्था सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का आधार है। उनके अनुसार उत्पादन तथा वितरण अथवा उत्पादन के साधन और सम्बन्धों की आर्थिक व्यवस्था समाज की आधारभूत संरचना का निर्माण करती है। जीविका के आवश्यक भौतिक साधनों का उत्पादन तथा उसके परिणामस्वरूप कुछ अंशों में आर्थिक विकास आधार बनाता है, जिस पर अन्य संस्थायें जैसे राज्य, विधिक अवधारणा, सौंदर्य शास्त्र तथा धार्मिक विचार विकसित होते हैं। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार मानव अनुभव में अन्य कारकों के समान धर्म का आधार भी आर्थिक कारक पर निर्भर करता है।

मार्क्स ने धर्म को सम्पूर्ण के एक फलिका के रूप में देखा जिसे उन्होंने अधिसंरचना कहा तथा जो अधोसंरचना पर आधारित है तथा प्रभावित होती है। ऐतिहासिक युग का आर्थिक अधोसंरचना के साथ बदलाव अधिसंरचना में भी बदलाव ले आता है। इसलिये धर्म में विविधता अधोसंरचना में परिवर्तन के साथ आती है। उन्होंने कहा कि पहले (पूँजीवाद से पहले) धार्मिक विश्वास आदि मानव की प्रकृति के प्रति संघर्ष की मजबूरी से उत्पन्न हुए, जबकि वर्ग समाज में ये मानव के प्रति संघर्ष से उत्पन्न हुए अपने अत्याचारियों के विरोध में खोज तथा संघर्ष में लगे मानव अर्थात् श्रमिक वर्ग ने मजबूरी के विभिन्न स्वरूपों का यह विश्वास पैदा किया कि दूसरी दुनिया में खुशहाल जीवन तथा लौकिक दुखों के लिये पुरस्कार मिलेगा।

मार्क्स के अनुसार अधिसंरचना की सभी फलिकायें जैसे धर्म, राज्य, राजनीतिक, संवैधानिक, विधिक दार्शनिक तथा कलात्मक एक-दूसरे पर प्रभाव डालती है तथा आर्थिक रूप से भी प्रभाव डालती है। इस प्रकार आर्थिक स्थिति अकेली सक्रिय कारण नहीं है। आर्थिक संस्थाओं में पारस्परिकता उनके परिवर्तन का कारण है,

हालांकि आर्थिक आवश्यकता हमेशा अपना प्रभाव डालती है। मानव के विचार मानव की जागरूकता तथा मानव की चेतना स्वत: उत्पन्न नहीं हुई थी वरन् आर्थिक सिद्धान्तों का परिणाम है। इस संदर्भ में धर्म को नियन्त्रित करना चाहिये तथा मानवीय चेतना को प्रभावशाली बनाना चाहिये। इस अर्थ में धर्म को उसे उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के संदर्भ में समझना चाहिये।

**इमाइल दुर्खीम के अनुसार धर्म के प्रकार्य (Functions of Religion by Emile Durkheim)**

प्रत्येक समाज में धर्म के अस्तित्व का पाया जाना और प्रारम्भ से लेकर आज तक बने रहना इस बात का प्रमाण है कि धर्म सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। धर्म से सम्बन्धित संस्कार और त्यौहार सामाजिक जीवन को न केवल सुगम बनाते हैं बल्कि उसे स्थायित्व भी प्रदान करते हैं। दुर्खीम ने धर्म तथा इससे सम्बन्धित विश्वासों, त्यौहारों और संस्कारों के महत्व को इनके निम्नलिखित प्रमुख प्रकार्यों द्वारा स्पष्ट किया है—

**(1) अनुशासनात्मक एवं समाजीकरण सम्बन्धी प्रकार्य** (A disciplinary and reparatory function)— संस्कार व्यक्ति पर आत्मानुशासन लादते हैं। संस्कारों को बार-बार करने पर वे व्यक्ति की आदत बन जाते हैं। आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव है। यही कारण है कि मनुष्य अपने धर्म के दायरे के बाहर न सोच पाता है, न अनुभूति कर पाता है और न कार्य कर पाता है। इस भाँति, सच्चे अनुशासन में बँध जाता है। इतना ही नहीं, वरन् जीवन के लिए उसकी आवश्यक तैयारी भी चली जाती है। इस प्रकार, व्यक्ति समाज के नैतिक आदर्शों के अनुरूप ढाल दिया जाता है। सामाजिक जीवन में यतित्ववाद (Asceticism) का तत्व अनिवार्य रूप से पाया जाता है। धार्मिक संस्कार क्योंकि औपचारिक होने के साथ-साथ कुछ सीमा तक निषेधात्मक (Prohibitive) तथा प्रावरोधी (Inhibitive) भी होते हैं, इसलिए ये संस्कार आवश्यक रूप से संन्यास अथवा तपस्या अर्थात् यतित्ववाद का रूप भी रखते हैं। इसी भाँति, धर्म सामाजिक जीवन में अनुशासन लगाता है और व्यक्तियों को सामाजिक जीवन जीने की तैयारी करने में सहायता देता है। धार्मिक संस्कारों में जुड़े व्रत, अनेक निषेध, विशेष क्रियाएँ एवं कठोर नियम इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

**(2) संसक्तिकारी प्रकार्य** (Cohesive function)—धर्म के संस्कारों, समारोहों और त्यौहारों, के माध्यम से कोई समुदाय नियतकालिक स्वयं के ही अस्तित्व का पोषण करता है। ये वे साधन बन जाते हैं। जिनके द्वारा लोग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, एक ही क्रिया में सहभोगी हो जाते हैं और उस सामूहिक क्रिया के बीच में सामान्य संवेगों की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार, एक धर्म को मानने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़ा महसूस करते हैं। यही नहीं, वे एक-दूसरे के साथ अपनत्व और भ्रातृत्व के बन्धन महसूस करते हैं। परिणामतः धर्म सामाजिक एकता को उत्पन्न करने में बहुमूल्य कारक बन जाता है। धर्म का यही कार्य संसक्तिकारी कार्य बन जाता है।

**(3) पुनरुज्जीवन प्रदान करने वाला प्रकार्य** (Revitalising function)—प्रत्येक समाज अपने स्थायित्व या निरन्तरता को तभी बनाए रख सकता है जब वह अपने सदस्यों को इतिहास में हुए महान् पुरुषों या घटनाओं की समय-समय पर याद दिलाता रहे। धार्मिक संस्कारों और त्यौहारों की यह भूमिका है। इनके माध्यम से महापुरुषों के जीवन और उनकी घटनाओं का नियतकालिक रूप से पुनः अभिनय के द्वारा मानो सजीव किया जाता है। अभिनय करने वाले और दर्शक सभी मानो उसी युग में पहुँच जाते हैं। वे वैसे ही संवेग उमड़ते महसूस करते हैं जैसे मौलिक रूप से घटित हुए होंगे। उदाहरण के लिए, आज भी हिन्दू समाज में दशहरे पर होने वाली रामलीला, प्राचीन घटनाओं को प्रस्तुत करती है। टी० वी० पर दिखाया गया सीरियल 'रामायण' कुछ समय के लिए हमें राम के युग में ही ले जाता है। हम उसके पात्रों के साथ इतना तादात्म्य महसूस करते हैं कि उनकी पीड़ाओं को अपने पर झेलते हैं। इस भाँति, धर्म समाज के वर्तमान को उसके

भूतकाल से जोड़ देता है। इससे एक निरन्तरता भी बनी रहती है और समाज अपनी मर्यादाओं और परम्पराओं को स्थायी बनाए रखता है। यह स्थायित्व भी अजायबघर में रखी जड़ वस्तुओं की भाँति नहीं वरन् बेजबान जीवन सत्य की भाँति सजग और अटल है। **दुर्खीम** के सटीक शब्दों में ये संस्कार ''कुछ निश्चित विचारों एवं संवेगों को जगाने के लिए, वर्तमान को भूत से जोड़ने के लिए अथवा व्यक्ति को समूह से जोड़ने के लिए कार्य करते हैं।''

**(4) उल्लासोत्पादक प्रकार्य** (Euphoric functions)—धर्म का एक सबसे बड़ा काम यह भी है कि वह समाज के जीवन में उल्लास भरने का कार्य करता है। वाइन के अनुसार, ''धार्मिक क्रियाएँ व्यक्तियों के मन में कल्याण की अनुभूति जगाती हैं। सभी सामाजिक समूहों में विजयों-पराजयों, सुखों-दुःखों के उतार-चढ़ाव होते हैं।'' इनके बीच धार्मिक त्यौहार अथवा आयोजन लोगों के मन में उल्लास पैदा करते हैं और पुनः सामूहिक जीवन सुगमतापूर्वक सामाजिक आदर्शों के अनुरूप चलने लगता है। उदाहरण के लिए, किसी के यहाँ मृत्यु होने पर अन्तिम संस्कार के सम्पादन हेतु लोग एकत्र होते हैं। इस अवसर पर सभी लोग संतप्त महसूस करते हैं और शोक की अभिव्यक्ति करते हैं। यह शोक में सामूहिक भागेदारी और अभिव्यक्ति पीड़ित व्यक्ति या व्यक्तियों को न केवल सान्त्वना प्रदान करता है बल्कि उन्हें इस दारुण दुःख को सहने में सक्षम भी बनाता है। इतना ही नहीं वरन् पीड़ित व्यक्ति महसूस करते हैं कि हम इन मुश्किलों के क्षणों में अकेले नहीं हैं। यह अनुभूति उन्हें पुनः सामाजिक जीवन की गतिविधियों में लग जाने की प्रेरणा देती है। वास्तव में, धर्म का विशेष अवसरों पर उल्लास और दिलासा देने का कार्य, वह भी सामूहिक क्रिया के रूप में, सामाजिक दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान है।

**(5) सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य** (Social control function)—दुर्खीम ने बताया है कि समाज में सामाजिक नियन्त्रण के दो सबसे अधिक शक्तिशाली साधन होते हैं—एक, कानून तथा दूसरा, धर्म। धर्म केवल अनुशासन ही पैदा नहीं करता वरन् एक संगठित मठ होने के नाते वह अपने सदस्यों पर बाह्य नियन्त्रण भी लगाता है। यूरोप में तो चर्च के पादरी सामाजिक अनाचार, जैसे—परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन, तलाक आदि के मामलों पर बाकायदा न्यायालय की भाँति आरोप सुनते थे और विवाद पर निर्णय देकर दण्ड सुनाते थे। आदिवासी समाजों में भी पुरोहित इस सामाजिक नियन्त्रण के कार्य को करते हैं।

**(6) सौन्दर्य अनुभूति वाला प्रकार्य** (Aesthetic function)—धर्म के संस्कारों के साथ नृत्य-कला, चित्रकला, संगीत कला, मूर्ति कला एवं स्थापत्य कला सदा से जुड़ी रही है। सच तो यह है कि बहुत समय तक धर्म ही ने इन्हें जिन्दा रखा और प्रोत्साहन दिया। यही कारण है कि सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति में प्राचीनकाल का धार्मिक स्वरूप ही मिलता है। 'पवित्र' का तत्व जुड़ जाने से वस्तुओं एवं व्यवहारों में स्वभावतः शुचिता, सौन्दर्य और शृंगार की भावनाएँ पैदा होती हैं। **दुर्खीम** के ही शब्दों में, ''यह एक सुविदित तथ्य है कि खेलों और कला के प्रमुख स्वरूपों ने धर्म से ही जन्म लिया है और यह कि वे दीर्घकाल तक धार्मिक स्वरूप बनाए रहे हैं।''

**(7) मनोरंजनात्मक प्रकार्य** (Recreative function)—दुर्खीम ने धर्म के एक और सामाजिक प्रकार्य की ओर भी इशारा किया है वह मनोरंजन प्रदान करना। धार्मिक क्रियाओं में सामूहिक रूप से कुछ विशेष मुद्राएँ, अंग संचालन व अभिनय तथा लीलाएँ समाज के सदस्यों के लिए मनोरंजन का कार्य भी करती हैं। ऐसी क्रियाओं से उत्तेजनापूर्ण वातावरण बनता है और ऐसे उत्तेजनापूर्ण भावावेश के क्षण ही इन सामाजिक धार्मिकि क्रियाओं को अन्य लौकिक अथवा सांसारिक क्रियाओं से भिन्न बना देते हैं, उनमें अलौकिकता का तत्व भर देती हैं तथा उन्हें स्मरणीय बना देती हैं। ये क्रियाएँ व्यक्ति को लौकिक जीवन के तनाव से मुक्ति दिलाती हैं। उसकी उबाऊ समरसता में नयी उमंग भर देती है परन्तु **दुर्खीम** ने हमें यह बताया है कि बहुत से विद्वान् धार्मिक क्रिया के साथ जुड़े प्रत्येक शारीरिक मुद्रा या अंग संचालन में अर्थ ढूँढने की कोशिश करते हैं।

वास्तविकता ये है कि बहुत सी ऐसी प्रक्रियाएँ किसी लक्ष्य या उद्देश्य के लिए नहीं होती वरन् भक्तों की क्रिया करने की या उछल कूद करने की ही पूर्ति करती हैं।

**(8) चिन्तन सम्बन्धी प्रकार्य** (Speculative function)—दुर्खीम के अनुसार धर्म निश्चित रूप से ब्राह्मण वि श्व, प्राणी, जन्म और मृत्यु आदि के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित चिन्तन भी है। इतना ही नहीं, वह चिन्तन की प्रणाली या पद्धति भी है। इसलिए दुर्खीम धर्म और विज्ञान के बीच सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए धर्म के चिन्तन सम्बन्धी प्रकार्य की ओर इशारा करते हैं। धर्म अपने सदस्यों की चीजों की प्रकृति के सम्बन्ध में और मानव के बारे में एक निश्चित अर्थ प्रदान करता है। विशेषतः उन सभी घटनाओं को तो धर्म ही स्पष्ट करता है जिन पर आधुनिक विज्ञान भी सन्तोषप्रद प्रकाश नहीं डाल पाता। यह बात दूसरी है कि धर्म द्वारा प्रदान किया जाने वाला स्पष्टीकरण मूर्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध न किया जा सके परन्तु धर्म की स्वाभाविक जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने में सफल हो जाता है और उसमें विश्वास करने वाले व्यक्तियों के लिए वही स्पष्टीकरण सत्य होता है। विज्ञान, धर्म द्वारा दिये गये वास्तविक के स्पष्टीकरण को झुठला भी तो नहीं सकता। इसलिए धर्म के ये स्पष्टीकरण वास्तविकता के रूप में अपने अनुयायियों के बीच विद्यमान रहते हैं।

इस भाँति, दुर्खीम ने धर्म को एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखा है और उसके वैज्ञानिक विश्लेषण को समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत किया है। दुर्खीम के लिए धर्म सामाजिक जीवन में सकारात्मक भूमिका निभाता है। वह समाज में एकता, निरन्तरता और स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

## ● धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त (Theories of Origin of Religion)

धर्म की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धात का वर्णन निम्न प्रकार है—

## ● दुर्खीम का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Durkheim's Theory of Origin of Religion)

**दुर्खीम** ने धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण तथा प्रभाव आदि की अपनी पुस्तक में विस्तृत व्याख्या की है तथा यह प्रतिपादित किया कि धर्म सामूहिक चेतना का प्रतीक है। धर्म सम्पूर्ण रूप से पूर्णतः एवं सामाजिक तथ्य अथवा सामाजिक घटना है। इसी को दुर्खीम का धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त कहते हैं जिसका विवेचन करके उसने यह प्रतिपादित किया कि समाज के अतिरिक्त कोई अन्य देवता नहीं है।

**दुर्खीम** ने अपने धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत करके अन्य विद्वानों के सभी सिद्धान्तों का खण्डन करके एक विशिष्ट ज्ञान का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार धर्म की उत्पत्ति सम्बन्धी कारण अवैज्ञानिक तथा अपर्याप्त हैं। उन्होंने **मैक्समूलर, फ्रेजर** तथा **एडवर्ड** टायलर आदि विद्वानों के मतों को अस्वीकार करके अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

**दुर्खीम** ने टायलर के आदिकालीन मानव को अत्यधिक तर्कयुक्त दर्शन के पण्डित के रूप में मानना सर्वथा एक मिथ्या कल्पना बताया है। इसी प्रकार उन्होंने मैक्समूलर के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादक यह भूल गये कि धर्म एक सामाजिक घटना है, तथ्य या संस्था है और यह कैसी असम्भव बात है कि सामाजिक घटना की उत्पत्ति में कोई भी कारक सामाजिक न हो। इस प्रकार मैक्समूलर ने अपने सिद्धान्त में सामाजिक आधार की अवहेलना की है। वास्तव में आत्मा, भूत-प्रेत, स्वप्न, छाया, प्रकृति आदि के आधार पर धर्म की सभी व्याख्यायें अधूरी हैं। **दुर्खीम** के अनुसार आदिम मानव का कोई विकसित मस्तिष्क न था जिससे वह अलौकिक घटनाओं को समझ सकता। उपरोक्त सभी सिद्धान्तों को खण्डित करके दुर्खीम ने कहा कि धर्म का कोई एक वास्तविक आधार होता है और उनके अनुसार स्वयं समाज वह वास्तविक आधार है जिस पर धर्म का विकास हुआ है।

**दुर्खीम** ने समस्त सामूहिक जीवन की घटनाओं तथा वस्तुओं को चाहे वे स्वाभाविक हों या आदर्शात्मक, सरल हों या जटिल, सबको दो भागों में बाँटा है—(1) पवित्र, एवं (2) साधारण। सारी पवित्र वस्तुयें धर्म का अंग हैं ये पवित्र वस्तुयें सामूहिक जीवन या समाज की प्रतीक या चेतना की प्रतीक होती हैं। इसी भावना के अन्तर्गत व्यक्ति इनसे प्रभावित होकर इनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है इन पवित्र वस्तुओं को सदा अपवित्र वस्तुओं से दूर रखने का प्रयत्न किया जाता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक विश्वासों, आचरणों और सरकारों का प्रादुर्भाव होता है, जिसका फल धर्म का उदय है। इन आचरणों से सम्बन्धित विश्वासों और संस्कारों आदि के पीछे समस्त समाज का दबाव होता है। इस कारण समाज की उस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को श्रद्धा प्रदान करनी पड़ती है। यही श्रद्धा धर्म की नींव का प्रथम चरण है। अपने सिद्धान्त की पुष्टि दुर्खीम ने बहुत से जनजातीय अध्ययनों के आधार पर की है।

फिर भी संशय बना रहता है कि पवित्रता की धारणा के पनपने का वास्तविक आधार क्या है? इसके उत्तर में दुर्खीम का टोटमवाद सम्बन्धी मत स्पष्ट करता है कि पवित्र और साधारण वस्तुओं में भेद का वही आधार है। इसी प्रकार टोटमवाद ही सब धर्म का प्रथम चरण है। यह टोटमवाद मौलिक विश्वासों और नैतिक कर्त्तव्यों का सम्मिश्रण है, जिसके द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे—पशु, पौधे और समाज के बीच एक ईश्वरीय और पवित्र सम्बन्ध की स्थापना होती है। टोटमवाद की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(1) **टोटम** का सम्बन्ध एक पवित्र तथा ईश्वरीय शक्ति के रूप में मानना है।

(2) **टोटम** को गोत्र विशेष के सम्बन्ध में अपना मूल-पूर्वज मानना।

(3) क्योंकि टोटम के प्रति आदर, श्रद्धा-भक्ति की भावना और कभी-कभी अनिष्ट के भय आदि की भावना जुड़ी होती है इसलिये उसको मारना, खाना चोट पहुँचाना वर्जित होता है।

(4) **टोटम** सामूहिक प्रतिनिधित्व का स्वामी होता है अतः उसके प्रति सामूहिक आदर, भय और श्रद्धा तथा भक्ति की भावना का पाया जाना स्वाभाविक है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर **दुर्खीम** ने यह मत व्यक्त किया है कि धर्म विशेष की उत्पत्ति ऊपर वर्णित सभी तत्वों पर आधारित है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि टोटम और टोटमवाद धर्म का आदि स्वरूप है। इस प्रकार समाज ही उसका जन्मदाता है और समाज ही जन्म स्थान। अतः धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर वरन् पूरे सामाजिक जीवन से होता है।

**दुर्खीम** ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि—''धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की समग्र व्यवस्था है जो उन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय से संयुक्त करती है।''

इसी प्रकार **दुर्खीम** ने अपने सिद्धान्तों को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—''धार्मिक प्रतिनिधित्व सामूहिक प्रतिनिधित्व है जो कि सामूहिक वास्तविकताओं को व्यक्त करता है। धार्मिक कृत्य क्रिया करने का वह तरीका है जो कि समवेत समूहों में पनपता है और जो इन समूहों में पाई जाने वाली कुछ मानसिक अवस्थाओं को उत्तेजित, व्यवस्थित तथा पुनर्जीवित करता है। धार्मिक जीवन समग्र सामूहिक जीवन की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है। इस कारण धार्मिक शक्तियाँ वास्तव में मानव शक्तियाँ नैतिक शक्तियाँ हैं। —समाज की अवहेलना करना या उससे पृथक् रहना तो दूर रहा, धर्म समाज की प्रतिमा है, धर्म समाज के समस्त पक्षों यहाँ तक कि सबसे अशिष्ट एवं घृणात्मक पक्षों को भी प्रतिबिम्बित करता है।''

### दुर्खीम के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory of Durkheim)

**दुर्खीम** के धर्म सिद्धान्त की बहुत से विद्वानों ने आलोचना की है, जिनमें **अलेक्जेण्डर** और **गोल्डन वाइजर** का नाम प्रमुख है। इनके विचार से **टोटमवाद** को धर्म का आधार मानना सर्वथा गलत है। माना कि **दुर्खीम** ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन विभिन्न जनजातीय समाजों के अध्ययन के आधार पर किया किन्तु यह

एक सर्वत्र या सार्वभौमिक परिकल्पना नहीं हो सकती क्योंकि बहुत-सी जनजातियों में टोटमवाद की पुष्टि नहीं होती। टोटम और धर्म इन समाजों में पृथक् अस्तित्व रखते हैं। धर्म टोटम से अलग की वस्तु है। अगर टोटम धर्म का आधार होता तो यह दोनों कभी के एक हो गये होते। धर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, उसको पवित्र और साधारण आधार मात्र पर समझना कुछ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। यह आदिम समाजों में तो सम्भव-सा लगता है किन्तु आधुनिक समाज में पवित्र और साधारण की स्पष्ट रेखा खींचना कोई सरल कार्य नहीं है। अतः यह पवित्र और साधारण का विभाजन अव्यावहारिक है। धर्म की उत्पत्ति में सामाजिक कारकों को कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा, किन्तु यह कहना अवैज्ञानिक अवश्य होता है कि धर्म की उत्पत्ति का एकमात्र कारण समाज स्वयं है। इसके अन्य बहुत से कारक हो सकते हैं। अतः दुर्खीम के धर्म के समाजशास्त्र का सिद्धान्त अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक कहा गया है।

## ● धर्म की उत्पत्ति का आत्मावादी सिद्धान्त (Animistic Theory of Religion's Origin)

धर्म की उत्पत्ति के जीववादी सिद्धान्त के प्रवर्त्तक टायलर थे। उनका मत है कि प्रकृति की सभी वस्तुओं में जीव अथवा आत्मा निवास करती है। सम्पूर्ण प्रकृति जीवमय है। आत्मा कभी भी शरीर का त्याग कर सकती है, जड़ जगत अथवा पदार्थवाद में भी चेतना आत्मा का निवास है। मनुष्य प्रकृति की उन समस्त वस्तुओं की पूजा करता है जिससे उसे सुख तथा कल्याण प्राप्त करने की आशा है। उदाहरणार्थ वृक्ष से फल प्राप्त होता है अत: वृक्ष देवता की पूजा करनी चाहिए। नदी से पीने के लिए अमृत तुल्य जल प्राप्त होता है, सूर्य से प्रकाश तथा चन्द्रमा में शीतलता प्राप्त होती है। अत: ये समस्त प्राकृतिक उत्पादन देवता है, इनकी पूजा की जानी चाहिए।

आदिकालीन धर्म में मनुष्य विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों तथा जानवरों की पूजा करता था उदाहरण के लिये सर्प की पूजा नागदेवता के रूप में हाथी की पूजा गणेश के रूप में, बैल की पूजा शिव की सवारी के रूप में, सूअर की पूजा बारह के रूप में, बाघ की पूजा दुर्गा भगवती के वाहन के रूप में, पर्वत तथा सागर की पूजा वरुणदेव के रूप में, पीपल तथा बरगद के वृक्ष की पूजा आदि मंगल की कामना के लिए अभी भी की जाती है।

मनुष्य भयानक वस्तुओं के प्रकोप से भयभीत होकर उनकी पूजा करता था ताकि वे प्रसन्न रहें। सर्प की पूजा भारत में ही नहीं अमेरिका व पूर्वी एशिया के सभी देशों में प्रचलित है। इसी प्रकार नदियों व सूर्य तथा चाँद की पूजा भी समस्त विश्व के विभिन्न भागों में किसी रूप में प्रचलित है। टायलर का मत है कि हमें धर्मों की बहुलता एवं उनमें अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं पर मूल रूप में वे सभी एक ही विचार पर निर्भर है। 'आत्मा' या 'जीय' में विश्वास आत्मा आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार है। यही कारण है कि टायलर के सिद्धान्त को आत्मावाद या जीववाद के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मानवशास्त्रीय शब्दकोष को एक नया शब्द 'आत्मावाद' दिया। उन्होंने आत्मावाद को दो भागों में बाँटा है—

**(i) आत्मा का सिद्धान्त–**जिसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्यों में आत्मायें होती है, जो कि उनकी मृत्यु के बाद भी शेष रहती है।

**(ii) प्रेतों का सिद्धान्त–**जिसके अनुसार ऐसी आत्माओं को भी स्वीकार किया गया है जो मनुष्य आत्माओं से पृथक् हैं। वे दैवी आत्मायें हैं।

इस प्रकार, आत्मायें प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली प्राणियों तक होती है। ये आत्मायें अमर हैं तथा सांसारिक घटनाओं एवं मानव जीवन को नियन्त्रित एवं निर्देशित करती हैं। परिणामत: मनुष्य इन आत्माओं से भयभीत होकर उन्हें भय मिश्रित श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसलिए धर्म आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में

विश्वास है। यह विश्वास उसमें दैनिक जीवन के विभिन्न अनुभवों से उत्पन्न हुआ जो कि उसने जागृत एवं सुषुप्त अवस्था में किये और जो जीवित एवं मृत अवस्था से स्पष्ट हुए—

**(a) निद्रावस्था–**निद्रावस्था में स्वप्न के दौरान अपने को अनेक कार्यों में संलग्न देखता है। वह अपने पूर्वजों से मिलता है और ऐसे स्थान पर जाता है। जहाँ वह पहले कभी नहीं गया।

**(b) जागृत अवस्था–**जागतृत अवस्था में व्यक्ति अपनी परछाई देखता, तालाबों एवं नदियों के पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखता, अपनी आवाज की प्रति ध्वनि सुनता है।

उपर्युक्त अवलोकन के समय उसने जीवित और मृत व्यक्ति में भेद भी देखा। टायलर का अनुमान हैं कि मनुष्य के मरने पर उसका बोलना, चलना, खाना–पीना सभी समाप्त हो जाता है। सम्भवत: उस समय आदिम मानव के मन में यह विचार आया होगा कि ऐसी कोई न कोई शक्ति अवश्य है। जिसके शरीर से निकल जाने पर वह निष्क्रिय हो जाता है। यद्यपि मृत्यु के बाद उसका शरीर जीवित की तरह ही दिखलायी देता है परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है।

इस प्रकार के अनुभवों के द्वारा आदिम लोगों में उस अदृश्य वस्तु या शक्ति, जिसके शरीर में विद्यमान रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है और शरीर से पृथक होने पर मर जाता है, के प्रति विश्वास हुआ। इस शक्ति को 'आत्मा' के नाम। से पुकारा गया टायलर के अनुसार, ''आत्मा एक पतली, निराकार मानव प्रतिमूर्ति आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।''

टायलर के आत्मावाद या जीववाद की आलोचना निम्न आधारों पर की गयी हैं—

**(1) उच्च देवता की धारणा का अभाव निराधार कल्पना–**टायलर ने आत्मा में विश्वास को ही धर्म का आधार माना है। इसका कथन है कि आदिम समाजों में उच्च देवता की धारणा का अभाव है। परन्तु लैंग का मत है कि ऑस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में ईश्वर की धारणा पायी जाती है। श्मिट (Schmidt) ने भी नीग्रिटो जनजातियों तथा कैलिफोर्निया की फ्यूजी जनजातियों में ईश्वर की धारणा का उल्लेख किया है। अत: टायलर का यह मत त्रुटिपूर्ण है कि आदिवासियों में उच्च देवता की धारणा का विकासवाद की अवस्था में हुआ, उससे पहले आत्मा की धारणा ही प्रचलित थी।

**(2) अत्यन्त सरल व्यवस्था अपर्याप्त–**टायलर ने धर्म की उत्पत्ति को अति सीधे एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया है। केवल परछाई, प्रतिध्वनि, स्वप्न एवं मृत्यु के अनुभवों ने ही धर्म जैसी जटिल संस्था को जन्म दिया होगा यह तथ्य तर्क संगत नहीं है।

**(3) वैज्ञानिक आधार–**जीववाद के आधार पर जादू–टोना तथा प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के उपक्रम का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। जीववाद अन्धविश्वास तथा अन्य श्रृद्धा की नींव पर खड़ा रहा है।

**(4) निर्बल आधार–**जीववाद में ईश्वर के समान शक्तिशाली सत्ता का अभाव है। अत: इसका आधार अत्यन्त निर्बल सिद्ध होता है।

**(5) तार्किक नहीं–**जीववाद का सर्वात्मवाद शक्तिहीन है। इसे तर्क के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। धर्म मानव जगत से सम्बन्धित है पशु जगत से नहीं।

**(6) अपर्याप्त–**जीववाद यह नहीं व्याख्या कर सकता है कि आदिम मानव अनेकानेक पशु–पक्षियों को अपनी उपासना का केन्द्र क्यों बनाता था।

**(7) अन्य धारणायें–**मैरेट (Marett) का मत है कि आदिम जातियों में आत्मा की धारणा ही नहीं वरन्–अन्य धारणायें भी पायी जाती हैं, जैसे—जीवित–सत्ता में विश्वास, जिसके कारण जीवसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का जन्म हुआ।

(8) **सामाजिक कारकों की उपेक्षा–**धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: उसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है। केवल आत्मा में विश्वास से ही धर्म की उत्पत्ति स्वीकार करना सामाजिक तथ्यों की अवहेलना है।

**निष्कर्ष–**टायलर का जीववाद आलोचना का विषय होने पर भी भारतीय परिवेश में अधिक उपर्युक्त प्रतीत होता है। भारत में आज भी बहुदेवोपासना प्रचलित है। पशुओं और पक्षियों की पूजा हिन्दू-धर्म का एक अंग बन चुका है। डेविड ह्यूम ने लिखा है कि—प्राकृतिक शक्तियों के भय के कारण मनुष्य ने देवताओं की कल्पना की तथा उनकी पूजा तथा अभ्यर्थना प्रारम की। उन्हें यह आशा थी कि इस क्रिया से वे प्रकृति को प्रसन्न कर सकेंगे और अनिष्ट से बच सकेंगे। मैक्समूलर ने कहा था कि—धर्म की उत्पत्ति इस बात में निहित है कि मनुष्य ने प्रकृति की समस्त वस्तुओं को अपने ही जैसा स्वीकार किया था। इस प्रकार जीववाद का धर्म के उद्‌भव एवं विकास में पर्याप्त सहयोग है।

## ● धर्म की उत्पत्ति का प्रेतवादी सिद्धान्त (Ghost Theory of Religion's Theory)

प्रेतवाद के अनुसार जीवात्मायें स्वेच्छापूर्वक एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकती हैं। प्रेतवाद अथवा प्राणवाद मनुष्य की इस प्राचीन धारणा पर आधारित है कि मानव आत्मा अमर है। मनुष्य के पश्चात् उसकी आत्मा प्रेत के रूप में अपने परिवार के लोगों को कष्ट देती है। अत: उसकी पूजा की जानी चाहिए ताकि वह तृप्त रहे तथा परिवार के सदस्यों को कष्ट न दें। प्रेतवाद प्रारम्भिक धर्म का रूप होने के कारण भय की भावना पर आधारित है। वर्तमान समय में भी लोग अपने गत पूर्वजों की आत्मा की पूजा करके प्रेत अथवा भूत से बचने का प्रयास करते हैं। मानव शरीर का त्याग करने के बाद आत्मायें आकाश तथा वातावरण में विचरती हैं तथा जीवित आत्माओं को भयभीत करती हैं। मनुष्य भयभीत होकर उन आत्माओं की पूजा करना प्रारम्भ कर देता है। जीवित आत्मा से मृत आत्मा की शक्ति अधिक मानी जाती है। प्रेतवाद आत्मा की इसी प्रकाशन की प्रकृति पर आधारित है। द्वैतवाद अर्थात् शरीर व आत्मा का भेद इसी प्रेतवाद के कारण प्रचलित हुआ था। भारतीय धर्म में आत्मा की अमरता का वर्णन वेद-उपनिषद गीता आदि में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा अमर है और वह विभिन्न रूपों में स्वकर्मों के अनुसार स्वयं को प्रकट करती रहती है। उन्हीं कल्पनाओं के आधार सम्भवत: कालान्तर में मनुष्य ने इन आत्माओं में स्वामी के रूप में सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की होगी। इस प्रकार, प्रेतवाद धर्म की उत्पत्ति में सहायक है। प्रेतवाद का अस्तित्व प्राय: सभी प्रचलित धर्मों में विद्यमान है। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त इस्लाम व ईसाई धर्म में भी प्रेतात्मायें रुहों और घोस्ट (ghost) के रूप में दिखलाई पड़ती हैं। बौद्ध धर्म की जातक कथायें बुद्ध के जन्म-जन्मान्तर की कथाओं के विराट कोष है। इन कथाओं में गौतम-बुद्ध की प्रेतात्मा विभिन्न योनियों में उत्पन्न होकर अनुभव प्राप्त करती है। इस प्रकार प्रेतवाद को धर्म की उत्पत्ति का कारण स्वीकार किया जा सकता है।

**आलोचना**

प्रेतवादी सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की गई हैं—

**(1) एकांगी–**धर्म एक जटिल मानसिक क्रिया है। अत: यह स्वीकार करना कि किसी भय के कारण प्रेतात्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करके धर्म का प्रादुर्भाव हुआ ठीक नहीं है। धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। किसी एक ही कारण से धर्म की उत्पत्ति अथवा विकास की कल्पना करना युक्ति संगत नहीं है।

**(2) पर्याप्त आधार नहीं–**प्रेतवाद को न तो मनोवैज्ञानिक आधार पर और न ही वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है। मनुष्य प्रेतात्माओं की पूजा किसी मंगल की धारणा से नहीं करता बल्कि इसलिए करता है कि प्रेतात्मायें उसे परेशान न करें और वह प्रेत बाधा के कष्टों से मुक्त होकर जीवन व्यतीत कर सके।

**(3) प्रचलन–**प्रेतात्माओं की पूजा आदिम समाज में व्यापक रूप से की जाती थी। संसार के विभिन्न कबीलों में भूत, प्रेत की पूजा का प्रचलन अभी भी वर्तमान है।

**निष्कर्ष–**प्रेतातवाद का सिद्धान्त प्राचीन अवधारणा से विकसित हुआ है। वास्तव में प्राचीनकाल के मानव में यह धारणा विकसित हुई थी कि मानव की आत्मा अमर है और वह मृत्यु के बाद भौतिक शरीर से निकलकर वातावरण में विचरण करती है। यही आत्मा प्रेत के रूप में भ्रमण करती है, इन प्रेतात्माओं का धर्म की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का आधार व्यापक और उदार है। अतएव उसे किसी ऐसी आदिम धारणा से उत्पन्न या विकसित मानना तर्क सम्मत नहीं है।

## ● धर्म की उत्पत्ति में मानावाद का सिद्धान्त (The Theory of Manaism in Religion's Origin)

इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में चाहे वह जड़ हो या चेतन जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है। इसके समर्थकों का मत है कि इस सत्ता में विश्वास और उसकी आराधना एवं पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई।

इस मत को मैक्समूलर (Maxmular) एवं प्रीउस (Preuss) ने प्रस्तुत किया है। इन विचारकों के अतिरिक्त कॉडरिंगटन (Codrington) एवं मैरेट (Marett) ने इसे एक विशेष प्रकार से प्रस्तुत किया जो मानावाद (Manasism) के नाम से जाना जाता है। माना नामक शक्ति को सर्व सामर्थ्यवान तथा सर्वाधिक शक्तिशाली मानकर उपासना की जाती है। अत्यन्त प्राचीनकाल में मनुष्य माना को सर्वाधिक शक्तिशाली तथा मूल्यवान 'आदि सत्ता' के रूप में मानता रहा है। माना मानव जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, विजय-पराजय सबका स्वामी माना जाता था। मनुष्य के कार्यों की सफलता अथवा विफलता माना पर आधारित थी। प्राय: प्राचीन मानव अपने तथा अपने समाज के कल्याण के लिये, दु:खों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये तथा युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिये माना की उपासना करता था।

मलेनेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को 'माना' कहकर पुकारते हैं। इसी कारण मैरेट ने अपने सिद्धान्त को 'मानावाद' का नाम दिया है। मलेनेशिया की जनजातियों का विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। यदि कोई व्यक्ति अधिक बुद्धिमान या शक्तिशाली है तो इसका कारण उस विशिष्ट व्यक्ति में माना की शक्ति की अधिकता है। इसी प्रकार युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ा जाना भी 'माना' की शक्ति के कारण ही है। देखा गया है कि कोई तलवार युद्ध में अधिक लोगों को मारती है या कोई नाव अन्य नावों को गति में पीछे छोड़ देती है। किसी ताबीज से आपत्ति टल जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार इसका अर्थ है कि उस तलवार, नाव, एवं ताबीज में माना की शक्ति पूरे वेग से है।

भारतीय जनजातियों में भी मजूमदार ने माना जैसी शक्तियों का उललेख किया है। 'हो' लोगों ने बोंगा की अवधारणा, उत्तरी अमेरिका की जनजातियों में ओरेण्डा की अवधारणा, दूसरे स्थानों पर एरन और बकुआ की अवधारणा भी मैरेट के इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आती है।

माना एक ऐसी रहस्यमय शक्ति है, जिसकी व्याख्या सम्भव नहीं है। यह नितान्त व्यक्तिगत होने के कारण तर्क की पहुँच से बाहर है। माना को सर्वज्ञ व सर्वव्यापक माना जाता है। यह प्राकृतिक वस्तुओं के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है। प्राचीन मनुष्य इसमें जादू का आरोपण करता था। यह एक प्रकार की अलौकिक तथा अति प्राकृतिक शक्ति है जिसका भौतिक शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। माना की परिभाषा करते हुए कॉडरिंगटन लिखते हैं, ''माना एक शक्ति है जो कि भौतिक या शारीरिक शक्ति में सर्वथा भिन्न है यह भले और बुरे सभी रूपों में कार्य करती है और इस पर आधिपत्य या नियन्त्रण पाना लाभदायक है।''

'माना' एक ऐसी शक्ति है जो शरीरोपरि एवं अलौकिक है जो कि संसार की सभी वस्तुओं को प्रभावित करती है, वह भले व बुरे, लाभदायक एवं हानिप्रद, सभी रूपों में कार्य करती है।

मानवोपरि होने के कारण इस शक्ति का अनुभव ज्ञानेन्द्रियों से नहीं किया जा सकता। लोवी का मत है कि माना विद्युत धारा की भाँति व्यक्ति एवं वस्तुओं को प्रभावित करती है और एक-दूसरे में आ-जा सकती है। किसी कार्य में सफलता 'माना' के कारण एवं असफलता इसकी अनुपस्थिति के कारण ही मिलती है।''

मेरेट का निष्कर्ष है कि ''माना'' एक अवैयक्तिक अशरीर और अलौकिक शक्ति है जो अच्छे और बुरे दोनों रूपों में मनुष्य का प्रभावित करती है।

इस प्रकार माना सिद्धान्त के अनुसार आदिम मानव में ऐसी शक्ति के प्रति भय मिश्रित श्रद्धा उत्पत्ति हुई। वह उसके सामने नतमस्तक हो गया और जीवन में सफलता पाने तथा बुरे प्रभावों से बचने के लिये उस शक्ति की पूजा, प्रार्थना एवं आराधना करने लगा। यहीं से धर्म का जन्म हुआ।

**माना की विशेषतायें (Characteristics of Mana)**

माना की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(1) 'माना' सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान शक्ति है।

(2) 'माना' विलक्षण और अलौकिक है।

(3) 'माना' भौतिक शक्ति नहीं वरन् रहस्यमय आध्यात्मिक शक्ति है।

(4) यह शक्ति कतिपय पदार्थों में विशेष रूप से निहित है।

(5) इस शक्ति को शत्रुओं को नष्ट करने तथा विजय प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

(6) माना शक्ति गतिशील है।

(7) 'माना' का विशेष प्रभाव पादरियों, पुजारियों तथा विविध धार्मिक प्राणियों पर पड़ता है।

(8) 'माना' संवेगशील शक्ति है।

(9) माना की सर्वव्यापकता सर्वत्र विद्यमान है।

(10) 'माना' के भावात्मक तथा निषेधात्मक आधार है।

**आलोचना (Criticism)**

मानावाद के विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित आलोचनायें की हैं—

**(1) पवित्र अपवित्र में भ्रान्ति–**दुर्खीम का मत है कि धर्म का सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से है, मानावाद में पवित्र एवं अपवित्र में भेद नहीं किया गया है।

**(2) समाज की उपेक्षा–**धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: उसकी उत्पत्ति के लिये सामाजिक कारक भी उत्तरदायी है, परन्तु इस सिद्धान्त में समाज के महत्व को स्वीकार नहीं किया गया है।

**(3) अपर्याप्त–**केवल भय की भावना से धर्म उत्पन्न नहीं हो सकती।

**(4) आधार की कमी–**प्रश्न यह उठता है कि सर्वशक्तिशाली 'माना' को मानने का आधार क्या है ? जिस शक्ति का कोई आधार नहीं है, उसे किस प्रकार स्वीकार किया जाये। अतएव आदिम 'माना' का अस्तित्व संदेहास्पद है।

**(5) काल्पनिक सिद्धान्त–**मानावाद एक काल्पनिक सिद्धान्त है। वास्तव में इनका कोई अस्तित्व दिखलाई नहीं पड़ता है।

**(6) स्पष्टता का अभाव–**इस सिद्धान्त में अशरीरी और अलौकिक शक्ति को स्पष्ट: परिभाषित नहीं किया गया है।

**(7) सीमित–**आदिम जातियों में धर्म एवं जादू से सम्बन्धित अनेक विश्वास पाये जाते हैं और उन सभी को मानावाद के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

**(8) पृष्ठभूमि की उपेक्षा–**इस सिद्धान्त में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि माना की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ, क्या आदिम मानव इतना कल्पनाशील व दार्शनिक था कि बिना किसी आधार के ही उसने अलौकिक शक्ति की धारणा को जन्म दिया।

## ● धर्म की उत्पत्ति का प्रकृतिवादी सिद्धान्त (Naturalistic Theory of Religion's Origin)

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद, जीवित सत्तावाद का ही एक रूप है। मैक्समूलर धर्म की उत्पत्ति की खोज प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं की पूजा में की इसके लिये उन्होंने भारतीय एवं यूरोपीय पौराणिक कथाओं का सहारा लिया।

**कथायें** (Legends)—इन पौराणिक कथाओं में सौर मण्डल और तारामण्डल से सम्बन्धित अनेक कथायें हैं जो आकाशीय पिण्ड को सजीव के रूप में चित्रित करती हैं। हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में भी सूर्य, चन्द्र एवं तारों से सम्बन्धित गाथायें हैं जिनको पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे जीवित प्राणियों की कथायें हों। उनका मानवीयकरण कर दिया गया है। इन कथाओं की पृष्ठभूमि में यह बात निहित है कि आदिम मानव प्रकृति और आकाशीय पिण्डों से प्रभावित हुआ तथा उसमें उनके प्रति भय और प्रेम भी उत्पन्न हुआ। इसी कारण उसने उन्हें मानवीय रूप दे दिया।

मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को मिस्र में 'रा' अर्थात् सूर्य को सबसे बड़ा देवता माना गया।

भारत में भी सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, वर्षा आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की जाती रही है।

विचारकों ने कल्पना प्रस्तुत की है कि प्राकृतिक शक्तियों से आदिम मानव के मन में भय, प्रेम, आश्चर्य एवं आतंक की भावना उस समय उत्पन्न हुई होगी जब उसने देखा कि वर्षा की अधिकता और कमी उसके लहलहाते खेतों को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार समुद्री तूफान उसकी नाव को डुबा देता है तथा आँधी उसकी झोंपड़ी को ले जाती है। उसने सोचा होगा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं में अवश्य ही कोई शक्तिशाली वस्तु निवास करती है जो संचालन, नियंत्रण और निर्देशन करती है। इस शक्तिशाली वस्तु से निवास की कल्पना के आधार पर उसने इन प्राकृतिक वस्तुओं को सजीव समझा। कतिपय अन्य विचारकों के अनुसार मस्तिष्क की यह गलती त्रुटिपूर्ण भाषा के कारण हुई। जैसे प्राय: कहा जाता है कि सूर्योदय या सूर्यास्त हो रहा है, वर्षा हो रही है, पेड़ फल और फूल उत्पन्न करते हैं, आँधी इस शब्दावली से ऐसा आभास होता है मानो सूर्य तथा पेड़ों में कोई शक्ति निहित हो। इस प्रकार प्रकृति की असीम विशालता एवं शक्ति के सम्मुख जब मनुष्य नतमस्तक होता है तो धर्म का उद्गम होता है।

### आलोचना (Criticism)

इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की गयी हैं—

**(1) सामाजिक कारकों की उपेक्षा–**धर्म एक सामाजिक संस्था है, मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति में कहीं सामाजिक कारकों को कोई भी महत्व नहीं दिया। इस सिद्धान्त में अनुमान और कल्पना पर ही अधिक बल दिया गया है।

**(2) संकुचित विचारधारा–**एण्ड्रयूलेग कहते हैं कि त्रुटिपूर्ण भाषा के आधार पर धर्म की उत्पत्ति एक संकुचित व्याख्या है। केवल प्रकृति पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति बताना उचित नहीं। यह ऐसी विधि है कि हिन्दू धर्म अत्यधिक है।

**(3) प्रमाणों का अभाव–**दोषपूर्ण भाषा के प्रयोग से प्राकृतिक पदार्थों को सजीव समझने की बात को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

## ● धर्म की उत्पत्ति का फ्रेजर सिद्धान्त (Frazer's Theory Regarding the Origin of Religion)

स्काटलैण्ड निवासी फ्रेजर टायलर का उत्तराधिकारी था। उसने अपने धर्म एवं जादू सम्बन्धी विचार अपनी पुस्तक ''दी गोल्डन बो'' (The Golden Bough) में प्रकट किये। जादू एक विशेष प्रकार के चमत्कार को कहते हैं, जिससे लोगों को प्रभावित कर अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह एक जटिल प्रश्न है कि जादू पहला उत्पन्न हुआ या धर्म।

फ्रेजर का मत है कि सर्वप्रथम जादू टोनों का प्रचलन रहा होगा। उसका अनुमान है कि मानव ने जादू का प्रयोग आदिम मानव प्रकृति पर नियंत्रण पाने एवं अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया होगा। लेकिन जब उसने देखा कि कई बार उसका जादू असफल हो जाता है और वह अपने उद्देश्यों को जादू को असफल कर देती है। उसने अनुभव किया होगा कि वह शक्ति जादू के द्वारा मनुष्य के वश में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर वह उसकी पूजा, प्रार्थना और आराधना कनरे लगा। उस समय धर्म की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार फ्रेजर के अनुसार असफल जादू—दोनों ने मानव को धर्म की ओर अग्रसर किया। इस आधार पर कहा जा सकता है कि धर्म प्रकृति के द्वारा पराजित मनोवृत्ति का परिणाम है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि फ्रेजर ने धर्म की उत्पत्ति में दो स्थितियों में कल्पना की—

(1) प्रथम स्थिति में जादू-टोनों का ही साम्राज्य था,

(2) द्वितीय में जादू-टोनों के असफल होने पर अलौकिक शक्ति की पूजा और आराधना प्रारम्भ हुई जिसने धर्म की नींव डाली।

### आलोचना (Criticism)

फ्रेजर के सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की गयी है—

**(1) प्रमाण हीन**—इस बात के पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि कभी ऐसी भी अवस्था भी जब केवल जादू टोना ही प्रचलित रहा हो।

**(2) अनुपयुक्त मत**—जादू अथवा टोने से इतने बड़े धर्मों का आविर्भाव असम्भव प्रतीत होता है। धर्म को जादू का विकसित रूप स्वीकार करना धर्म के प्रति अनुपयुक्त धारणा है। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि जादू और टोना धार्मिक प्रभाव को बढ़ाने के लिये उत्पन्न हुए हों।

**(3) सर्व व्यापकता का अभाव**—विश्व के अने धर्मों में जादू का सर्वथा अभाव है। प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता या उस धर्म की उत्पत्ति जादू से नहीं हुई।

**(4) धर्म से भिन्न**—जादू व टोना में मनुष्य अपनी सिद्धियों पर अधिक विश्वास रखता है। इसके विपरीत धर्म से व्यक्ति ईश्वर की शक्ति पर भरोसा अधिक रखता है।

**(5) सामाजिक कारकों की उपेक्षा**—इस सिद्धान्त में जादू-टोना ही प्रचलित रहा हो। अन्य धर्म की उत्पत्ति में सामाजिक कारकों की अवहेलना की गयी है।

## ● धर्म का सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory of Religion)

धर्म का सामाजिक सिद्धान्त दुर्खीम की देन है। उसका मत है कि धर्म एक सामाजिक तथ्य है। उसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है। तथापि अब तक के सभी सिद्धान्तों में सामाजिक कारकों की

अवहेलना की गयी है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक एली मेटरी फार्म्स आफ रिलीजियस लाइफ (Elementary Forms of Religious Life) में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति, प्रभाव आदि की विस्तृत विवेचना की है।

उसने समाज को ही देवता माना और कहा कि धर्म सामूहिक चेतना (Collective Consciousness) का प्रतीक है। दुर्खीम के अन्य सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए कहा है कि आदिम मानव इतना बुद्धिमान नहीं था कि वह प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं को उसी रूप में समझ पाता जिस रूप में इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने समझा है। उसने आलोचना करते हुए आगे कहा है, कि धर्म कोई इतनी सरल वस्तु भी नहीं है कि उसे, प्रतिध्वनि, परछाई, स्वप्न और मृत्यु आदि अनुभवों के आधार पर ही समझा जा सके।

दुर्खीम के अनुसार धर्म का वास्तविक आधार तो स्वयं समाज है। पहले परिवार पूर्वजों की पूजा करता था, शहरों के उदय के साथ सामुदायिक अनुष्ठान होने लगे। व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन आमोद-प्रमोद पूर्ण एवं आकर्षक नहीं था। इस व्यक्तिगत सामूहिक जीवन के विपरीत जब वह सामूहिक जीवन में सम्मिलित होता तो जीवन में सरलता आ जाती एवं विशेष सुख का अनुभव होने लगता।

**विश्वास और अनुष्ठान**—दुर्खीम ने 'विश्वासों' (Beliefs) एवं 'अनुष्ठानों' (Rituals) को धर्म में सम्मिलित किया है।

विश्वास के दो प्रकार हैं—

(1) पवित्र विश्वास (Sacred belief),

(2) अपवित्र विश्वास (Profane belief)।

इनका विवरण निम्न प्रकार है—

(1) पवित्र का सम्बन्ध धर्म से है,

(2) अपवित्र का सम्बन्ध जादू से है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हर पवित्र वस्तु का सम्बन्ध धर्म से है। पवित्र को अपवित्र से दूर रखने के लिये विभिन्न संस्कारों, उत्सवों एवं आचरणों को जन्म दिया गया। इनके पीछे सम्पूर्ण समूह या समाज की स्वीकृति एवं शक्ति है।

दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि ये विधि-विधान एवं विश्वास समाज की सामूहिक सत्ता एवं चेतना के प्रतिनिधि है। इसलिये व्यक्ति उनके सामने झुकता है, उनसे भयभीत होता है और उनके अनुरूप ही आचरण करता है।

**अरुन्टा**—दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरुन्टा (Arunta) जनजाति का उदाहरण प्रस्तुत किया तथा यह सिद्ध कर दिया कि आदिम लोगों को धार्मिक अनुभव सामूहिक उत्तेजना (Group Excitement) के कारण हुए। उसने यह अवलोकन किया कि एक गोत्र के सदस्य त्यौहार एवं उत्सव मानने के लिये एकत्रित होते हैं, सभी सदस्यों के स्थान पर एकत्रीकरण होने से सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। यह सामूहिक चेतना व्यक्तिगत चेतना से भिन्न होती है।

सामूहिक चेतना, सामूहिक शक्ति का प्रतीक है जो व्यक्तिगत शक्ति से श्रेष्ठ है। समूह व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सबल है। यही व्यक्ति समूह की शक्ति को स्वीकार करता है और उनके मन में ऐसी शक्ति के प्रति भय, श्रद्धा एवं आदर की भावना पनपती है।

इस प्रकार व्यक्ति के लिये यह समूह या समाज ही धार्मिक पूजा का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन एवं सामूहिक जीवन के भेद ने ही मानव को समाज की शक्ति का अनुभव कराया और इसी शक्ति को वह ईश्वर समझने लगा।

## ● धर्म की उत्पत्ति का टोटमवादी सिद्धान्त (Totemistic Theory f Religion's Origin)

टोटम को धर्म की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी मानने वाले विद्वानों में मैक्लेनन, लूबोंक, टायलर, स्पेंसर, फ्रेजर, फ्रायड, रॉबर्टसन, स्मिथ आदि प्रमुख है। फ्रायड ने सन् 1613 मेंटोटम तथा टैबू (Totem and Taboo) नामक पुस्तक में अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। दुर्मीम ने भी इसे अपने सिद्धान्त में सहायक एवं आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया।

दुर्खीम ने कहा कि आस्ट्रेलिया की अरुन्टा जनजाति सबसे आदिम जनजाति है, उनमें टोटमवाद प्रचलित है और टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्रारम्भिक स्तर रहा है।

दुर्खीम के टोटमवाद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यों और मौलिक विश्वासों का वह समूह है जिनके द्वारा समाज, पशु, पौधे तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्राचीन समय में लोग साँप, छिपकली, बिच्छू आदि को टोटमवाद के नाम से पुकारते थे। टोटम पशुओं या वृक्ष के एक वर्ग को भी कहा जाता है। इसकी एक जाति या वर्ग होता है। यह धार्मिक भावना से सम्बन्धित और पवित्र की प्रतीक माना जाता है। ये जिस जाति विशेष के लोग थे उसी जाति के टोटम पशुओं अथवा पक्षियों का रक्त उनकी धमनियों में बहता था। प्रायः प्रत्येक जाति के लोगों के अपने अलग-अलग टोटम थे। इस प्रकार की भावना आधुनिक मानवीय धर्मों में भी दिखलाई पड़ती है। हिन्दुओं में गाय तथा पीपल के वृक्ष की पूजा इसी टोटम का परिणाम है। प्रायः देखा जाता है कि जिन पशुओं के साथ रक्त सम्बन्ध मनुष्य अनुभव करता है। उनकी हत्या पाप समझती जाती है। हिन्दुओं में गाय की हत्या निषिद्ध मानी जाती है। हिन्दुओं में पीपल का पेड़ काटना धार्मिक आचरण के विरुद्ध है। टोटम प्रत्येक वर्ग के मनुष्य के लिये भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार के विश्वास मानव-समाज में आज भी दिखलाई पड़ते हैं। विभिन्न जातियों व वर्गों के लोगों के अपने भिन्न-भिन्न पशु तथा वृक्ष आराधना के केन्द्र हैं। टोटम किसी विशेष पशु अथवा वृक्ष को ही नहीं माना जाता था बल्कि उस जाति के समस्त पशुओं व वृक्षों की टोटम माना जाता था। ये टोटम प्रायः पितृ परम्परा के आधार पर निर्धारित किये जाते थे। आस्ट्रेलिया में प्रत्येक परिवार के अलग-अलग टोटम पशु अथवा वृक्ष निर्धारित थे।

भारत के नागालैंड तथा मिजोरम के क्षेत्रों में नागा तथा मीजोरम की विभिन्न जातियों की भिन्न-भिन्न धार्मिक टोटम की पूजा प्रचलित है। प्राचीन मानव अपने टोटम पशुओं का माँस नहीं खाता था। तथापि किसी विशिष्ट धार्मिक अथवा सामाजिक उत्सव के अवसर पर टोटम पशु की बलि दी जाती थी। उस समय प्रसाद के रूप में उसका माँस वितरित किया जाता था।

फ्रायड ने टोटमवाद पर प्रकाश डालते हुये स्पष्ट किया है कि प्राचीन मानव टोटम पशुओं को प्रेम व घृणा दोनों करता था। जिस पशु की बलि चढ़ाई जाती थी लोग उसके लिये आँसू बहाते थे तथा दुख भी प्रकट करते थे, तत्पश्चात् उसके माँस का भक्षण भी करते थे। इसी प्रकार वृक्षों को टोटम मानने वाले वार्षिकोत्सव के अवसर पर वृक्ष की शाखायें काट डालते थे और अपने पूर्वजों की कब्र पर एकत्रित किया करते थे। कोई भी व्यक्ति अपनी जाति और रक्त की लड़की से विवाह नहीं करता था। वर्तमान समय में भी हिन्दू समाज में एक ही गोत्र के लड़के लड़की परस्पर विवाह नहीं कर सकते।

आदिवासी यह मानते हैं कि टोटम में अलौकिक शक्ति का निवास है जो उनके सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करती है।

## टोटम की प्रमुख विशेषतायें (Characteristics of Totem)

टोटम से सम्बन्धित विभिन्न धारणाओं, विश्वासों एवं संगठन को ही टोटमवाद कहा जाता है। दुर्खीम ने टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी हैं—

**(1) निन्दा**—टोटम सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने वालों की सामाजिक निन्दा की जाती है और नियमों का पालन करने वालों को सम्मान दिया जाता है।

**(2) पाप**—टोटम पवित्र है, अतः उसे मारना या हानि पहुँचाना साधारणतः पाप माना जाता है।

**(3) सहायक**—गोत्र के सदस्य यह विश्वास करते हैं कि उनका टोटम संकट में उनकी रक्षा करता है, भविष्यवाणियाँ करता है, चेतावनियाँ देता है, ऐसा करने के लिये वह स्वप्न में आकर कोई बात कह सकता है और वह पशु है तो उसकी विशिष्ट बोली किसी घटना का पूर्व संकेत है।

**(4) पवित्र सम्बन्ध**—एक गोत्र का एक टोटम होता है जिसके साथ गोत्र के सभी सदस्य अपना पवित्र सम्बन्ध मानते हैं।

**(5) आदर**—टोटम के प्रति आदर की भावना के कारण उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जात है। यदि वह कोई पशु है तो त्यौहारों एवं विशेष अवसरों पर उसकी खाल पहनी जाती है तथा उसके चित्र घर में लगाये एवं गुदवाये जाते हैं।

**(6) सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक**—टोटम एक गोत्र के सदस्यों को नैतिक बन्धन में बाँधता है। एक टोटम को मानने वाले स्वयं को भाई-बहिन मानते हैं, अतः वे टोटम बहिर्विवाह का पालन करते हैं, तथापि बहिर्विवाह का नियम सदा ही नहीं माना जाता है।

हम दुर्खीम के सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं। संक्षेप में धार्मिक प्रतिनिधित्व सामूहिक प्रतिनिधित्व की ही अभिव्यक्ति है, समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है, धार्मिक शक्तियाँ कोई पृथक शक्तियाँ नहीं वरन् मानवीय और नैतिक शक्तियाँ ही हैं।

### आलोचना

टोटमवाद की आलोचना निम्न आधारों पर की गयी है—

**(1) एक पूर्वज की धारणा समझ से परे**—टोटमवाद की मान्यता यह है कि प्रत्येक जाति का मानव एक सामान्य पूर्वज की सन्तान है। इससे जाति के सदस्यों के मध्य प्रेम, प्रातृत्व भावना आदि का काफी प्राह माना जाता था। जाति के पूर्वज एक होने के कारण जातीय या रक्त की एकता की भावना का विकास होता है।

**(2) अपर्याप्त धारणा**—टोटमवाद अत्यधिक प्राचीन मत है। वर्तमान सभ्य मानव समाज में भी यह किसी न किसी रूप में वर्तमान है। प्रायः औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देशों में यह पूर्णतः व्यापत है। तथापि इसे सर्वव्यापक और सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

**(3) टोटम धर्म नहीं**—समाजशास्त्री दुर्खीम ने टोटमवाद की व्याख्या धर्म व जाति तथा समाज के मूल के रूप में की है। पर इसे धर्म के रूप में स्वीकार करना भूल होगी। जेवन्स ने इससे पूर्व की अवस्था का वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि टोटमवाद को धर्म नहीं माना जा सकता है।

**(4) अनुचित धारणा**—टोटमवाद में पशुओं तथा वृक्षों की शक्ति तथा रक्त सम्बन्धों का प्रतीक मानवीय रक्त सम्बन्धों का आरोपण एक अनुचित धारणा हैं। यह एक प्राचीन अन्धविश्वास अधिक प्रतीक होता है।

**(5) मानवीय सिद्धान्त नहीं**—टोटमवाद सार्वभौम मानवीय सिद्धान्त नहीं है। यह जातीय और सामाजिक ही सिद्धान्त ही अधिक है।

**(6) ईश्वर की सत्ता का अभाव**—टोटमवाद में किसी ईश्वरीय सत्ता का आभास नहीं मिलता। धर्म में पशुवाद तथा वृक्षवाद का अस्तित्व स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसे एक सामाजिक सत्ता के रूप में ही माना जा सकता है।

**मूल्यांकन**—टोटमवाद जातीय और सामाजिक एकता तथा आत्मीयता का भाव उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त का महत्व धार्मिक अध्ययन की दृष्टि से चाहे न हो पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अत्यधिक है। टोटमवाद के रूप में धर्म को प्रायः अनेकों विद्वानों ने अस्वीकार कर दिया है। अतः अन्य धार्मिक सिद्धान्तों की भाँति इसे धर्म की उत्पत्ति का उपयुक्त सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

### धर्म की उत्पत्ति का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theory of Religions Origin)

धर्म की उत्पत्ति के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रारम्भ राबर्टसन स्मिथ के नाम से जुड़ा हुआ है। उसका विचार था कि धर्म का उदय किसी अलौकिक शक्ति में विश्रास के कारण न होकर कतिपय सामाजिक कारणों से हुआ है। उसके अनुसार, धार्मिक श्रद्धा के विकास का कारण विश्वास से पहले व्यवहार रहा होगा। व्यवहार कारम तथा विश्वास उसका प्रभाव है। राबर्टसन स्मिथ का यह सिद्धान्त धर्म के समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों की आगे की खोज का आधार बन गया।

धर्म की उत्पत्ति के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिपादकों में दूसरा प्रतिभावान् नाम दर्खीम का आता है। दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों, जिन्हें वह सभी आदिवासियों में प्राचीन मानता है, का अध्ययन किया। दुर्खीम ने अपने से पूर्व के धर्म की उत्पत्ति के समस्त अनुमानों का खण्डन किया और यह प्रतिपादित किया कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक घटना है। सामूहिक चेतना का प्रतीक है। दुर्खीम ने बताया कि आदिम मनुष्य भी सभ्य मनुष्य के समान दिन प्रतिदिन के कार्यों से ऊब जाता है। अतः वह स्वयं को ताजा करने के लिये अपने साथियों के साथ एक स्थान पर एकत्रित होकर त्यौहार आदि मनाता है। इन त्यौहारों में नृत्य तथा गीतों की प्रक्रिया में उसे सबके साथ रहने से एक प्रकार की आत्म सन्तुष्टि, निर्भयता और आराम की प्राप्ति होती है। इस समय उसकी भावनायें उच्चतम संवेगों से प्रेरित होती है। पवित्रता की तीव्रतम अनुभूति के मध्य मानव सामूहिक शक्ति की भावना से प्रेरित होता है। वह समूह में एक प्रकार की शक्ति का अनुभव करता है।

## ● धर्म दर्शन तथा विज्ञान (Philosophy of Religion and Science)

### विज्ञान का अर्थ (Meaning of Science)

प्राकृतिक विज्ञान मानव ज्ञान की वह शाखा है, जो स्वयं को पदार्थों के विवेचन विश्लेषण तक सीमित रखती है। प्रकृति विज्ञान के किसी अंग का दर्शन तथा धर्म आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन **प्रो० एडवर्ड** का मत है कि कुछ कार्य संसार के ऐसे हैं जो विज्ञान नहीं कर सकता। ऐसे कार्यों को करने के लिये धर्म व दर्शन की आवश्यकता होती है। विज्ञान ने बीसवीं शताब्दी के मानव को वह दृष्टि प्रदान की है, जिससे वह किसी वस्तु की सत्यता की जाँच-पड़ताल कर सकता है। संसार क्या है? मानव चेतना का अस्तित्व क्या है? आकाश, ग्रह, नक्षत्र तथा अन्याय पदार्थों की स्थिति क्या है? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर पहले धार्मिक पुरुष रहस्यवादी ढंग से दिया करता था, पर विज्ञान ने इनकी वास्तविकता प्रकट कर मनुष्य को बतला दिया कि सत्य इन मिथ्या बातों से सर्वथा भिन्न है। दर्शन व विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करने का अधिकांश बातों में विरोध व कुछ बातों में समानता दृष्टिगोचर होगी।

## धर्म व विज्ञान में अन्तर (Difference between Religion and Science)

| अन्तर का आधार | | धर्म | विज्ञान |
|---|---|---|---|
| 1. | अस्तित्व के लिये आश्रय | धर्म का उद्भावक ईश्वर है। ईश्वर कल्पनात्मक है, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में निष्पक्ष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। | विज्ञान मानवीय ज्ञान की वह शाखा है जो अपने अस्तित्व के लिये मानवीय ज्ञान पर आधारित है। |
| 2. | प्रकृति | धर्म की प्रकृति जोड़ने की है। वह मनुष्य को जोड़कर देखता है। वह मनुष्य को परमात्मा की वृहद् इकाई के रूप में देखता है। | प्रकृति विज्ञान की प्रकृति विश्लेषणात्मक है। यह पदार्थों का विभाजन करके उनके तत्वों को ज्ञात करता है। |
| 3. | आधार | धर्म श्रद्धा व विश्वास का विषय है। इसे भावना तथा अनुभूति के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। | विज्ञान तथ्यात्मक है। इसका मूल आधार पदार्थवाद है। अनुभूति, कल्पना तथा भावना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। |
| 4. | अन्धविश्वास | धर्म में अन्धविश्वास तथा बाह्य आडम्बर सम्भव है। | विज्ञान में किसी प्रकार के अन्धविश्वास के लिये कोई स्थान नहीं होता है। |
| 5. | उद्भव | धर्म का उद्भव मानव की प्राचीन धारणा अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भय के कारण हुआ था। | विज्ञान का उद्भव व विकास मानव की ज्ञान-पिपासा तथा खोजों के परिणामस्वरूप हुआ है। |
| 6. | क्षेत्र | धर्म एक देशीय व जातीय हो सकता है, जैसे हिन्दू, इस्लाम, यहूदी, ईसाई आदि। | विज्ञान सार्वभौम तथा विश्वव्यापी है। |
| 7. | ईश्वर में आस्था | धर्म आस्तिकता का सूचक है। यद्यपि कुछ धर्म ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। | विज्ञान पूर्णरूपेण नास्तिक है। इसके लिये ईश्वर का कोई महत्व नहीं है। |
| 8. | स्वरूप | धर्म परम्परागत व प्राचीन है। | विज्ञान आधुनिक है। |
| 9. | मानवीय भावनायें | धर्म में मानवीय भावनाओं का प्रमुख स्थान है। इसमें करुणा, सहानुभूति तथा दया आदि के भाव मिश्रित होते हैं। | विज्ञान में मानवीय भावनाओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। वैज्ञानिक जो देखता है, वही कहता है। |
| 10. | परिवर्तन | धर्म के तत्व देश काल तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। | विज्ञान के तत्व अपरिवर्तित हैं। किसी एक तत्व पर सम्पूर्ण विश्व के वैज्ञानिकों में प्राय: मतैक्य होता है। |
| 11. | दृष्टिकोण | धर्म का दृष्टिकोण मानव जीवन के प्रति नकारात्मक है। | विज्ञान का दृष्टिकोण सकारात्मक है। |
| 12. | व्यक्तिगत | धर्म व्यक्तिगत है। | विज्ञान सार्वभौमिक है। |
| 13. | अनुकूलता | धर्म वर्तमान समय की विश्वधारा के प्रतिकूल है। | विज्ञान समय की धारा के अनुकूल है। |
| 14. | स्थिरता | धर्म स्थिर है। | विज्ञान गतिशीलता का सूचक है। |
| 15. | प्रयोग | धर्म पर किसी प्रकार का प्रयोग अथवा परीक्षण सम्भव नहीं। | विज्ञान का जन्म ही परीक्षण व प्रयोग से हुआ है। |

## धर्म व विज्ञान में समानता (Similarity between Religion & Science)

धर्म व विज्ञान में कतिपय समानतायें निम्न प्रकार हैं—

**(1) उद्देश्य की समानता** (Similarity of Objectives)—धर्म व विज्ञान दोनों का उद्देश्य 'सत्य' का साक्षात्कार करना है। दोनों अपने-अपने रास्ते से सत्य को खोजने का दावा करते हैं। विज्ञान कार्य कारण सम्बन्धों को मानता है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। कार्य कारण परम्परा अनादि है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इनका भी अस्तित्व अन्य कारणों में निहित है। ठोस पदार्थ कणों में विभाजित हो जाते हैं तथा बारीक कणों में विभक्त होकर परमाणु सदृश हो जाते हैं। परमाणुओं के विखण्डन से ज्ञात होता है, कि प्रत्येक परमाणु में न्यूट्रान, प्रोट्रान तत्व निहित हैं। इनमें घनात्मक व ऋणात्मक विद्युत का प्रवाह चला करता है। अन्ततः यह ज्ञात होता है कि न पदार्थ का अस्तित्व है और न परमाणु का अस्तित्व है। केवल गति अथवा शक्ति शेष रहती है। वैज्ञानिक कह सकता है कि ग्रह, नक्षत्र, तारे, पृथ्वी सब कुछ परमाणुओं की लीला है। यह अनादि काल के विकास का परिणाम है। पर इन समस्त वस्तुओं के आदि कारण के सम्बन्ध में विज्ञान मौन हो जाता है। यहीं धार्मिक व्यक्ति बतलाता है कि जगत् का अन्तिम कारण ईश्वर है।

**(2) दोनों का लक्ष्य मानव का अधिकतम कल्याण** (Human Welfare, the Goal of the Both)—धर्म व विज्ञान दोनों का लक्ष्य मानव-जीवन को अधिक-से-अधिक सुखमय बनाना है। तथापि दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। ये मार्ग निम्न प्रकार हैं—

(i) धर्म आध्यात्मिक मार्ग बताता है।

(ii) विज्ञान भौतिक मार्ग बताता है। मनुष्य को अपने सुख और कल्याण के लिये भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति की आवश्कयता है।

दोनों प्रकार की सम्पत्तियों की सीमायें हैं—

(a) केवल आध्यात्म व्यक्ति को रोटी, कपड़ा, मकान और अन्यान्य वस्तुयें प्रदान नहीं कर सकता है। उसे विज्ञान की शरण में जाना होगा।

(b) केवल विज्ञान भी व्यक्ति के जीवन को सुखमय नहीं बना सकता है। भौतिक द्रव्यों की लालसा तथा उनके प्रति बढ़ती हुई आकांक्षा उसे भौतिकता का दास बना देगी। वह अपनी मानसिक शान्ति खो बैठेगा और सुख और सन्तोष से दूर चला जायेगा।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञान तथा धर्म दोनों का समन्वय ही जीवन को सुखी बना सकता है।

**(3) स्वतन्त्र चिन्तन** (Independent thinking)—वैज्ञानिक अपने क्षेत्र में सत्यान्वेषण के लिये स्वतन्त्र चिन्तन करता है। वह एक सिद्धान्त प्रतिपादित कर डालता है। इसी प्रकार धर्म दर्शन का मनीषी भी धार्मिक आचार-विचार की परम्परा से दूर हटकर अपने चिंतन के आधार पर जीवन व जगत् के सम्बन्ध में मौलिक उद्भावनायें करता रहता है। धर्म व विज्ञान स्वतन्त्र चिन्तन के मार्ग पर चलकर किसी दिन अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं।

**(4) अंशा-अंशी का सम्बन्ध** (Relations between the Whole and Part)—धर्म विश्व को सम्पूर्ण के दृष्टिकोण से देखता है। धर्म खण्डिप सत्य स्थापित न कर सम्पूर्ण सत्य को खोजता है। धर्म का मूल ईश्वर है। वह उसे सम्पूर्ण के रूप में देखता तथा स्वीकार करता है। विज्ञान इसके विपरीत सम्पूर्ण सत्य को प्रकट करने का दावा नहीं करता है। एक अंश ज्ञान का उद्घाटन करता है व दूसरा पूर्ण सत्य के उद्घाटन का दावा करता है। अतः दोनों में अंशा-अंशी सम्बन्ध माना जा सकता है।

**(5) क्रियाविधि की दृष्टि से सम्बन्ध** (Relation from the View of Working Process)—बहुधा वे सत्य जो भूतकाल में केवल धार्मिक अन्धविश्वास समझे जाते थे, आज वैज्ञानिकों द्वारा भी पुष्ट किये जा रहे हैं। धार्मिक तत्व विद्या के रहस्य वैज्ञानिक अध्ययन व परीक्षण की पद्धति पर कितने सही उतरते हैं, वर्तमान समय में यह ज्ञात करने का प्रयास किया जा रहा है। विज्ञान चिन्तन तथा तर्क प्रधान है, इसके विपरीत धर्म अनुभव मूलक है। संसार में अनेक वस्तुयें ऐसी हैं, जिन पर किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रयोग के परीक्षण सम्भव नहीं है। उन्हें केवल अनुभव के आधार पर ही ज्ञात किया जा सकता है। जैसे हृदय स्थित मनोभाव प्रेम, करुणा, सहानुभूति, दया, घृणा, वैर, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि।

**(6) संघर्ष का अभाव** (Lack of Any Struggle)—वस्तुत: धर्म तथा विज्ञान के मध्य संघर्ष हमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। दोनों में निहित समानता का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(i) वैज्ञानिक भौतिक जगत् की सत्यता प्रतिपादित नहीं कर सके हैं। आध्यात्म तथा विज्ञान दोनों इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं। इस प्रकार धर्म व विज्ञान विरोधी न होकर सत्य के अन्वेषण की दो पद्धतियाँ हैं। दोनों में एक बिन्दु पर जाकर समानता हो जाती है।

(ii) धर्म कतिपय रहस्यों को सुलझाने के प्रयास में असफल हो गया था। अब महान् वैज्ञानिकों की प्राकृतिक रहस्यों को समझ लेने की असमर्थता इस बात की सूचक है कि धर्म व विज्ञान एक अर्थ बिन्दु पर समझौता करने जा रहे हैं।

(iii) तीसरे, धर्म व विज्ञान अपनी-अपनी परिधि में एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। कभी-कभी वे अपनी-अपनी सीमा का अतिक्रमण करके एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। उस समय विरोध उत्पन्न होता है।

**निष्कर्ष** (Conclusion)—इस प्रकार धर्म व दर्शन के मध्य लक्ष्य की दृष्टि से, सत्यान्वेषण की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है। भौतिक जगत् मानव के आन्तरिक जगत् की उद्भावना मात्र है। तथापि यह विस्मृत नहीं किया जा सकता है कि विज्ञान का विकास ही धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध हुआ है।

## ● धर्म दर्शन तथा दर्शनशास्त्र (Philosophy of Religion and Philosophy)

### धर्म का अर्थ (Meaning of Religion)

विचारकों का कथन है कि सर्वप्रथम मानवीय हृदय से धर्म का आविर्भाव भय के कारण हुआ। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य ने एक ऐसी क्रियाविधि तथा काल्पनिक ईश्वर आविष्कृत कर लिया, जिसमें उसने अपनी भावनाओं का आधार खोजने का प्रयास किया। **प्रो० गैलोबे** के शब्दों में, ''मनुष्य अपने को सीमित, असहाय व अपूर्ण पाकर असन्तोष की आह भरता है। विज्ञान व वैज्ञानिक उसकी आध्यात्मिक भूख मिटाने में असमर्थ हैं। अपने को पूर्ण, असीम तथा शक्तिशाली बनाने की इच्छा उसे सदैव बेचैन बनाये रखती है। इसी इच्छा की पूर्ति के लिये वह धर्म की शरण लेता है।''

इस प्रकार मनुष्य अपनी पूर्णता के लिये ही धर्म की शरण लेता है।

**धर्म के सामान्य लक्षण** (General Characteristics of Religion)—धर्म के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं—

**(1) दु:ख का निवारण** (Eradication of Pain)—धर्म का आधार मनुष्य की असहाय, अपूर्ण, सीमित तथा दु:खी होने की भावना है। प्राचीन काल से ही मनुष्य यह विश्वास करता रहा है कि धर्म ही उसे दु:खों से सुख की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर कर सुखी, सन्तोषी, पूर्ण व शक्तिशाली बना सकता है।

**(2) ईश्वर में आस्था** (Belief in the God)—धर्म का दूसरा आधार 'ईश्वर' है। प्रत्येक धार्मिक क्रिया ईश्वर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही की जाती है। प्रत्येक धार्मिक मनुष्य को यह आस्था होती है कि मनुष्य के बिगड़े हुये कार्य भी ईश्वर की कृपा से बन सकते हैं, उसकी कृपा न होने पर बना कार्य भी बिगड़ सकता है।

**(3) व्यावहारिकता** (Practicability)—धर्म व्यावहारिक मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म का उद्देश्य मानव की मानसिक व दार्शनिक तृप्ति न होकर एक व्यावहारिक दिशा-निर्देश है। एक दार्शनिक अपने चिन्तन में तथा एक वैज्ञानिक अपनी खोज में स्वयं आनन्द अनुभव कर सकता है, पर धर्म से सम्पूर्ण मानव-समाज अवगाहम करता है। पर धर्म की अनुभूति तक इस प्रकार धर्म का व्यावहारिक पक्ष अत्यधिक सरल है।

**(4) व्यापक क्षेत्र** (Wide Scope)—धार्मिक चेतना का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। धर्म का उद्देश्य एकांगी न होकर **'वसुधैव कुटुम्बकम'** की भावना पर आधारित है।

**दर्शन का अर्थ (Meaning of Philosophy)**

दर्शन का शाब्दिक अर्थ है जीवन को 'देखना' तथा 'समझना'। जब मनुष्य अपने चारों ओर के परिवेश को देखता है और उसके पश्चात् मानव जीवन को देखता है तब वह स्वयं को विचित्र विकट समस्याओं के जाल में घिरा हुआ पाता है। वह यह विचार करना आरंभ कर देता है कि जीवन क्या है? मानव जीवन कितना तुच्छ व निराश्रय है? सांसारिक जीवन कितना क्षणभंगुर है? मनुष्य क्यों जन्म लेता है? उसकी क्यों मृत्यु होती है? यह जगत क्या है? इसका अन्त कहाँ है? आत्मा-परमात्मा आदि क्या हैं? जब व्यक्ति इन समस्त समस्याओं का बौद्धिक उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करता है तब एक चिन्तन प्रधान प्रक्रिया से विसरित होने वाले तत्व ज्ञान को दर्शन के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार इस जगत की समस्त अनुभूतियों की बौद्धिक व्याख्या ही दर्शन है।

**दर्शन की सामान्य विशेषतायें** (Chief Characteristics of Philosophy)—दर्शन की सामान्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

**(1) सम्पूर्ण जगत् का अध्ययन** (Study of the Whole Universe)—दर्शन शास्त्र इस जगत् के किसी एक पक्ष अथवा अंग का अध्ययन सम्पूर्ण मानव जीवन तथा सम्पूर्ण जगत् को एक इकाई मानकर विवेचन करने का प्रयास करता है।

**(2) दर्शन की उत्पत्ति** (Origin of Philosophy)—दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है। मनुष्य जब जगत् व जीवन को समझने का प्रयास करता है तब एक स्वाभाविक चिन्तन के द्वारा विश्व दृष्टिकोण विकसित होता है। इसी चिनतन को दर्शन करते हैं।

**(3) दर्शन की प्रकृति** (Nature of Philosophy)—दर्शन की प्रकृति तर्क व विश्लेषण प्रदान होती है। इसमें भावना व कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

**(4) वस्तुनिष्ठता** (Objectivity)—जिस प्रकार किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर वैज्ञानिक के व्यक्तित्व की छाप नहीं पड़ सकती उसी प्रकार दार्शनिक के चिन्तन पर भी उसके व्यक्तित्व की छाप नहीं दिखलाई पड़ती। दार्शनिक निष्पक्ष होकर सत्यान्वेषण करता है।

**(5) अव्यावहारिकता** (Impracticability)—दर्शन अव्यावहारिक होता है तथा सिद्धान्तों पर आधारित होता है। तथापि प्रत्येक दर्शन का एक व्यावहारिक पक्ष भी होता है। व्यवहार के अभाव में दर्शन कोरे सिद्धान्त तथा ज्ञान का विषय बनकर रह जाता है।

**(6) अनूभूतियों का परीक्षण** (Test of the Feelings)—दर्शन में आराध्यदेव जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसमें दार्शनिक एक वैज्ञानिक की भाँति विश्व रूपी प्रयोगशाला में मानव जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों की सत्यता की जाँच करने का प्रयास करता है।

### पाश्चात्य दृष्टिकोण व भारतीय दृष्टिकोण (Western and Indian Approaches)

पाश्चात्य दृष्टिकोण से धर्म व दर्शन दो पृथक् वस्तुयें हैं। पर भारतीय दृष्टिकोण से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। भारतीय चिन्तन के इतिहास में दर्शन धर्म का ही एक अंग है। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक एक दार्शनिक होने के साथ-साथ किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी उदाहरणार्थ अद्वैतवाद के महान् प्रवर्तक शंकराचार्य धार्मिक पुरुष व महान् दार्शनिक थे। शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन बौद्ध भिक्षु थे। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य किसी-न-किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक होने के साथ ही साथ दार्शनिक भी थे।

भारतीय चिन्तन के इतिहास में धर्म व दर्शन साथ-साथ चलते हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि मोक्ष प्राप्त करने के तीन मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। कर्मशील व्यक्ति कर्मयोग से मुक्ति प्राप्त करता है, जनसाधारण भक्तगण श्रद्धा व विश्वास से ईश्वर के भजन-पूजन से मुक्ति प्राप्त करता है। ज्ञानी व दार्शनिक ज्ञान से मुक्ति प्राप्त करता है।

### धर्म व दर्शन में अन्तर (Difference between Religion and Philosophy)

| अन्तर का आधार | | धर्म | दर्शन |
|---|---|---|---|
| 1. | उत्पत्ति | धर्म की उत्पत्ति आध्यात्मिक भूख से होती है। मनुष्य स्वयं की प्राकृतिक शक्तियों के सामने असहाय पाता है। अत: वह धर्म की ओर झुकता है। | दर्शन की उत्पत्ति ज्ञान की जिज्ञासा के कारण होती है। इसमें बौद्धिकता मुख्य रहती है। दर्शन ईश्वर, आत्मा, जीवन, मरण आदि समस्याओं की जिज्ञासा के साथ उत्पन्न होता है। |
| 2. | उद्देश्य | धर्म आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास करता है। यह भावमय है। धर्म की प्रकृति ही भावना व कल्पना में निहित है। | दर्शन का उद्देश्य सत्य की खोज करना है। |
| 3. | दृष्टिकोण | धार्मिक दृष्टिकोण व्यावहारिक है। धर्म व्यावहारिक रीति-नीति के आधार पर मानवीय पूर्णता तथा सुखमय जीवन की ओर संकेत करता है। | दर्शन सैद्धान्तिक है तथापि यह व्यावहारिक दिशा निर्देश करता है। यदि दर्शन का व्यावहारिक पक्ष न हो तब वह केवल शब्द ज्ञान के अतिरिक्त कोई महत्व नहीं रखता। |
| 4. | ईश्वर का स्थान | धर्म ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। धर्म में कल्पना व भावना प्रमुख है। | दर्शन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप करता है। दर्शन ईश्वर को तर्क की कसौटी पर कस कर ही उसकी सत्यता को स्वीकार कर सकता है। |
| 5. | मूल उद्देश्य | धर्म का मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। धर्म मनुष्य को एक अलौकिक स्वर्ग के संसार का स्वप्न दिखलाकर आकर्षित कर लेता है। | दर्शन में ज्ञान की पिपासा ही प्रधान है। दर्शन ऐसे किसी मोक्ष अथवा अलौकिक सत्य के लिये वचनबद्ध नहीं है। |
| 6. | आधार | धर्म, विश्वास व अन्तरानुभूति पर आधारित है। धर्म की मान्यता है कि तार्किक आधार पर किसी तथ्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है, तर्क का कहीं अन्त नहीं होता है। | दर्शन विश्लेषण व निरीक्षण पर आधारित ज्ञान है। तर्क के आधार पर होने के कारण यह सहज ही किसी तथ्य को स्वीकार नहीं करता। जो बात तर्क सिद्ध है, दर्शन उसे ही ग्रहण करता है। |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 7. | उपयोगिता | धर्म की उपयोगिता मानव समाज में व्यवहार की दृष्टि से अधिक है। धर्म मनुष्य की क्रियात्मक, भावात्मक तथा बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। | दर्शन केवल मनुष्य की बौद्धिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। |
| 8. | क्षेत्र | धर्म का क्षेत्र सीमित है। धर्म मनुष्य को मोक्ष दिलाने, आवागमन के बन्धन से मुक्त कराने तथा जीवन को सुखमय बनाने की कल्पना तक सीमित है। इसका अध्ययन क्षेत्र सीमित है। | दर्शन का अध्ययन क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। मानव जीवन का तथा मानवीय ज्ञान का कोई स्रोत ऐसा नहीं है जिसका एक दार्शनिक पक्ष न हो। |
| 9. | वैज्ञानिक | धर्म अवैधानिक मान्यताओं पर आधारित है। अत: धर्म में अनेकों निराधार अंधविश्वासी प्रवेश कर जाते हैं। | दर्शन वैज्ञानिक व विश्लेषण प्रधान होने के कारण इन दोषों से सर्वथा मुक्त होता है। |

दर्शन व धर्म के मध्य विभिन्न दृष्टिकोणों से मुख्य अन्तर निम्न प्रकार हैं—

**(1) लक्ष्य** (Objectives)—दर्शन का लक्ष्य जगत् की व्याख्या करना है। धर्म का लक्ष्य जगत् में मूल्यों का संरक्षण है।

**(2) समस्यायें** (Problems)—दार्शनिक समस्यायें मूल रूप से सैद्धान्तिक हैं पर धार्मिक समस्यायें मुख्य रूप से व्यावहारिक हैं।

**(3) दृष्टिकोण** (Approach)—दार्शनिक दृष्टिकोण संवेगहीन और तटस्थ है, धार्मिक दृष्टिकोण संवेगमय है। उसमें भय, आशा, निराशा, आस्था आदि से जुड़े हुये संवेग देखे जा सकते हैं।

**(4) विधि** (Method)—दार्शनिक विधियाँ मुख्यतया बौद्धिक हैं, धर्म की विधियाँ भावना-प्रधान हैं।

**(5) क्रियायें** (Activities)—दार्शनिकों की क्रियायें धार्मिक व्यक्तियों की क्रियाओं से भिन्न होती हैं। दार्शनिक क्रियायें चिन्तन-प्रधान हैं पर धार्मिक क्रियायें प्रार्थना, पूजा, निवेदन इत्यादि भावनामय क्रियायें हैं।

**(6) समाधान** (Solution)—दार्शनिक कुछ समस्याओं के समाधान खोजने में लगा रहता है। धार्मिक व्यक्ति का लक्ष्य समस्याओं के हल खोजना नहीं बल्कि अपनी आस्था के अनुसार परम शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करना है।

**(7) प्रभाव** (Influence)—व्यक्ति पर दर्शन का प्रभाव चिन्तनशील और धर्म का प्रभाव भक्ति के रूप में दिखलाई पड़ता है। समाज में दर्शन का प्रभाव प्रचलित विचारों पर और धर्म का प्रभाव क्रियाओं पर अधिक दिखलाई पड़ता है।

### धर्म और दर्शन का सम्बन्ध
### (Relation between Religion and Philosophy)

धर्म तथा दर्शन के मध्य उपरोक्त अन्तर होने पर भी यह विस्मृत नहीं करना चाहिये कि धर्म तथा दर्शन विभिन्न क्षेत्रों जैसे—समस्या, दृष्टिकोण, विधि, क्रिया, निष्कर्ष, प्रभाव आदि सभी कारकों में परस्पर पूरक हैं विरोधी नहीं। दोनों के मध्य अन्योन्याश्रितता तथा पूरकता का अध्ययन अग्र प्रकार किया जा सकता है—

**(1) लक्ष्य** (Objective)—धार्मिक व्यक्ति की भाँति दार्शनिक का लक्ष्य भी उच्च जीवन व्यतीत करना ही है। भारतीय दार्शनिक लक्ष्यों पर पहुँचने के लिये भक्ति को भी आवश्यक मानते रहे हैं। भारत में मोक्ष को परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

**(2) भूमिका** (Role)—धर्म और दर्शन दोनों ही व्यक्ति और समाज के जीवन को ऊँचा उठाते हैं।

**(3 हानियाँ** (Demerits)—यदि कभी धर्म व्यक्ति और समाज को हानि पहुँचाता है तो कुछ दर्शन भी हानि पहुँचाते हैं।

**(4) आवश्यकता** (Necessity)—मनुष्य को अच्छे दर्शन की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि अच्छे धर्म की।

**(5) सिद्धान्त व व्यवहार** (Theory of Practice)—दर्शन मौखिक अथवा सैद्धान्तिक है और धर्म व्यावहारिक। व्यवहार के अभाव में सिद्धान्त एक खोखला मानसिक विश्वासमात्र है। इसी प्रकार सिद्धान्त के अभाव में व्यवहार केवल अन्धप्रवृत्ति है।

**(6) सहयोग** (Co-operation)—परम सत्य दर्शन और धर्म के सहयोग से ही प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जहाँ दर्शन का अन्त है वहाँ धर्म का प्रारम्भ है। परिपक्व हो जाने पर मनुष्य के दार्शनिक विचार उसके धार्मिक कार्यों में परिणित हो जाते हैं।

## धर्म दर्शन (Philosophy of Religion)

धर्म और दर्शन के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शन की एक मुख्य शाखा धर्म दर्शन (Philosophy of Religion) में स्पष्ट होता है। धर्म दर्शन धार्मिक अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण और तार्किक व्याख्या है। वह धर्म में उस समस्त कट्टरता तथा तर्कहीनता के विरुद्ध एक उपयुक्त औषधि है, जो धर्म के नाम पर व्याप्त अन्धविश्वासों के लिए उत्तरदायी है।

**धर्म दर्शन का स्वरूप** (Nature of Philosophy of Religion)—धर्म दर्शन का स्वरूप स्पष्ट करने से पूर्व उसकी शाब्दिक व्याख्या करना उपयुक्त है। धर्म दर्शन में दो शब्द हैं—धर्म तथा दर्शन।

**धर्म**—धर्म सर्वग्राही परम मूल्य ईश्वर की सिद्धि में आस्था है।

**दर्शन**—दर्शन तथ्यों और मूल्यों की एक बौद्धिक व्यवस्था है।

इस प्रकार धर्म के दर्शन का स्वरूप निम्न प्रकार है—

**(1) धर्म के सत्यों की अनुभूति व नियमों की व्याख्या**—धर्म दर्शन का कार्य अपनी भाषा में और मानव के तार्किक तथा बौद्धिक अंगों के लिये धर्म के सत्यों की अनुभूतियों तथा नियमों की व्याख्या करना है।

**(2) धार्मिक अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण**—धार्मिक अनुभूतियों की व्याख्या तथा व्यक्तिगत अनुभवों को सार्वजनिक बनाने के लिये तर्क और भाषा अनिवार्य है, धर्म का दर्शन धार्मिक अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण तथा तार्किक व्याख्या करता है।

**(3) कट्टरता का निवारण**—धर्म दर्शन धर्म में उस समस्त कट्टरता और तर्कहीनता के विरुद्ध एक उपयुक्त औषधि है, जो कि धर्म के नाम पर व्याप्त अन्धविश्वासों का मूल कारण है।

धर्म दर्शन के सम्बन्ध में दार्शनिक या अध्ययनकर्त्ता को कतिपय नियमों का पालन करना चाहिये—

(i) दर्शन को धर्म के अतिमानसिक तत्व का विश्लेषण करने का प्रयास नहीं करना चाहिये।

(ii) यह आवश्यक है कि धर्म की विवेचना करने वाला दार्शनिक स्वयं भी धार्मिक हो। व्यक्तिगत अनुभव के अभाव में कितना बौद्धिक मनन क्यों न किया जाये, पर धर्म समझ में नहीं आ सकता है।

(iii) धर्म का दर्शन अनुभव पर आधारित होना चाहिये। धर्म की सभी समस्यायें आस्था, उपासना, परम्परा, अनुभूति और अमरत्व इत्यादि अनुभव के अन्तर्गत ही आती हैं। यथार्थ अनुभव के अभाव में तर्क द्वारा धर्म की आलोचना किये जाने पर धर्म के दर्शन में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

**निष्कर्ष** (Conclusion)—निस्संदेह दर्शन व धर्म के मध्य कतिपय समानतायें भी हैं, पर यह समानता नाममात्र की ही है। दर्शन स्वभाव, प्रकृति, क्रियाविधि, दृष्टिकोण, लक्ष्य आदि समस्त दृष्टिकोणों से धर्म से दूर

**(2) नैतिकता धर्म से पूर्व है** (Morality is Prior to Religion)—काण्ट आदि विचारकों का मत है कि धर्म नैतिकता पर आधारित है तथा ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के अस्तित्व पर निर्भर है।

**विशेषतायें** (Characteristics)—इस मत ने प्रतिपादित किया है कि सद्गुण के साथ आनन्द अनिवार्य है। पूर्ण शुभ में केवल सर्वोच्च शुभ ही नहीं, वरन् परमानन्द भी सम्मिलित है। सद्गुण तो परम शुभ है ही, पर आनन्द के अभाव से वह पूर्ण शुभ नहीं बनता। पर इस जगत् में सद्गुणों के साथ आनन्द सदैव नहीं रहा। अनेक उदाहरणों में अच्छे व्यक्तियों को कष्ट झेलने पड़ते हैं तथा बुरे मनुष्य आनन्द करते हैं। यदि नैतिक विधान सच्चा है, तब ऐसा नहीं होना चाहिये। अतएव काण्ट ने ईश्वर की कल्पना की है, जो इस जगत् में सद्गुण के साथ आनन्द तथा दुर्गुण के साथ कष्ट की व्याख्या करें।

**आलोचना** (Criticism)—यह मत धर्म के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर देता है। धर्म ईश्वर को प्राप्त करने की प्रेरणा है। नैतिकता ईश्वर को प्राप्त करने का प्रथम सोपान है। ईश्वर केवल आत्मा में ही नहीं, वरन् जगत् में भी व्याप्त रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि साधक 'सर्वभूतहितेरत:' रहे, क्योंकि जगत् के समस्त जीव तथा उनकी व्यवस्था भी भगवान की सृष्टि है। धर्म के लिए नैतिकता आवश्यक है। पर धर्म नैतिकता से पीछे नहीं है, क्योंकि दोनों का ही पृथक्-पृथक् आधार है। संकल्प तथा भावनायें साथ-साथ विकसित होनी चाहिए। मनुष्य पहले नैतिक, बाद में धार्मिक अथवा पहले धार्मिक और बाद में नैतिक नहीं होता है। वह एक ही साथ नैतिक भी है तथा धार्मिक भी है। इस प्रकार सर्वांग दृष्टिकोण से ही मनुष्य पूर्ण हो सकता है।

**(3) धर्म और नैतिकता अन्योन्याश्रित हैं** (Religion and Morality are Inter-dependent)—उपरोक्त दोनों मत एकांगी प्रतीत होते हैं। वस्तुत: धर्म और नैतिकता परस्पर आश्रित हैं। इस मत का समर्थन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

**(i) आधार**—धर्म नीति का आदर्श आधार है।

**(ii) अभिव्यक्ति**—नीति समाज में हमारी आध्यात्मिक चेतना या धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति है।

**(iii) समाज सेवा की भावना**—वह व्यक्ति जो ईश्वर को घट-घट में व्यापक देखता है, अनायास ही समाज सेवा की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

**(iv) ईश्वर के दर्शन**—सच्चा धार्मिक व्यक्ति समस्त संसार को ईश्वरमय देखता है।

**(v) मानवीय व्यक्तित्व का विकास**—धर्म तथा नैतिकता दोनों ही मानवीय व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं।

**(vi) विकास**—मानव का विकास होने पर धर्म और नैतिकता साथ-साथ विकसित होते हैं। दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

**(vii) धर्म में नैतिकता की अनिवार्यता**—यह सम्भव है कि कोई धर्म नैतिकता विहीन हो, पर उस स्थिति में उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म अनैतिक नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म का तात्पर्य ईश्वर के साक्षात्कार में आस्था से है। ईश्वर के साक्षात्कार की स्थिति अनैतिक नहीं हो सकती।

**(viii) सम्पूर्ण व्यक्ति की सन्तुष्टि**—धर्म व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सन्तुष्ट करता है। अतएव धर्म का नैतिक होना आवश्यक है। नैतिकता संकल्पात्मक पक्ष को सन्तुष्ट न कर सकेगी। नैतिकता के अभाव में धर्म अपूर्ण है।

**(ix) प्रतिक्रिया**—नैतिकता धर्म पर प्रतिक्रिया करती है तथा उसको शुद्ध व परिष्कृत बनाती है। इसी प्रकार धर्म नीति पर प्रतिक्रिया करता है तथा उसको प्रेरणा देता है।

**(x) परस्पर पूरक**—धर्म तथा नैतिकता एक-दूसरे के पूरक हैं। वे एक-दूसरे की कमी को पूर्ण नहीं कर सकते। इस प्रकार सर्वांग विकास के लिये धर्म और नैतिकता दोनों ही अनिवार्य हैं।

**ईश्वर का अस्तित्व-नीति तथा धर्म दोनों की मान्यता (Existence of the God-Recognition of both—Morality and Religion)**

ईश्वर का अस्तित्व तथा आत्मा की अमरता यह धर्म तथा नीति दोनों की ही मान्यतायें हैं। ईश्वर के आधार के अभाव में नैतिकता आदर्श कल्पना मात्र है। नैतिक आदर्श ईश्वर के अस्तित्व पर आधारित है। नैतिक आदर्श हमें प्रेरणा देते हैं, क्योंकि वे उस पूर्ण प्रकाश अथवा ईश्वर पर आधारित हैं, जिसकी अल्प ज्योति सभी व्यक्तियों में प्रज्वलित है। ईश्वर साक्षात् पूर्णता है, वह सद्गुणों का आधार है।

इसी प्रकार नैतिकता यह मांग करती है कि आत्मा अमर होनी चाहिये। मनुष्य का जीवन अल्प तथा सीमित है। दूसरी ओर नैतिक आदर्श महान् तथा असीम हैं। सीमित समय में असीमित कार्य की पूर्ति नहीं हो सकती। छोटे से जीवन में मानव पूर्ण आदर्श की प्राप्ति नहीं कर सकता है। एक असीम जीवन होने पर ही नैतिक आदर्शों की क्रमश: प्राप्ति की जा सकती है। ज्ञान, सौन्दर्य तथा शुभ आदि का साक्षात्कार करने की इच्छा की पूर्ति एक ही जीवन में सम्भव नहीं है। नैतिक जीवन स्वयं ही आत्मा की अमरता का प्रमाण है।

इस प्रकार धर्म तथा नैतिकता दोनों ही भावना तथा संकल्प के मार्ग से मानव को परम शुभ, सौन्दर्य तथा ज्ञान और पूर्णता के भंडार भगवान तक ले जाते हैं। धर्म व नैतिकता अन्योन्याश्रित हैं, परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा मानव के सर्वांगीण विकास में दोनों की ही अनिवार्य भूमिका है।

**धर्म व नैतिकता के मध्य सम्बन्ध (Relation between Religion and Morality)**

धर्म व नैतिकता में निम्नलिखित सम्बन्ध हैं—

**(1) सिद्धान्त** (Principles)—नैतिक सिद्धान्त व धार्मिक सिद्धान्तों में कोई अंतर नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व, अमरता की इच्छा, स्वतान्त्र्य आदि धर्म व नीतिशास्त्र दोनों मान्य सिद्धान्त हैं।

**(2) व्यावहारिकता** (Praticability)—नीतिशास्त्र व धर्म दोनों व्यावहारिक हैं।

**(3) तर्क का अभाव** (Lack of Logic)—दोनों में तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है।

**(4) मानव प्रेम** (Love for Humanity)—दोनों शास्त्रों में मानवीय प्रेम, करुणा, सहानुभूति का सर्वोपरि स्थान है।

**(5) उद्देश्य** (Objective)—दोनों का उद्देश्य एक ऐसे विश्व का निर्माण करना है, जो पूर्ण रूपेण नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित हो।

**(6) अटूट सम्बन्ध** (Unbrearable Relation)—सच्चा धार्मिक पुरुष अवश्य नैतिक होगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

**(7) अभाव दोषपूर्ण** (Absence is Defective)—नैतिकता के अभाव में धार्मिक भावना स्वार्थपरता से भर जाती है।

**(8) आधार** (Basis)—शुभ-अशुभ धर्म व नैतिकता दोनों के आधार हैं।

**(9) अस्तित्व के लिये आवश्यक** (Essential for Existence)—नैतिकता के अभाव में धर्म का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

**नैतिकता के लिये धर्म की अपरिहार्यता (Indespensability of Religion for Morality)**

(1) धर्म के अभाव में नैतिकता का महत्व कम हो जाता है।

(2) धर्म के अभाव में नैतिकता स्वार्थपरता में परिवर्तित हो जाती है।

(3) धर्म के अभाव में नैतिकता मानवीकरण के दोषों से ग्रसित हो जाती है।

(4) धर्म के अभाव में नैतिकता व्यक्तिगत रह जाती है। वह सामूहिक आचरण का विषय नहीं बन पाती है।

**निष्कर्ष** (Conclusion)—इस प्रकार धर्म के बिना नैतिकता का कोई महत्व नहीं है। जिस नैतिकता में धर्म भुला दिया जाता है, वह कमजोर होती है। इसका कारण यह है कि यह खुद अन्तर्विरोध में फंस जाती है। इसलिये नैतिक आधार में ईश्वरीय सत्ता को तथा उसकी शक्ति को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

## ● धर्म तथा तर्कशक्ति (Religion and Rationality)

मनुष्य को धार्मिक पशु कहा गया है। मनुष्य और पशु में मूल अन्तर यह है कि मनुष्य धार्मिक होता है, जबकि पशु अधार्मिक है। मनुष्य में धार्मिकता का बोध तर्क-बुद्धि के बल पर होता है। धर्म में तर्क-बुद्धि का योगदान विभिन्न बिन्दुओं पर होता है।

धर्म का आधार धर्मशास्त्र होता है। प्रत्येक धर्म किसी-न-किसी धर्म ग्रन्थ या धर्मशास्त्र पर टिका रहता है। धर्म के सिद्धान्त एवं आदेशों का स्पष्टीकरण उनके धर्मशास्त्र पर निर्भर करता है। इस्लाम कुरान पर, ईसाई धर्म बाइबिल पर आधारित है। हिन्दू धर्म वेद, उपनिषद, एवं भगवद्गीता आदि पर केन्द्रित है। इसी प्रकार अन्य धर्म भी किसी-न-किसी पवित्र धर्मशास्त्र पर आधारित हैं। धर्मों के विभिन्न ग्रन्थों के वाक्यों, श्लोकों एवं पदों (terms) के स्पष्टीकरण के लिए तर्क की आवश्यकता होती है।

यह तर्क का ही प्रभाव है कि उपनिषदों पर टीका करते समय शंकर अद्वैतवाद की प्रस्थापना करते हैं जबकि रामनुज विशिष्टाद्वैत की स्थापना करते हैं। जिस प्रकार शंका का अद्वैतवाद तर्क-बुद्धि पर अवलम्बित है, उसी प्रकार रामानुज का विशिष्टद्वैत तर्क-बुद्धि पर अवलम्बित है। चूँकि धर्मशास्त्र का अर्थ निरुपण तर्क-बुद्धि के द्वारा संभव होता है, इसलिये यह प्रमाणित होता है कि धार्मिक विश्वास का आधार तर्क-बुद्धि है।

तर्क-बुद्धि का दूसरा योगदान यह है कि यह धार्मिक अनुभूति के प्रकाशन में सहायक होता है। धार्मिक अनुभूति अस्थायी होती है। मनुष्य अपने धार्मिक अनुभूति को स्थायी बनाना चाहता है। वह उसे प्रकाशित करना चाहता है ताकि भविष्य में उस अनुभूति को स्मरण किया जा सके। धार्मिक अनुभूति को प्रकाशित करने के लिये प्रत्ययों की आवश्यकता होती है। प्रत्ययों का निर्माण तर्क-बुद्धि के द्वारा होता है। इसे उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रहस्यानुभूति धार्मिक अनुभूति का उदाहरण है। रहस्यात्मक अनुभूति में संज्ञानात्मक तत्व विद्यमान रहता है। रहस्यानुभूति अतिशीघ्र समाप्त हो जाता है। रहस्यवादी को इस अनुभूति से आनन्द एवं उत्साह की प्राप्ति होती है। रहस्यवादी इस अनुभूति को प्रकाशित करना चाहता है ताकि अन्य व्यक्तियों को भी इस अनुभूति का परिचय प्राप्त हो सके। रहस्यात्मक अनुभूति को प्रकाशित करने के लिए प्रत्यय की आवश्यकता होती है। प्रत्यय बुद्धि की देन है। अत: तर्क-बुद्धि धार्मिक अनुभूति को भाषाबद्ध करने में सहायक होती है।

तर्क-बुद्धि का तीसरा योगदान यह है कि इसके बल पर मानव अपने धर्म को सम्यक् रूप से जानने में सक्षम होता है। विश्व में विभिन्न धर्म प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने धर्म से भावनात्मक रूप से सम्बन्धित हैं। हम प्राय: वही धर्म को स्वीकारते हैं जो धर्म हमारे माता-पिता द्वारा मान्य होता है। मनुष्य

स्वभावत: अपने धर्म के विभिन्न पक्षों से अवगत होना चाहता है। प्रारम्भिक अवस्था में धर्म के स्वरूप, भाषा प्रतीक आदि से मानव अनिभिज्ञ रहता है जिसके फलस्वरूप उसका धर्म सम्बन्धी ज्ञान अधूरा रहता है। यदि एक धर्मावलम्बी धर्म का स्वरूप, धर्म की भाषा एवं धर्म के इतिहास से अपरिचित रहता है तब वह धार्मिक कलह और तनाव को आमंत्रित करता है जिसके फलस्वरूप मानव समाज की शान्ति एवं सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। धर्म का सम्यक् ज्ञान के लिए धर्म के विभिन्न पक्षों का ज्ञान आवश्यक है। परन्तु धर्म के पक्षों में ज्ञान के लिए तर्क-बुद्धि अति आवश्यक है। तर्क-बुद्धि के प्रयोग के अभाव में धर्म का ज्ञान अधूरा रह जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि धार्मिक विश्वास का आधार तर्क-बुद्धि है।

तीलिख तर्क-बुद्धि के योगदान को धार्मिक विश्वास के लिए आवश्यक मानते हैं। तीलिख के मतानुसार ईसाई धर्म के सन्देश का स्पष्टीकरण मानव जाति के लिए तर्क-बुद्धि के द्वारा ही संभव होता है। परन्तु अनेक ईश्वर शास्त्री तीलिख के मत का विरोध करते हुए धार्मिक विश्वास का मूल स्त्रोत आस्था को ठहराते हैं। हयूम (Hume) ने आस्था को धार्मिक विश्वास का मूल आधार माना है। उन्होंने कहा है, ''हमारे अधिकांश पुनीत धर्म आस्था पर केन्द्रित हैं, तर्क-बुद्धि पर नहीं।'' परन्तु इससे तर्क-बुद्धि के योगदान को अस्वीकार करना मान्य नहीं होगा। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि धर्म साक्षात् रूप से तर्क-बुद्धि से सम्बन्धित नहीं है। यह असाक्षात रूप से तर्क-बुद्धि से सम्बन्धित है क्योंकि धर्म का मूल आधार आस्था है जो भावना पर केन्द्रित है।

## ● संस्कृतिक व्यवस्था के रूप में धर्म (Religion as Cultural System)

सामाजिक प्राणी होने के नाते, व्यक्तियों को एक-दूसरे की जरूरत पड़ती है और जीवन के नियमित क्रम में घटित होने वाले सुख और दुखों को आपस में बाँटना जरूरी होता है। जीवन की कुछ बातों को तो तर्क, सामान्य-बुद्धि और व्यक्ति उसकी सामाजिक स्थिति से उपलब्ध वैज्ञानिक तार्किकता के संदर्भ में समझा सकता है, लेकिन सभी बातों का तर्कपूर्ण रूप से निष्कर्ष नहीं प्रस्तुत किया जा सकता जिससे वह संतुष्ट हो सके। अत: व्यक्ति को उन घटनाओं और मुद्दों को समझने के लिए जिन्हें वह सामान्य बुद्धि द्वारा या अपने पास उपलब्ध भौतिक वस्तुओं द्वारा नहीं समझ सकता, ज्ञानोदय (स्पष्टीकरण) की जरूरत होती है। ऐसे अनसुलझे रहस्यों और जिज्ञासाओं के बारे में स्पष्टीकरण प्रदान करने में धर्म महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता है। अत: लोग कुछ अलौकिक शक्तियों की रचना करते हैं और यह विश्वास करना शुरू कर देते हैं कि इन शक्तियों ने ही उन्हें (मनुष्यों को) बनाया है। वे आध्यात्मिक रहस्यवादी के क्षेत्र के अंतर्गत अबोध्य प्रश्नों के उत्तर ढूँढते हैं और ऐसे सिद्धान्त वाक्यों से नैतिक आदेश ग्रहण करते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि अधिकांश मामलों में, समाज में व्यक्ति व्याख्यात्मक क्रमों के दो पृथक् स्तरों पर काम करते हैं—लौकिक और पारलौकिक, पवित्र (पावन) और धर्मनिरपेक्ष या साधारण।

### पवित्र और धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के बोध हेतु तीन दृष्टिकोण

धर्म और संस्कृति पर उनके समाजशास्त्रीय संदर्भ में विचार-विमर्श के दौरान दो महत्वपूर्ण संकल्पनाओं पवित्र और धर्मनिरपेक्ष पर गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने की जरूरत है। हर जगह लोग अपनी दुनिया को पवित्र या लौकिक (अपवित्र) या धर्मनिरपेक्ष के क्षेत्रों में बाँटते हैं। इस संदर्भ में, पाठक (विद्यार्थी) के लाभ के लिए धर्म और समाज के बीच संबंध की समाजशास्त्रीय व्याख्या के तीन दृष्टिकोणों की चर्चा करना उचित होगा। ये तीन दृष्टिकोण तीन महान् विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इनके नाम हैं—(1) कार्ल मार्क्स, (2) इमाइल दुर्खाइम, और (3) मेक्स वेबर। शास्त्रीय (क्लासिकल) समाजशास्त्र में धर्म और संस्कृति के बीच के संबंध को समझने के लिए हम इन तीन सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

**(1) कार्ल मार्क्स**—कार्ल मार्क्स जर्मन विद्वान थे। उन्होंने धर्म का द्वंद्व परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया था। मार्क्स ने धर्म को समाज के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा (अपने समय के अन्य सैद्धांतिकों की भाँति धर्म को 'आदिम' या मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखा)। दुर्खाइम जैसे सिद्धांतकारों जिन्होंने धर्म के सकारात्मक कार्यों पर बल दिया, के विपरीत, मार्क्स ने सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के नकारात्मक पहलू या अपक्रियाओं पर बल दिया। दुर्खाइम ने धर्म को सामाजिक प्रतिबद्धता के संवर्धन द्वारा समाज के सभी खंडों के लिए लाभदायक के रूप में देखा। लेकिन मार्क्स ने धर्म को शक्तिहीन जनसमूह का तिरस्कार करके शासक वर्ग के हितों के लिए काम करने वाले के रूप में देखा। उन्होंने लिखा है, ''धर्म दमित व्यक्ति की आह है, निष्ठुर जगत की भावना है, और आत्माविहीन स्थितियों की आत्मा है। यह लोगों की अफीम है।''

मार्क्स ने बताया कि जिस प्रकार दर्दनाशक औषधि रोग के लक्षणों को छुपा देती है और रोगी व्यक्ति इस भ्रमित धारणा के कारण शांत हो जाता है कि वह स्वस्थ और निरोग है, उसी प्रकार धर्म श्रमिकों के शोषण को छुपा (ढक) देता है और वे इस झूठी धारणा के कारण शांत हो जाते हैं कि विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाएँ सही हैं, अथवा यदि सही नहीं हैं तो ऐसी तो हैं ही कि उनसे बचा नहीं जा सकता है। इस भाँति मार्क्स ने तर्क दिया कि सामाजिक संस्था के रूप में धर्म यह शिक्षा देता है कि पृथ्वी पर व्यक्ति की स्थिति को स्वर्ग में पुरस्कार दिया जाएगा। ऐसी शिक्षा देकर, यह वर्ग संरचना के अंतर्गत छुपी शोषणात्मक प्रवृत्तियों और यथास्थिति बनाए रखने में संभ्रांत वर्ग के निहित स्वार्थों को धुँधला कर देता है। इस तरह से, धर्म ''सम्पन्न लोगों' के हाथों का हथियार बन जाता है जिससे वे ''वंचित'' लोगों को शोषित और उत्पीड़ित कर सकें।

मार्क्स ने धर्म को विसंबंधन के मूर्तीकरण के रूप में देखा ''अर्थात् ऐसी आत्म विरक्ति जिसका लोग तब अनुभव करते हैं जब उन्हें प्रतीत होता है कि सामाजिक संस्थाओं के ऊपर वे नियंत्रण खो बैठे हैं।'' आत्म विरक्ति शब्द का प्रयोग उन्होंने आधुनिक श्रमिक के इस अनुभव का वर्णन करने के लिए किया था कि वह ''मशीन में एक पहिए का दाँता'' से अधिक कुछ नहीं है। उन्होंने इस संकल्पना का प्रयोग उस सब का वर्णन करने के लिए भी किया था जो उन्हें धर्म का अपमानवीयकरणीय प्रभाव प्रतीत हुआ था। मार्क्स ने अपने एक प्रसिद्ध लेख में लिखा है—''श्रमिक कार्य में खुद को जितना अधिक विस्तारित कर लेता है उन वस्तुओं की दुनिया उससे भी अधिक शक्तिशाली बन जाती है जिन्हें वह अपने सामने बनाता है, अपनी आन्तरिक दुनिया में वह और अधिक गरीब बन जाता है, उसका खुद से संबंध कम होता जाता है। धर्म में भी ऐसा ही होता है। व्यक्ति खुद को भगवान से जितना अधिक संबद्ध कर लेता है उतना ही कम उसके अंदर कुछ बचता है।''

ऊपर वर्णित कथन से जैसा संकेत मिलता है मार्क्स समाज में धर्म का पूर्ण तिरस्कार और परित्याग (अस्वीकृति) करते थे। उनका तर्क था कि लोग केवल तभी वास्तविक खुशी की माँग करना शुरू करेंगे जब वे धर्म की भ्रामक खुशी का परित्याग कर देंगे। धर्म को बूर्जुआ वर्ग के चंगुल में फँसी एक शोषक सामाजिक संस्था कह कर अपने आक्रमण को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा—''धर्म की आलोचना मनुष्य की भ्रम से मुक्ति करती है जिससे वह ऐसे व्यक्ति के रूप में सोचता, कार्य करता और अपनी वास्तविकता को रूप देता है जिसने अपनी विचार शक्ति पुन: प्राप्त कर ली है। उन्होंने भविष्यवाणी की कि आर्थिक व्यवस्था के साम्यवादी स्वरूप सहित वर्ग रहित समाज में धर्म असंगत और अनावश्यक हो जाएगा। पूँजीवादी वर्ग की ही तरह, धर्म भी अपनी सहज स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार, कार्ल मार्क्स ने धर्म को एक ऐसी अनावश्यक और स्वार्थपरक संस्था माना जो शोषक अधिरचना का अभिन्न अंग है। धार्मिक और सांस्कृतिक दोनों ही संस्थाएँ आर्थिक आधार या नींव के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाती हैं। धर्म और संस्कृति समाज की विद्यमान शक्ति संरचना का नतीजा है और जब वर्ग समाज एक वर्गहीन समाज के रूप में अपना कायापलट कर लेगा तो धर्म नष्ट हो जाएगा।

**(2) इमाइल दुर्खाइम**—इमाइल दुर्खाइम फ्रांसीसी विद्वान थे। उन्होंने धर्म के समाजशास्त्र पर मार्गदर्शी काम किया है। उनकी ''एलीमेंटरी फॉर्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ'' नामक उत्कृष्ट पुस्तक तथा अन्य रचनाएँ धर्म के समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनकी गहन अंतर्दृष्टि का प्रमाण हैं। अपने समय के ऐतिहासिक और मानवजातीय साहित्य के अध्ययन से दुर्खाइम को यह विश्वास हो गया कि सभी समाजों में पावन और लौकिक के बीच स्पष्ट अंतर किया जाता है और इस प्रकार का अंतर सामाजिक स्तर पर यह समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है कि समूहों और समाजों में लोग जैसा व्यवहार करते हैं, वे क्यों करते हैं। पवित्र और लौकिक की संकल्पना के बीच उनका सैद्धांतिक अंतर आज भी समाजशास्त्र में एक शास्त्रीय योगदान के रूप में मान्य है।

दुर्खाइम का विचार था कि कोई भी चीज जो सदस्यों में आश्चर्य, आदर या गहन सम्मान को प्रेरित करती है वह पवित्र है। इसके गुण असाधारण, पारलौकिक और कभी-कभी खतरनाक भी होते हैं और इस तक पहुँचने के लिए सामान्यत: किसी न किसी प्रकार के अनुष्ठान की जरूरत होती है। यह अनुष्ठान साधारण प्रार्थना, झाड़फूँक, भजन, धर्मानुष्ठानिक स्वच्छता या पशुबलि के रूप में हो सकता है। सामाजिक स्वीकृति के आधार पर कोई भी वस्तु पवित्र हो सकती है—कोई मूर्ति, पत्थर (चट्टान), पेड़, पुस्तक, सूरज, चन्द्रमा, राजा या कोई इंजन भी। दूसरी ओर कोई भी चीज जो अलौकिक दुनिया की बजाय साधारण जीवन का हिस्सा हो, वह लौकिक होती है। लौकिक वह है जो अधार्मिक और अदैवीय अनाध्यात्मिक है। सजीव स्थितियों में सभी वस्तुएँ, सिवाय उन वस्तुओं के जिन्हें समुदाय द्वारा पावन माना जाता है, लौकिक या अपवित्र वस्तुएँ होती हैं। व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार उसकी रोजमर्रा की जिन्दगी के क्रम के दौरान पवित्र और लौकिक से उसके संबंध द्वारा प्रभावित होता है।

अपने प्रख्यात पूर्ववर्ती विद्वानों की भाँति दुर्खाइम ने मानव इतिहास द्वारा धर्म की सार्वभौमिकता को पहचाना। उनका विचार था कि यदि धर्म सार्वभौमिक है तो इसे मानव समाज में कुछ अत्यावश्यक कार्य निष्पादित करने चाहिए। अन्यथा, यह सामाजिक संस्था हजारों वर्षों से विद्यमान न रह पाती। धर्म की सार्वभौमिकता की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को कि यह कुंठित हृदयों को सांत्वना देने वाली वस्तु है, नकारते हुए, दुर्खाइम ने धर्म के महत्वपूर्ण कारणों को ढूँढने का प्रयास किया। उन्होंने देखा कि ऐसी कुछ मुख्य सामाजिक शक्तियाँ हैं जो सभी समाजों में धर्म का अस्तित्व बनाए रखती हैं। उनका विचार था चूँकि क्योंकि धर्म कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य करता है, इसीलिए लोग इस संस्था को सामाजिक संरचना के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक जाँच के सही अर्थों में, दुर्खाइम ने ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी समूहों (जो उसके विचार से मानव समाज के सरलतम और सबसे प्रारंम्भिक रूप को प्रस्तुत करते हैं) में टोटेमवाद (कुलचिन्हवाद) के वर्णनों में इन प्रमुख सामाजिक शक्तियों की अपनी खोज प्रारंभ की। टोटेम वह पवित्र प्रतीक होता है जिसके प्रति किसी समूह या कुल के सदस्य सम्मान और विस्मय का भाव रखते हैं टोटेम के रूप में चुनी जाने वाली वस्तुएँ (छिपकली, कैटपिलर, मछली, पेड़) खुद में ही विस्मय उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं। लेकिन किसी कुल के सदस्य उस वस्तु को अलौकिक के साथ अपना संपर्क सूत्र मानने लगते हैं। वे खुद को इसी के नाम से बुलाते हैं, इसके पास जाने में वर्जनाओं का पालन करते हैं और इसके स्वरूप या व्यवहार को खासतौर से महत्वपूर्ण और पवित्र महत्व युक्त मानते हैं।

टोटेम (कुलचिन्ह) भगवान और कुल (गोत्र, वंश) दोनों का प्रतीक है। इसने स्पष्ट रूप से समाज के सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों को जोड़ा है। दुर्खाइम ने इसे धर्म के प्रकार्य के संकेत के रूप में पावन और कुल के बीच संबंध के रूप में देखा। अपने टोटेम को पूजन द्वारा समाज के सदस्य गोत्र समाज की पूजा कर रहे थे। कुल देवता, टोटेम आधारित सिद्धान्त कुल से कम नहीं हो सकता जो पशु या सब्जी के रूप में दृष्टिगत होता है,

मूर्तिमान होता है और कल्पना को निरूपित करता है। यह पशु या सब्जी का दृश्य रूप टोटेम का ही काम करता है, ऐसा दुर्खाइम ने लिखा।

इस दृष्टांत में दुर्खाइमवादी तर्क सरल व स्पष्टवादी है। व्यक्ति अपने कई मनोभावों और अनुभवों को ''धार्मिक'' के वर्ग में रखते हैं, ये उस अदृश्य लेकिन शक्तिशाली सामाजिक शक्तियों के प्रति अनुक्रियाएँ हैं। चूँकि साधारण बुद्धिवाद द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता अत: समुदाय इस प्राकृतिक सामाजिक शक्ति के लिए अलौकिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए मानव दिव्य सृजक की देन है। यह धार्मिक धारणा इस सामाजिक तथ्य को दर्शाती है कि हम अपनी संस्कृति और समय के जीव हैं। शाश्वत्व की धार्मिक अनुभूति इस सामाजिक तथ्य को दर्शाती है कि समाज हमारे पैदा होने से पूर्व विद्यमान था और हमारे मरने के बाद भी समाज का अस्तित्व बना रहेगा।

इस स्थिति का समर्थ करते हुए दुर्खाइम ने टिप्पणी की, ''जो भाषा हम बोलते हैं उसकी खोज हमने नहीं की; हम उन अधिकारों को चाहते हैं जो हम नहीं खोजे हैं, ज्ञान का खजाना एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होता है, जो उन्होंने स्वयं एकत्र नहीं किया है।'' इसी को आगे बढ़ाते हुए दुर्खाइम ने पूछा, ''क्या यह कोई आश्चर्य है कि हम महसूस करते हैं कि हमारे जीवन द्वारा बाहरी शक्तियों का सृजन व नियंत्रित हैं?'' हमारा जीवन इन शक्तियों पर आश्रित है इस भय के कारण हम इन शक्तियों को मानते हैं। दुर्खाइम ने निश्चयपूर्वक कहा कि ये धार्मिक धारणाएँ सामाजिक शक्तियों के अनुभव से पैदा होती हैं। धर्म हमें इस अनुभव को मूर्त रूप देने और उसे सामाजिक रूप से स्वीकृत रूप में अभिव्यक्त करने में सहायक होता है।

इस आधारभूति अंतर्दृष्टि के बारे में विस्तार से बताते हुए दुर्खाइम ने तर्क प्रस्तुत किया कि समाज में धर्म का प्रमुख कार्य ''नैतिक समुदाय'' का सृजन करना और उस समाज को बनाए रखना है। धार्मिक धारणाएँ समूह मूल्यों और मानकों में दैनिक सामाजिक दबाव के पावन आयाम जोड़कर उन्हें सुदृढ़ करती हैं। इस अर्थ में धर्म सांस्कृतिक व्यवस्था के पुष्टिकर्त्ता के रूप में कार्य करता है। धार्मिक अनुष्ठान लोगों के सामान्य बंधनों को पुन: पुष्ट करने और अपनी सामाजिक विरासत के पुन: स्मरण के लिए लोगों को एकत्रित करते सामाजिक एकता को मजबूत बनाता है। धर्म लोगों को एकत्रित करता है और एकल समुदाय के रूप में उन्हें संघटित करता है। धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने से अपने से कुछ बड़े का हिस्सा होने की अनुभूति बढ़ जाती है। बदले में यह व्यक्ति को दुख-दर्द में समायोजित होने में मदद करता है। दुर्खाइम का मानना कि यदि विज्ञान पवित्रता में व्यक्ति की धारणा को दुर्बल बनाता तो परंपरागत धर्म का स्थान लेने के लिए कोई प्रकार्यात्मक तुल्यता (समकक्षता) पैदा होगी।

धर्म, समाज और संस्कृति के बीच संबंध के बारे में दुर्खाइम के तर्कों में कुछ बदलाव आए हैं। दुर्खाइम की 'पवित्र' और 'अपवित्र' के बीच विभाजन की धारणा 19वीं शताब्दी के यूरोप की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था की तुलना में आधुनिक समाजों में ज्यादा प्रखर है। उदाहरण के लिए, आधुनिक पश्चिमी, समाजों के नागरिक अपने सार्वजनिक जीवन से धार्मिक धारणाओं और प्रथाओं को अलग रखने में गर्व महसूस करते हैं। परिणामस्वरूप, सरकारें भी अपने-अपने शासन में किसी धर्म के विरुद्ध होकर किसी दूसरे धर्म का समर्थन नहीं करती। जहाँ तक संभव होता है सामाजिक प्रकार्य, संरचनाएँ और भूमिकाएँ धर्मनिरपेक्ष प्रकार्य, संरचनाओं और भूमिकाओं से अलग रखे जाते हैं। इसके विपरीत परंपरागत सामाजिक विन्यास पवित्र और धर्मनिरपेक्ष के बीच प्रखर वियोजन (पृथक्करण) नहीं करता। इस तरह, ऐसी व्यवस्था में दोनों के बीच तीव्र अंतर असंभव ही नहीं बल्कि अवांछनीय भी दृष्टिगत हो सकता है। फिर भी, सर्वत्र लोग इसको जरूर मान्यता देते हैं कि कुछ अवसर, स्थान, व्यक्ति या समय अन्य अवसरों, स्थानों, व्यक्तियों या समयों की तुलना में ज्यादा पावन-पुनीत होते हैं। ऐसी मान्यता के प्रमाण लोगों की सामूहिक गतिविधियों (क्रियाओं) के दौरान दिखाई देते हैं।

**(3) मैक्स वेबर**—जर्मन विद्वान और समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने सामाजिक संस्था के रूप में धर्म की प्रकृति, कार्यों और परिणामों का गहन व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि प्रदान की। मैक्स वेबर की धर्म में दिलचस्पी कुछ हद तक कार्ल मार्क्स के तर्कों से प्रेरित थी। मार्क्स की भाँति, वेबर का बौद्धिक जीवन भी पूँजीवाद का इतिहास जानने के प्रति समर्पित था लेकिन उनका ध्यान आर्थिक श्रेणियों से अधिक सामाजिक श्रेणियों पर केन्द्रित था। यद्यपि वेबर आर्थिक व्यवस्थाओं की भूमिका विशेष उल्लेख करने का श्रेय मार्क्स को देते हैं। लेकिन एक ओर जहाँ मार्क्स का यह मानना था कि सम्पूर्ण इतिहास उत्पीड़ित और अत्याचारी वर्गों के बीच संघर्ष के रूप में विवेचित किया जा सकता है, वहीं वेबर ने अर्थव्यवस्था को मानव इतिहास को प्रभावित करने वाले बहुत-से प्रभावों में से एक प्रभाव के रूप में माना।

कुछ मामलों मे वेबर का धर्म का समाजशास्त्र अग्रगामी (पथन्वेषक) रहा है। मैक्स की धारणा थी कि धर्म सामाजिक परिवर्तन और प्रगति में एक बाधा है, के विपरीत वेबर का तर्क था कि धर्म अपने आप में सामाजिक रूपांतरण का सशक्त एजेंट बन सकता है। वेबर का आदर्श कार्य, ''दि प्रोटेस्टैंट एथिक एंड दि स्पिरिट ऑफ कैपिटिलिज्म'' को ''कार्ल मार्क्स के भूत के साथ वार्तालाप'' के रूप में वर्णित किया गया है। यह मॉडल समाजशास्त्रीय क्लासिक धर्म की व्यापक समझ (जानकारी) में अभी भी शोध के रूप में है, जो एक सशक्त सामाजिक संस्था है जो न केवल अलौकिक जरूरतों को पूरा करता है बल्कि समाज के धन-संबंधी प्रकार्य भी निष्पादित करता है अर्थात् समाज के आर्थिक पहलू से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है।

वेबर ने यह अवलोकन करके इस कार्य को प्रारंभ किया कि प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक दोनों की जनसंख्या वाले देशों में, व्यापारी, नेता, बैंकर और यहाँ तक कि अत्यधिक कुशल कामगार ''जबरदस्त (कट्टर) प्रोटेस्टैंट'' थे। वेबर ने इस असामान्य घटना के समाजशास्त्री कारण जानने के प्रयास किए। इसके मद्देनजर उन्होंने इससे जुड़े कुछ विशिष्ट प्रश्न पूछे—जैसे प्रोटेस्टैंट धारणाओं और प्रथाओं में ऐसा क्या है जो अन्य समुदायों की तुलना में आर्थिक उद्यम को बढ़ावा देता है? वेबर को इसका उत्तर प्रोटेस्टैंट सुधार आंदोलन की कैल्विनवाद अवस्था में मिला। उनका स्पष्टीकरण प्रोटेस्टैंट धारा के दो अवयवों पर केन्द्रित था; काम का मुक्तिप्रद मूल्य और सांसारिक वैराग्य (संन्यास)।

वेबर ने पाया कि दैववाद का सिद्धांत कैल्विनवादी विचारधारा का केन्द्र था। कैथोलिक चर्च ने बताया कि मुक्ति (मोक्ष) का रास्ता चर्च से होकर गुजरता है; कि व्यक्ति धर्मविधियों (अपराध स्वीकरण, प्रायश्चित इत्यादि) में भाग लेकर स्वर्ग में स्थान अर्जित करता है। कैल्विनवादी मानते हैं कि व्यक्ति के जन्म लेने से काफी पहले ही भगवान यह निर्णय ले लेता है कि व्यक्ति ''संतों के लिए चुना जाएगा'' या ''नरक में डाला जाएगा'' और धरती पर कोई भी भगवान की इच्छा के दैववाद को बदल नहीं सकता। इसने प्रोटेस्टैंटों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने और चर्च के बंधनों से व्यक्तियों को मुक्त करने की मदद की। लेकिन इस धारणा ने लोगों के मन में काफी उत्सुकता भी पैदा की। व्यक्ति यह कैसे जान सकता है कि किसे भगवान ने स्वर्ग के लिए चुना है? इस संदर्भ में कैल्विनवादी का उत्तर सरल व स्पष्ट था। व्यक्ति के अपने जीवन की सांसारिक उपलब्धियाँ इसका स्पष्ट संकेत देती हैं कि वह कहाँ के लिए चुना गया है। अच्छे कार्यों (सद्कार्यों) से हो सकता है व्यक्ति को मोक्ष न मिले (जैसा कि कैथोलिक मानते हैं) लेकिन ये व्यक्ति को नरक के भय से छुटकारा दिलाते हैं। जैसा कि बाइबिल में कहा गया है, ''कि जो कार्य अथवा व्यापार में अध्यवसायी हैं। वह राजाओं के सामने खड़ा होगा।''

कठिन परिश्रम को मुक्तिपद मूल्य में कैल्विनवादी दृढ़ विश्वास और वेबर का सांसारिक संन्यास दोनों एक साथ मिले हुए थे। कैल्विनवादी ने भोगशक्ति, विलास और सुख-सुविधाओं के पीछे भागना, शारीरिक सुख की निंदा की। लेकिन उन्होंने इस धारणा को भी अस्वीकार किया कि अपनी संपत्ति (जायदाद, कब्जा) को दान करके और गरीबी में जीवनयापन करने से मोक्ष मिलता है (जिसे कुछ-कुछ कैथोलिक मठवासियों से

**3.** किसने धर्म को पावन (सेक्रेट) तथा अपावन (प्रोकेन) जादू या आदिम विज्ञान में विभाजित किया है—

(अ) एडवार्ड टाइलर (ब) कार्ल मॉर्क्स

(स) इमाइल दुर्खीम (द) पी० वी० काणे

**4.** "धर्म आध्यात्मिक शक्तियों पर विश्वास है।" यह कथन है—

(अ) टाइनर का (ब) मैनिनोवस्की का

(स) मजुमदार का (द) फ्रेजर का

**5.** धर्म की विशेषता क्या है?

(अ) पारस्परिक सहयोग (ब) समानता

(स) अलौकिक शक्ति में विश्वास (द) गुरु पर विश्वास

**6.** 'फोकवेज' पुस्तक के लेखक हैं—

(अ) सोरोकिन (ब) जिन्सवर्ट

(स) दुर्खीम (द) समनर

**7.** कौन-सा व्यवहार नैतिकता से सम्बन्धित है?

(अ) विजातीय विवाह (ब) बाल-विवाह

(स) तीर्थ यात्रा (द) सदाचार

**8.** 'रिलीजन' शब्द किस भाषा से बना है—

(अ) ग्रीक (ब) लैटिन

(स) पुर्तगाली (द) इनमें से कोई नहीं

**9.** निम्नलिखित में से कौन-सी धर्म की विशेषता नहीं है?

(अ) व्यक्तिगत व्यवहार (ब) सार्वभौमिकता

(स) सामाजिक नियंत्रण (द) भय की अवधारणा

**10.** धर्म किससे सम्बन्धित नहीं है?

(अ) अलौकिक शक्तियाँ (ब) मशीन

(स) अतीन्द्रिय शक्तियाँ (द) विश्वास

**11.** किसने कहा, "धर्म को मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ, जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि ये प्रकृति और मानव जीवन को धर्म दिखाती हैं और नियन्त्रित करती हैं"—

(अ) फ्रेजर (ब) मार्क्स

(स) ब्रूबेकर (द) तीनों गलत

**12.** किसने कहा, "धर्म क्रिया का एक ढंग और साथ ही साथ विश्वासों की एक व्यवस्था भी है और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है"—

(अ) फ्रेजर (ब) हानिंगशीम

(स) मैलिनोवस्की (द) तीनों गलत

**13.** यह किसका कथन है, ''प्रत्येक मनोवृत्ति जो कि इस विश्वास पर आधारित या इस विश्वास से जुड़ी है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है और इनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव और महत्वपूर्ण है, धर्म कहलाती है''—

(अ) मैलिनोवस्की (ब) ब्रूबेकर

(स) हानिंगशीम (द) टेलर

**14.** संस्कृति शब्द जर्मन भाषा के निम्न रूप से निर्मित है?

(अ) Cultura (ब) Kultura

(स) Calcarca (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

**15.** ''यदि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन आता है और अभौतिक संस्कृति अथवा मूल्यों व उद्देश्यों में परिवर्तन नहीं आता है तो उसे सांस्कृतिक ठहराव कहते हैं।'' यह परिभाषा किसने दी है?

(अ) निमकाफ (ब) आगबर्न

(स) ओटावे (द) वैश्लर

**16.** जीव वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दो तत्व हैं जो निर्माण करते हैं?

(अ) सभ्यता (ब) समूह

(स) संस्कृति (द) शिक्षा

**17.** सांस्कृतिक शिक्षा मनुष्य की पशुवत् प्रवृत्तियों का करती है?

(अ) मार्गान्तरीकरण (ब) परिष्करण

(स) उन्नयन (द) उपरोक्त सभी

**18.** संस्कृति के निर्माण में सहायक तत्व होते हैं?

(अ) चार (ब) दो

(स) तीन (द) एक

**19.** भारत का प्रमुख धर्म हिन्दु धर्म है, लेकिन विश्व के अन्य अनेकों धर्म के अनुयायी भी यहाँ निवास करते हैं, जो हैं—

(अ) बौद्ध धर्म (ब) जैन धर्म

(स) इस्लाम, ईसाई धर्म (द) ये सभी

**20.** धर्म का 'रिलीजियन' शब्द किस भाषा से लिया गया है—

(अ) जर्मनी (ब) ग्रीक

(स) लैटिन (द) अंग्रेजी

**21.** ''वेद धर्म का मूल है'', यह मत किस ग्रन्थ से लिया गया है—

(अ) मनुस्मृति (ब) जैमिनी

(स) महाभारत (द) श्रीमद्भागवद्

**22.** किसके द्वारा कहा गया है कि, ''धर्म वह ईश्वर या ईश्वरों में आत्मसमर्पण का गतिशील विश्वास है, जिस पर मनुष्य निर्भरता का अनुभव करता है''—

(अ) दुर्खीम (ब) पी० गिसबर्ट

(स) फ्रेजर (द) जॉनसन

**23.** अनेक विचारकों के मत का खण्डन करते हुए किसने कहा कि धर्म कोई **'भय का अनजान देवता'** या **'कष्ट देवता'** है—

(अ) टॉयलर (ब) डावसन

(स) बोकेट (द) रॉबर्ट स्मिथ

**24.** ....., विचार-स्वातन्त्र्य और उसकी अभिव्यक्ति सामान्य समस्या का ही एक भाग है—

(अ) धार्मिक सहिष्णुता (ब) समाज-सेवा

(स) धार्मिक संस्थाएँ (द) धार्मिक पहलू

**25.** धर्म की विशेषताओं में प्रमुख रूप से शामिल हैं—

(अ) भय की धारणा (ब) सार्वभौमिकता

(स) पवित्र शक्ति (द) ये सभी

**26.** किस विचारक का मत है, ''मनुष्य का इतिहास धर्म का इतिहास है''—

(अ) मैक्समूलर (ब) दुर्खीम

(स) मैरेट (द) वेबर

**27.** दि एसेंस ऑफ रिलीजन, पुस्तक किस विद्वान की है—

(अ) लुडविक (ब) मार्क्स फ्यूरबैक

(स) डावसन (द) जॉनसन

**28.** मानावादी की विशेषताओं में शामिल है—

(अ) सर्वव्यापकता (ब) सर्वशक्तिमान

(स) संवेगशीलता (द) ये सभी

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

**1.** धर्म के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट कीजिये।

**2.** धर्म का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

**3.** धर्म के प्रमुख पहलूओं का वर्णन कीजिये।

**4.** धार्मिक संस्थाओं के प्रत्यय को स्पष्ट कीजिये।

**5.** धर्म और समाज सेवा में क्या सम्बन्ध है?

**6.** सामान्य तथा विशिष्ट धर्म में अन्तर बताइये।

**7.** धर्म के अध्ययन की मार्क्सवादी उपागम की आलोचना कीजिये।

**8.** अधिसंरचना के रूप में धर्म की विवेचना कीजिये।

**9.** धर्म की उत्पत्ति के आत्मावादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिये।

**10.** धर्म की उत्पत्ति के मानावादी सिद्धान्त को संक्षेप में समझाइये।

**11.** धर्म दर्शन का दर्शनशास्त्र के साथ सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

**12.** धर्म दर्शन तथा विज्ञान के मध्य समानताओं तथा असमानताओं पर प्रकाश डालिये।

**13.** ''धर्म दर्शन दर्शनशास्त्र का एक अंग है।'' स्पष्ट कीजिये।

**14.** धर्म एवं दर्शन में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

**15.** धर्म और दर्शन में क्या सम्बन्ध है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. धर्म से आप क्या समझते हैं? धर्म के समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए।
2. धर्म की परिभाषा दीजिए। धर्म के समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए।
3. धर्म की विशेषताएँ लिखिये तथा बताइये कि ऐसी कौन-सी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं जो मानव व समाज की प्रगति में बाधक हैं?
4. वर्तमान समय में धर्म की क्या उपयोगिता है? धर्म की सामाजिक अनुपयोगिताओं का भी विवेचन कीजिये।
5. धर्म के विविध स्वरूपों का वर्णन कीजिये।
6. इमाइल दुर्खीम के अनुसार धर्म के महत्व अथवा प्रकार्यों का वर्णन कीजिये।
7. धर्म के मार्क्सवादी विचार का वर्णन कीजिये तथा बताइये कि क्या धर्म दमन का एक उपकरण है?
8. धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्तों पर एक निबन्ध लिखिये।
9. धर्म दर्शन तथा विज्ञान के मध्य समानताओं तथा असमानताओं पर प्रकाश डालिये।
10. ''धर्म दर्शन दर्शनशास्त्र का एक अंग है।'' स्पष्ट कीजिये।
11. धर्म एवं नीतिशास्त्र में सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये।
12. ''धार्मिक जीवन अनिवार्यत: नैतिक जीवन है, किन्तु नैतिक जीवन का धार्मिक होना आवश्यक नहीं है।'' विवेचना कीजिये।
13. 'धर्म तथा तर्कशक्ति' पर टिप्पणी लिखिये।
14. धर्म का संस्कृति के साथ क्या सम्बन्ध है? विवेचना कीजिये।

**उत्तरमाला**

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

**1.** (द) **2.** (द) **3.** (स) **4.** (अ) **5.** (स) **6.** (द) **7.** (द) **8.** (ब) **9.** (अ)
**10.** (ब) **11.** (अ) **12.** (स) **13.** (स) **14.** (ब) **15.** (ब) **16.** (स) **17.** (द) **18.** (ब)
**19.** (द) **20.** (स) **21.** (अ) **22.** (ब) **23.** (द) **24.** (अ) **25.** (द) **26.** (अ) **27.** (ब)
**28.** (द)

अध्याय

# 2

# धार्मिक आचरण
# (RELIGIOUS PRACTICES)

**संरचना**

- प्रथाएँ (Customs)
- प्रथा की विशेषताएँ (Characteristics of Custom)
- धार्मिक व्यवहार के प्रकार : आत्मवाद, मानववाद, बहुदेववाद, संप्रदाय, पंथ (Types of Religious Practices : Animatism, Manaism, Pluralism, Sects, Cults)
- आत्मावाद या जीववाद (Animism)
- जीवित-सत्तावाद या मानावाद (Animatism or Manaism)
- प्रकृतिवाद (Naturalism)
- तत्वपरक और बहुदेववाद (Metaphysical and Pluralism)
- त्यौहार मनाने के पीछे दार्शनिक दृष्टिकोण (The Philosophical Outlook Behind The Celebration of Festival)
- धार्मिक चेतना (Religious Consciousness)
- शुभ तथा पवित्रता की अवधारणा (Concept of Shubh and Holy)
- अनुष्ठान (Rituals)
- अनुष्ठानिक क्रियायें एवं संस्कार (Rites and Ritulas)
- त्याग (बलिदान अथवा बलि) (Scarifies)
- धार्मिक आचरण एवं इसके अभिकरण (Religious practices and its agencies)
- अभ्यास-प्रश्न

## ● प्रथाएँ (Customs)

प्रत्येक समूह, धर्म, समुदाय अथवा समाज में कुछ मान्यता प्राप्त व्यवहार करने के ढंग (जो कि अधिकतर लोगों में पाये जाते हैं) स्थाई हो जाते हैं तथा एक पीढ़ी के दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते रहते हैं। इन्हें प्रथाएँ कहा जाता है। प्रथाएँ सामाजिक नियन्त्रण की महत्वपूर्ण अनौपचारिक साधन हैं। प्राचीन तथा जनजातीय समाजों में प्रथाओं का व्यक्तियों के व्यवहार पर नियन्त्रण रखने में विशेष स्थान रहा है तथा आज भी जनजातियों में व्यक्तियों के व्यवहार को विभाजित करने में प्रथायें महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

### प्रथा का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Custom)

प्रथा एवं लोकाचार का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाता है। जब जनरीतियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती है तो वे प्रथाओं के नाम से जानी जाती है। प्रथाओं के अन्तर्गत उन सभी आदर्श नियमों को

सम्मिलित किया जाता है जिनका पालन समाज के लोग स्वेच्छापूर्वक करते हैं। प्रथा को कुछ समाजशास्त्रियों ने निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है—

**(i) किंग्स्ले डेविस** (Kingsley Davis) के अनुसार, ''प्रथा एक व्यापक शब्द है जिसमें वे समस्त आदर्श नियम सम्मिलित हैं जिन्हें लोकरीतियाँ तथा लोकाचार कहा जाता है। .... प्रथा शब्द विशेषकर उन व्यवहारों की ओर संकेत करता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी होता चला आया है अथवा प्रथायें वे व्यवहार है जिनका पालन केवल इसलिये किया जाता है कि बीते समय में भी उनका पालन किया गया था।''

**(ii) रॉस** (Ross) के अनुसार, ''प्रथा का अर्थ क्रिया करने के किसी तरीके का हस्तान्तरण है।''

**(iii) मैकाइवर तथा पेज** (Maclver and Page) के अनुसार, ''समाज में मान्यता प्राप्त व्यवहार करने की विधियाँ ही समाज की प्रथायें हैं।''

**(iv) बोगार्डस** (Bogardus) के अनुसार, ''प्रथायें और परम्परायें समूह द्वारा स्वीकृति नियन्त्रण की वह विधियाँ हैं जो सुव्यवस्थित हो जाती है और जिन्हें बिना सोचे समझे मान्यता प्रदान कर दी जाती है, और जो पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती है।''

**(v) कोमारोव्सकी** (Komorovasky) के अनुसार, ''प्रथा व्यवहार करने की समाज द्वारा प्रस्तावित विधि है जो परम्परा द्वारा संचालित होती है और उसकी अवेहलना करने पर सामाजिक अमान्यता लागू की जाती है।''

## ● प्रथा की विशेषताएँ (Characteristics of Custom)

प्रथा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

**(1) स्वत: उत्पत्ति**—प्रथाओं की उत्पत्ति स्वत: तथा आकस्मिक रूप से होती है। किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यक्तियों द्वारा अनेक विधियों का प्रयोग किया जाता है। जब कोई विधि सफल सिद्ध हो जाती है और समूह के अधिकांश व्यक्ति इसे अपना लेते हैं तो वह जनरीति कहलाती है। जब जनरीति अतीत के सफल अनुभव के आधार पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती है तो इसे प्रथा कहते हैं।

**(2) सार्वभौमिक प्रकृति**—प्रथाओं की प्रकृति सार्वभौमिक होती है। संसार में कोई भी समाज ऐसा नहीं है जहाँ सदस्यों के व्यवहारों और क्रियाओं को नियन्त्रित करने में प्रथाओं का प्रचलन न हो। व्यक्ति प्राय: अचेतन रूप से प्रथाओं के अनुसार व्यवहार करते हैं। किसी समस्या के उत्पन्न होने पर प्रथाएँ व्यक्ति को विशेष प्रकार का आचरण करने का मार्ग दिखलाती हैं।

**(3) भिन्न प्रकृति**—विभिन्न समाजों में प्रथाओं की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौतिक परिस्थितियाँ, आवश्यकताएँ तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृथक्-पृथक् होती हैं। इसीलिए परस्पर विरोधी प्रथाएँ विभिन्न समाजों में पायी जाती हैं। भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, सम्प्रदायों, धर्मों आदि की अपनी-अपनी प्रथाएँ होती हैं।

**(4) स्थिर प्रकृति**—प्रथाओं की प्रकृति स्थिर होती है। इनमें न तो अचानक परिवर्तन लाया जा सकता है और न ही समाप्त किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि प्रथाएँ व्यक्तियों के अतीत के सफल अनुभवों का परिणाम होती हैं तथा उनको सत्य समझा जाता है। सत्यता के अतिरिक्त पूर्वजों के प्रति श्रद्धा की भावना के कारण भी प्रथाएँ स्थिर रहती हैं।

**(5) उद्देश्यपूर्ण**—प्रथाएँ उद्देश्यपूर्ण होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रथा की उत्पत्ति का आधार सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कोई न कोई एक उद्देश्य होता है। प्रथाओं द्वारा मानवीय आवश्यकताओं

की पूर्ति होती है। प्रथाओं के द्वारा व्यक्ति को जीवन के समस्त क्षेत्रों में व्यवहार करने का मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है। प्रथाओं का मुख्य उद्देश्य सामाजिक परिस्थितियों के साथ व्यक्ति का अनुकूलन करना है।

## ● धार्मिक व्यवहार के प्रकार : आत्मवाद, मानववाद, बहुदेववाद, संप्रदाय, पंथ (Types of Religious Practices : Animatism, Manaism, Pluralism, Sects, Cults)

मनुष्य के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठा कि आखिर इस धर्म जैसी जटिल संस्था का जन्म कैसे हुआ। वे कौन-सी परिस्थितियाँ, दशाएँ एवं कारक थे जिन्होंने धर्म जैसी संस्था को जन्म देने में सहायता प्रदान की। टेलर ने धर्म का प्रारम्भिक रूप आत्मा में विश्वास को माना है। मैरेट जीवसत्तावाद या मानववाद में, मैक्समूलर प्राकृतिक शक्तियों में विश्वास, फ्रेजर जादू-टोनों की असफलता में एवं दुर्खीम स्वयं समाज में तथा प्रकार्यवादी धर्म के प्रकार्यों में ही धर्म की उत्पत्ति ढूँढ़ते हैं। अब हम यहाँ धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना करेंगे।

## ● आत्मावाद या जीववाद (Animism)

आदिम धर्म के बारे में सर्वप्रथम सिद्धान्त अंग्रेज मानवशास्त्री **टेलर** ने प्रस्तुत किया। इन्होंने धर्म के उद्‌गम को खोजा और उसकी विस्तृत व्याख्या ही नहीं की वरन् उसका जादू एवं विज्ञान से भेद भी बताया। हरबर्ट स्पेंसर भी इस मत के समर्थक थे। टेलर ने कहा कि ऊपरी तौर पर तो हमें धर्मों की बहुलता एवं उनमें अंतर देखने को मिलते हैं पर मूल रूप में वे सभी एक ही विचार पर आधारित हैं और वह है 'आत्मा' या 'जीव' में विश्वास। आत्मा को इन्होंने आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार माना। इसीलिए उनके सिद्धान्त को आत्मावाद या जीववाद के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मानवशास्त्रीय शब्दकोष को एक नया शब्द 'आत्मावाद' दिया।

आत्मावाद को इन्होंने दो भागों में बाँटा है—प्रथम, आत्मा का सिद्धांत जिसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्यों में 'आत्माएँ' होती हैं जो कि उनकी मृत्यु के बाद भी शेष रहती हैं; द्वितीय, प्रेतों का सिद्धान्त जिसके अनुसार ऐसी आत्माओं को भी स्वीकार किया गया है जो मनुष्यों की आत्माओं से पृथक् हैं, वे दैवीय आत्माएँ हैं। इस प्रकार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली प्राणियों तक की होती हैं, जो अमर हैं तथा सांसरिक घटनाओं एवं मानव जीवन को नियंत्रित एवं निर्देशित करती हैं। यही कारण है कि मनुष्य इन आत्माओं से डरने लगता है और उन्हें भय मिश्रित श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसलिए ही टेलर कहता है कि धर्म आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है। यह विश्वास उसमें दैनिक जीवन के विभिन्न अनुभवों से उत्पन्न हुआ जो कि उसने जाग्रत एवं निद्रा अवस्था में किए और जो जीवित एवं मृत अवस्था से स्पष्ट हुए। निद्रावस्था में स्वप्न के दौरान वह अपने को कई कार्यों में संलग्न देखता, अपने पूर्वजों से मिलता और ऐसे स्थान पर जाता जहाँ वह पहले कभी नहीं गया। जाग्रत अवस्था में वह अपनी परछाईं देखता, तालाबों एवं नदियों के पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखता, अपनी आवाज की प्रतिध्वनि सुनाता। इसी समय उसने जीवित और मृत व्यक्ति में भेद भी देखा। मनुष्य के मरने पर उसका बोलना, चलना, खाना-पीना सभी समाप्त हो जाता है, तब आदिम मानव के मन में यह विचार आया होगा कि ऐसी कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है जिसके शरीर से निकल जाने पर वह निष्क्रिय हो जाता है। यद्यपि मृत्यु के बाद भी वह दिखाई तो जीवित की तरह ही देता है, परंतु वस्तुत: ऐसा नहीं है। इस प्रकार आदिम लोगों में उस अदृश्य वस्तु या शक्ति जिसके शरीर में रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है और शरीर से अलग होने पर मर जाता है, के प्रति विश्वास पैदा हुआ और उसे 'आत्मा' के नाम से पुकारा गया। टेलर के अनुसार, **''आत्मा एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।''**

एक प्रकार टेलर के मतानुसार इन अमूर्त और अभौतिक प्रेतात्माओं के प्रति भय एवं श्रद्धा ही आदिम धर्म का मूल है। ये आत्माएँ मानव के नियंत्रण से परे हैं, परंतु ये मनुष्य से संबंध बनाए रखती हैं, उसके अच्छे या बुरे कार्यों में प्रसन्न और अप्रसन्न होती हैं। इन्हें प्रसन्न रखने पर ही मनुष्य को लाभ एवं आनंद मिल सकता है। अत: अनेक आत्माओं में विश्वास ने बहुदेववाद को जन्म दिया और धीरे-धीरे वह एकदेववाद में विकसित हुआ तथा यह धारणा बनी कि सारी दुनिया एक ही महान् आत्मा या विश्व-आत्मा (Anima mundi or world soul) द्वारा संचालित होती है।

**समालोचना (Criticism)**

इस सिद्धांत की एंड्रयूलैग, मैरेट, जेवेन्स आदि ने निम्नलिखित आलोचनाएँ कीं—

(1) समस्त सिद्धांत को देखने से ज्ञात होता है कि टेलर ने आदिम मानव को तर्कशील व दार्शनिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो कि वह कभी नहीं था और जिस व्यवस्थित क्रम में उसने इस सिद्धान्त को रखा, ऐसा आदिमानव तो क्या आधुनिक मानव भी नहीं कर सकता।

(2) टेलर ने धर्म की उत्पत्ति को अति सीधे एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया है। केवल परछाईं, प्रतिध्वनि, स्वप्न एवं मृत्यु के अनुभवों ने ही धर्म जैसी जटिल संस्था को जन्म दिया होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता।

(3) धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है, केवल आत्मा में विश्वास से ही धर्म की उत्पत्ति स्वीकार करना सामाजिक तथ्यों की अवहेलना है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी टेलर के सिद्धांत का इस दृष्टि से महत्व है कि इन्होंने ही सर्वप्रथम धर्म की परिभाषा देकर उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जिसने बाद में मानवशास्त्रियों के लिए इस क्षेत्र के अध्ययन का मार्ग खोल दिया।

## ● जीवित-सत्तावाद या मानावाद (Animatism or Manaism)

कुछ मानवशास्त्रियों ने आत्मावाद से पूर्व जीवित-सत्तावाद का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में चाहे वह जड़ हो या चेतन, जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है। इस सत्ता में विश्वास और उसकी आराधना एवं पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई। इस मत को प्रारंभ में **मैक्समूलर** (Maxmular) एवं **प्रीउस** (Preuss) ने प्रस्तुत किया। **कॉडरिंगटन** (Codrington) एवं **मैरेट** (Marett) ने इसे एक विशेष प्रकार से प्रस्तुत किया जो मानावाद (Manaism) के नाम से जाना जाता है। मेलेनेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को '**माना**' के नाम से पुकारते हैं। इस कारण मैरेट ने अपने सिद्धान्त को मानावाद का नाम दिया। मेलेनेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। यदि कोई अधिक बुद्धिमान या शक्तिशाली है तो इसका कारण उसमें माना की शक्ति की अधिकता है। युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ पाना भी 'माना' की शक्ति के कारण ही है। कोई तलवार युद्ध में अधिक लोगों को मारती है या कोई नाव अन्य नावों को रफ्तार से पीछे छोड़ देती है, कोई गीत रोगियों को ठीक कर देता है, किसी ताबीज से आपत्ति टल जाती है तो इसका अर्थ है कि उस तलवार, नाव, गीत एवं ताबीज में माना की शक्ति पूरे वेग से है। भारतीय जनजातियों में भी मजूमदार ने 'माना' जैसी शक्तियों का उल्लेख किया है। 'हो' लोगों में **बोंगा** (Bonga) की अवधारणा, उत्तरी अमरीका की जनजातियों में **ओरेंडा** और दूसरे स्थानों पर '**एरॉन**' एवं '**बकुआ**' की अवधारणा भी मैरेट के इस सिद्धान्त के अंतर्गत ही आती है।

माना की परिभाषा करते हुए **कॉडरिंगटन** लिखते हैं, ''माना एक शक्ति है जो भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है, यह भले और बुरे सभी रूपों में कार्य करती है और इस पर आधिपत्य या नियंत्रण

पाना लाभदायक है। यह अलौकिक इस अर्थ में है कि यह सब चीजों पर प्रभाव डालने के लिए जिस रूप में कार्य करती है, वह मनुष्यों की साधारण शक्ति से परे है और प्रकृति की साधारण प्रक्रियाओं से बाहर है।'' लोवी कहते हैं कि माना विद्युत्-धारा की तरह व्यक्ति एवं वस्तुओं को प्रभावित करती है और एक-दूसरे में आ-जा सकती है, किसी कार्य में सफलता 'माना' के कारण एवं असफलता इसकी अनुपस्थिति के कारण ही मिलती है। **मैरेट** ने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि **'माना' एक अवैयक्तिक, अशारीरिक और अलौकिक शक्ति है जो अच्छे और बुरे दोनों रूपों में मनुष्य को प्रभावित करती है।** आदि मानव में ऐसी शक्ति के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा पैदा हुई। वह उसके सामने झुका, नतमस्तक हो गया और जीवन में सफलता पाने तथा बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस शक्ति की पूजा, प्रार्थना एवं आराधना करने लगा और यहीं से धर्म का जन्म हुआ।

### आलोचना (Criticism)

आत्मवाद की तरह मानावाद भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और इसकी विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित आलोचनाएँ की हैं—

(1) इस सिद्धान्त में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि माना की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ, क्या आदिम मानव इतना कल्पनाशील व दार्शनिक था कि बिना किसी आधार के ही उसने अलौकिक शक्ति की धारणा को जन्म दिया।

(2) धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: उसकी उत्पत्ति के लिए सामाजिक कारक भी उत्तरदायी हैं, परंतु इस सिद्धान्त में समाज के महत्व को स्वीकार नहीं किया गया है।

(3) आदिम जातियों में धर्म एवं जादू से संबंधित अनेक विश्वास पाए जाते हैं और उन सभी को मानावाद के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

(4) इस सिद्धान्त में अशरीरी और अलौकिक शक्ति को स्पष्टत: परिभाषित नहीं किया गया है।

(5) दुर्खीम का मत है कि धर्म का संबंध पवित्र वस्तुओं से है, मानावाद में पवित्र एवं अपवित्र में भेद नहीं किया गया है।

## ● प्रकृतिवाद (Naturalism)

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद, जीवित सत्तावाद का ही एक रूप है। मैक्समूलर जर्मन विद्वान थे जो संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के सुविज्ञ थे। उन्होंने धर्म की उत्पत्ति को प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं की पूजा में ढूँढ़ा। इसके लिए उन्होंने भारतीय एवं यूरोपीय पौराणिक कथाओं का सहारा लिया। इन पौराणिक कथाओं में सौरमंडल और तारामंडल से संबंधित अनेक कथाएँ हैं जो आकाशीय पिंड को सजीव के रूप में चित्रित करती हैं। वेदों में भी सूर्य, चंद्र एवं तारों से संबंधित गाथाएँ हैं जिनको पढ़ने पर ज्ञात होता है कि जैसे वे जीवित प्राणियों की कथाएँ हों। आदिम मानव प्रकृति और आकाशीय पिंडों से प्रभावित हुआ तथा उसमें उनके प्रति भय और प्रेम भी पैदा हुआ। मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को मिस्र एवं अन्य स्थानों पर होने वाली पुरातत्व खुदाइयों से भी बल मिला। मिस्र में 'रा' अर्थात् सूर्य को सबसे बड़ा देवता माना गया। भारत में भी सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, वर्षा आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की जाती रही है। प्राकृतिक शक्तियों से आदिम मानव के मन में भय, प्रेम, आश्चर्य एवं आतंक की भावना पैदा हुई होगी जब उसने देखा कि वर्षा की अधिकता और कमी उसके लहलाते खेतों को नष्ट कर देती है, समुद्र तूफान उसकी नाव को डुबा देता है तथा आंधी उसकी झोपड़ी को उड़ा ले जाती है। उसने सोचा होगा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं में अवश्य ही कोई शक्तिशाली वस्तु निवास करती है जो इनका संचालन, नियंत्रण और निर्देशन करती है। अत: उसने इन प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझा। प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझना ऐसे रुग्ण मस्तिष्क की देन है जो सजीव और निर्जीव में भेद नहीं कर सका। मस्तिष्क की यह गलती त्रुटिपूर्ण भाषा के कारण पैदा हुई। जैसे अक्सर कहा जाता है कि

सूर्योदय या सूर्यास्त हो रहा है, वर्षा हो रही है, पेड़ फल और फूल पैदा करते हैं, आँधी आ रही है। भाषा की त्रुटियों से यह विश्वास पैदा हुआ कि मानों सूर्य, वर्षा, आँधी और पेड़ों में कोई शक्ति निहित हो। प्रकृति की असीम विशालता एवं शक्ति के सम्मुख जब मनुष्य नतमस्तक होता है तो धर्म की उत्पत्ति होती है। मैक्समूलर का सिद्धान्त एक लंबे समय तक अस्तित्व में रहा। प्राचीन समय से ही प्राकृतिक पदार्थों एवं शक्तियों की पूजा लगभग सभी देशों में देखने को मिलती है, लेकिन इस आधार पर धर्म की उत्पत्ति ढूँढ़ने पर अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, इसलिए ही मैक्समूलर के प्रकृतिवाद की विभिन्न विद्वानों ने आलोचना की है।

**आलोचना (Criticism)**

(1) एण्ड्रयूलैग कहते हैं कि त्रुटिपूर्ण भाषा के आधार पर धर्म की उत्पत्ति एक संकुचित व्याख्या है। केवल प्रकृति पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति बताना उचित नहीं।

(2) दोषपूर्ण भाषा के प्रयोग से प्राकृतिक पदार्थों को सजीव समझने की बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

(3) धर्म एक सामाजिक संस्था है, मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति में कहीं भी सामाजिक कारकों को महत्व नहीं दिया। इस सिद्धान्त में अनुमान और कल्पना पर ही अधिक जोर दिया गया है।

## ● तत्वपरक और बहुदेववाद (Metaphysical and Pluralism)

एक तत्वपरक और बहुवादी धर्म में प्रमुखत: यह अंतर किया गया है कि जहाँ तत्वपरक धर्म में केवल एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहाँ बहुवादी धर्म में एक के स्थान पर अनेक की सत्ता में विश्वास किया गया है। इस्लाम एक तत्वपरक धर्म का उदाहरण है जहाँ एकमात्र अल्लाह को ही सर्वशक्तिमान माना गया है। यदि हम वेद तथा उपनिषद् की दृष्टि से धर्म पर विचार करें तो उस समय का वैदिक धर्म एक तत्वपरक धर्म ही था। वेदों तथा उपनिषदों में मात्र एक ईश्वर को ही सर्वोपरि मानकर उसकी सत्ता में विश्वास किया गया है। बाद के काल में यहाँ अनेक देवी-देवताओं की सत्ता को स्वीकार किया गया जैसे—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि। लेकिन मूल रूप से देखा जाए तो ये सब भी सर्वशक्तिमान ईश्वर के अलग-अलग रूप ही थे जिनको भिन्न-भिन्न कार्य सौंपे गए थे। जैन धर्म को हम एक बहुवादी धर्म के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं जहाँ चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिनमें अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। हिन्दु धर्म यद्यपि अपने मूल रूप मे एक तत्वपरक धर्म रहा है लेकिन कालांतर में पौराणिक धर्म बहुवादी धर्म बन गया जब शिव-पार्वती, नव दुर्गा, गणपति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की उपासना की जाने लगी। मूलत: हम कह सकते हैं कि सैद्धांतिक रूप में हिन्दू धर्म में एक ही ईश्वर में विश्वास किया जाता रहा है और उसी की सत्ता सर्वत्र व्याप्त मानी गई है, परंतु व्यावहारिक रूप में यहाँ अनेक सत्ताओं (देवी देवताओं) की उपासना की जाती रही है जो बहुवादी धर्म के रूप में प्रकट हुई है। ईसाई धर्म भी एक तत्वपरक धर्म का ही उदाहरण है।

**धर्म : संप्रदाय, पंथ तथा सम्मोहन (Religion : Sect, Cult and Hypnotism)**

धर्म जीवन की एक वास्तविकता है जो व्यक्ति को अनेक रूपों में प्रभावित करता है—

**संप्रदाय** (Sect)—धर्म के क्षेत्र में अनेक महापुरुष, साधु-संत, पीर-पैगंबर आदि हुए हैं जिन्होंने ईश्वर प्राप्ति का अपने-अपने तरीके से प्रयत्न किया है। इसी आधार पर धर्म के अंतर्गत अनेक संप्रदाय बन गए। जैसे वेदांत के अंतर्गत अद्वैतवादी संप्रदाय बन गया, द्वैतवादी संप्रदाय बन गया मुसलमानों में शिया तथा सुन्नी संप्रदाय बन गए। इसी प्रकार ईसाई धर्म में कैथोलिक व प्रोटेस्टैंट संप्रदाय बन गए। जैन धर्म में भी हमें दिगम्बर और श्वेतांबर दो संप्रदाय देखने को मिलते हैं।

(7) इन त्यौहारों के पीछे दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें कुछ कल्पनाशील बनना पड़ेगा। कल्पनाहीन मूढ़ व्यक्ति को इनमें भद्दापन व भोंडापन ही दिखाई पड़ेगा। कल्पनाशील व्यक्ति यह कल्पना करने में सक्षम हो सकता है कि इन बाह्य प्रथाओं एवं रीतियों के पीछे क्या तर्क है। इनकी वैज्ञानिकता, तर्कपूर्णता और दार्शनिकता की कल्पना करनी पड़ेगी। उसे यह कल्पना द्वारा ही विदित होगा कि जिस दुर्गा, सरस्वती की प्रतिमा की पूजा वह तीन दिन तक पंडाल में दुर्गा पूजा के अवसर पर करता है उन मूर्तियों को चौथे दिन तालाब या नदी में क्यों प्रवाहित कर देता है। उसे अयथार्थ के पीछे यथार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। वह अयथार्थ प्रतिमा की पूजा करते हुए भी यथार्थ देवी-देवता की कल्पना करता रहता है।

संसार में कुछ व्यक्ति साधारण बुद्धि के होते हैं और वे भविष्य की, गूढ़ तत्त्व की, यथार्थ की कल्पना करने में सक्षम नहीं होते। ऐसे पुरुष कुछ दिन तक प्रतिमा की पूजा-अर्चना करते रहते हैं और कथा-प्रवचन आदि के श्रवण के पश्चात् उनमें भी बुद्धि का, कल्पनाशीलता का शनैः शनैः विकास होने लगता है। तब वे भी प्रतिमाओं में महान सत्य या परमात्मा की कल्पना करने में समर्थ हो जाते हैं।

## ● धार्मिक चेतना
## (Religious Consciousness)

धार्मिक अनुभव के दार्शनिक विवेचन का उद्देश्य धर्म के आवश्यक सत्य की खोज करना और यह देखना है कि इस क्षेत्र में बुद्धि का किस सीमा तक प्रवेश है। धार्मिक चेतना के दार्शनिक विवेचन का मुख्य प्रयोजन धर्म के आवश्यक तत्व को खोजना तथा यह देखना है कि इस क्षेत्र में बुद्धि की किस सीमा तक भूमिका है। धार्मिक चेतना का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक मन से है। इसका विश्लेषण पूर्व तथा पश्चिम के अनेक दार्शनिकों ने किया।

### धार्मिक चेतना का स्वरूप (Nature of Religious Consciousness)

धार्मिक चेतना के लिये भावना, ज्ञान तथा संकल्प तीनों तत्वों की आवश्यकता पड़ती है।

**(a) भावना कल्पना मात्र**—केवल भावना अपर्याप्त है क्योंकि यह कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है।

**(b) ज्ञान अपर्याप्त**—इसी प्रकार यदि केवल ज्ञान हो तथा भावना व संकल्प न हो तब भी व्यर्थ है। अतएव इन तीनों तत्वों का योग धार्मिक चेतना को जन्म देता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म भावना, ज्ञान तथा इच्छा के समन्वय का सर्वोत्तम रूप है।

### ( क ) धार्मिक चेतना में ज्ञान का तत्व
### (Element of Reason in Religious Consciousness)

बुद्धिवादी दार्शनिकों ने ज्ञान पर अधिक बल दिया है। इस मत के समर्थकों में हेगेल तथा हेगेलवादी दार्शनिक आते हैं। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य ने ज्ञानमूलक तत्व की प्रधानता का ही समर्थन किया था। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। इसीलिये वह धार्मिक भी है। पशु जगत् अविवेकशील होने के कारण धर्म से दूर है। विवेक बुद्धि ही मानव को पशु जगत् से पृथक् करती है। मनुष्य को अपने जीवन के प्रयोजन के विषय में ज्ञान है। उसे यह ज्ञान है कि उसका जीवन अपूर्ण है, क्षणभंगुर है तथा नश्वर है।

व्यक्ति अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा अज्ञान से ज्ञान की ओर जाना चाहता है। वह जीवन व विश्व के स्वरूप को ज्ञात करना चाहता है। अत: वह धर्म की शरण में जाता है। धर्म के स्वरूप में परिवर्तन आता रहा है। आदिम धर्म भावनामूलक होने के कारण अन्धविश्वास जनित तथा रूढ़िग्रस्त थे। पर धर्म का आधार ज्ञानमूलक होने के साथ-साथ धर्म में दर्शन व तर्क के सहारे ज्ञान का प्रसार हुआ। ज्ञान

के बिना धर्म पंगु है। अत: धार्मिक चेतना के विकास में ज्ञान के महत्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इस मत के समर्थकों में प्रमुख नाम जॉन केअर्ड का है।

**जान केअर्ड** के अनुसार, ''जो कुछ यथार्थ है वह बौद्धिक है और जो कुछ है उस पर बौद्धिक दर्शन को विचार करने का अधिकार है।'' जॉन केअर्ड ने बुद्धि की सीमाओं को माना है परन्तु उसका मत है कि ये सीमायें बुद्धि पर किसी बाह्य शक्ति द्वारा आरोपित नहीं की गई वरन् बुद्धि ने स्वयं ही ये सीमायें अपने ऊपर आरोपित की हैं। जो धर्म के क्षेत्र से तर्क को बहिष्कृत करना चाहते हैं उन्हें ऐसा करने के लिए तर्क तो प्रस्तुत करने ही होंगे। फिर यह तथ्य कि बुद्धि अपना परिसीमन करते है यह भी प्रकट करता है कि वह सीमा का अतिक्रमण भी करती है। बुद्धि से परे कुछ भी नहीं है। अत: केअर्ड के अनुसार जो कुछ अतिमानसिक है अर्थात् बुद्धि से परे है यह बुद्धिहीन अर्थात् निरर्थक है। केअर्ड का तात्पर्य यह नहीं है कि धार्मिक अनुभव तार्किक निर्गमन का विषय है। धर्म में केवल अज्ञानमय आश्चर्य अन्ध समर्पण और एक दुष्कर समस्या के सामने विचारावरोध ही नहीं है वरन् यह बौद्धिक प्रशंसा, प्रेम व विश्वास भी है कि असीम का क्षेत्र हमारे लिये खुला है।

**आलोचना** (Criticism)—ज्ञानमूलक तत्व की आलोचना निम्न प्रकार की जा सकती है—

**(1) धर्म का मूल कारण नहीं**—ज्ञानमूलक तत्व धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो सकता है, पर मूल कारण नहीं माना जा सकता।

**(2) तर्कातीत**—ज्ञान का मूल तर्क तथा विश्लेषण करना है। पर धार्मिक विषय जिज्ञासा उत्पन्न करते हुये भी तर्क से परे है।

**(3) श्रद्धा तथा विश्वास की भूमिका**—ज्ञानवाद विवाद उत्पन्न करता है। इसमें श्रद्धा व विश्वास का कोई स्थान नहीं होता, जबकि धर्म में श्रद्धा व विश्वास आवश्यक हैं।

**(4) विवादग्रस्त बनाना**—ज्ञान धर्म को परस्पर विवाद का विषय बना देता है, जो धार्मिक भावन के अनुकूल नहीं होता। अत: धर्म को केवल ज्ञानमूलक दृष्टि से देखना ठीक नहीं है।

**(5) मानसिक चेतना का स्वरूप**—आलोचकों का मत है कि मानसिक चेतना को सार्वभौम मान लेना केवल अज्ञान का ही परिचायक है।

**(6) सम्बोधि की अवहेलना**—केअर्ड ने सम्बोधि की अवहेलना की है। उसने ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान के महत्व को पूर्णतया नहीं समझाया है।

**(7) मूल चेतना व आत्म-चेतना**—आलोचकों का मत है कि केअर्ड ने यह तक प्रस्तुत किया कि, ''जिस प्रकार से दो पदों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक तीसरा पद होना चाहिये जिससे कि वे सम्बन्धित हों उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में भी एक विचार प्रक्रिया होनी चाहिये अर्थात् उसमें वह सब होना चाहिये जो कि अप्रत्यक्ष अथवा बौद्धिक ज्ञान का विषय है।'' ऐसा करते समय उसने मूल चेतना और आत्म-चेतना के मध्य अन्तर को विस्मृत कर दिया है।

**(8) सम्बोधि ज्ञान**—केअर्ड ने विभिन्न प्रकार के सम्बोधि ज्ञान में उस समय भेद नहीं किया जबकि उसने यह क्या कि, ''केवल सम्बोधि ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु कोई उच्च स्तर का तत्व होना चाहिये।'' वास्तव में यह उच्च स्तर का तत्व बुद्धि नहीं वरन् आध्यात्मिक सम्बोधि है। इसमें अनुकूलता से ही किसी विशेष सम्बोधि के सत्य का निर्धारण होता है।

**(9) अतिमानसिक का अज्ञेय से तादात्मय**—आलोचकों का मत है कि **केअर्ड** ने यह कहकर कि, ''इस अर्थ में जो कुछ बुद्धि से परे है वह निर्बुद्धि अथवा अर्थहीन है।'' अतिमानसिक का अज्ञेय से तादात्म्य स्थापित कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मानस ही ज्ञान का एकमात्र साधन है।

### ( ख ) धार्मिक चेतना में भावना का तत्व
### (Element of Feelings in Religious Consciousness)

विद्वानों के बहुमत ने इस विचार का समर्थन किया है कि धार्मिक चेतना के लिये भावना मूलक लक्ष्य आवश्यक है। निस्संदेह धर्म ज्ञान का विषय न होकर भावना का विषय धार्मिक पुरुषों, अवतारों तथा विधि-विधान में आस्था तथा विश्वास का होना नितान्त आवश्यक है। भावना के अभाव में धर्म का आविर्भाव हृदय में कदापि नहीं हो सकता है। कतिपय विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं—

**(i) मैक्टाग्रार्ट** के शब्दों में, ''भय मिश्रित श्रद्धा ही मौलिक भावना को प्रकट करने में समर्थ है। यही नहीं आश्चर्य, रुचि, प्रशंसा, प्रेम, करुणा की भावना को भय से कम नहीं कहा जा सकता है।''

**(ii) श्लाथर चारवर** के शब्दों में, ''ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण ही धार्मिक भावना का प्राण है।''

**(iii) विलियम जेम्स** के शब्दों में, ''ईश्वर यथार्थ है, क्योंकि यह यथार्थ प्रभाव उत्पन्न कर सकता है।'' धार्मिक विश्वास अपने साथ व्यक्ति के लिये बहुत अधिक शुभ लाता है, आस्था वैज्ञानिक, विवेचनात्मक और स्वयं प्रमाणिक है। उसका चयन प्राणमय, अनिवार्य और महत्वपूर्ण है। अविश्वासी अपने अविश्वास के कारण भी बहुत कुछ खो देता है।

कुछ विद्वानों ने धर्म का मुख्य अंग भावना को कहा है। यद्यपि धर्म व्यवहारिक क्रियाओं का सृजन करता है फिर भी धर्म का आधार हृदय है। इस मत को शिलियरमेकर (Schleiermacher) टायलर (Tylor), मैक्टागार्ट (Mc Taggart) इत्यादि विद्वानों ने अपनाया है। इस विचार की पृष्टि के लिये कुछ तर्क दिये जाते हैं, जिन्हें भावनात्मक पहलू के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Affective Element) कहा जाता है शिलियरमेकर ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है ''धर्म पूर्ण निर्भरता की भावना है।'' (Religion is a feeling of absolute dependence) धर्म में व्यक्ति ईश्वर के प्रति निर्भरता की भावना रखता है। सचमुच निर्भरता की भावना ही धर्म के विकास का कारण है। भावानात्मक पक्ष की महत्ता का उल्लेख करते हुए मैक्टागार्ट ने कहा है ''भय मिश्रित श्रद्धा ही मौलिक धार्मिक भावना को प्रकट करने में सफल है।'' अब इस विचार की पुष्टि हेतु मुख्य युक्तियों का विवेचन करेंगे।

(1) इस पहलू का आधार सार्वजनिक विश्वास है। धर्म के प्रति भावना रखने के कारण ही मानव धार्मिक हो जाता है। मानय धर्म की आवश्यकता महसूस करता है और उसी कारण वह धार्मिक हो जाता है। जिस प्रकार वस्त्र, भोजन एवं घर की आवश्यकता हमें महसूस होती है, उसी प्रकार हम धर्म की भी आवश्यकता महसूस करते हैं।

(2) धर्म कोई तर्क या व्यावहारिक वस्तु नहीं है। ईश्वर के प्रति स्नेह और भावना का प्रदर्शन ही धर्म है। इस बात की पुष्टि विश्व की ओर ध्यान देने से हो जाती है। विश्व में लाखों अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्ति धार्मिकता का परिचय देते हैं। इसके विपरीत अनेक शिक्षित एवं ज्ञानी व्यक्ति धर्म का खण्डन करते हैं। यदि धर्म का आधार ज्ञान होता तो इस प्रकार के व्यापार दृष्टिगत नहीं होते। भावना ज्ञान से उच्च प्रतीत होती है। धर्म विश्वास (faith) पर आधारित है, जिसका स्रोत स्नेह है। अत: धर्म के लिए भावना ही प्रधान तत्व है।

(3) धर्म का उद्देश्य साधक और ईश्वर के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध उपस्थित करना है। मानव धर्म-साधना के द्वारा आराध्य वस्तु के प्रति अपनापन तथा निकटतम का भाव व्यक्त करना चाहता है। धर्म के इस उद्देश्य की पूर्ति भावना से ही सम्भव है। ज्ञान धर्म की इस माँग की अवहेलना करता है। जब हम किसी वस्तु को जानने का प्रयास करते हैं, तब वस्तु और इममें पार्थक्य की दीवार खड़ी होती है। भावना द्वारा ही इस विरोध का खण्डन होता है। अत: भावना ज्ञान से उच्च प्रतीत होती है।

(4) विश्व में अनेकों ऐसे धर्म हैं, जहाँ मूर्ति-पूजा की परिपाटी है। मानव पत्थर-मूर्ति को ईश्वर का प्रतिरूप समझता है। बुद्धि पत्थर जैसे निर्जीव और ठोस पदार्थ पर आत्म-समर्पण, श्रद्धा, प्रेम आदि अभावनाओं को प्रदर्शित करने को तत्पर नहीं रहती है। परन्तु यह भावना का ही चमत्कार है जिसके फलस्वरूप पत्थर को भी ईश्वर का प्रतीक समझकर साधक धार्मिकता का परिचय देता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि धर्म के लिये भावना ही प्रधान है।

(5) धार्मिक व्यक्ति के लिये भावना का रहना आवश्यक है। भावना के अभाव में धार्मिकता की व्याख्या करना असम्भव है। धर्म में मानव भिन्न-भिन्न क्रियाओं के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है। क्रियाओं के प्रदर्शन के लिये भी भावना आवश्यक है। भावना के अभाव में क्रियाएँ यंत्रवत् (mechanical) हैं। भावना ही क्रियाओं का मूल्य निश्चित करती हैं। इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि धर्म का सर्वस्व भावना है। भावना ही धर्म को जीवनदान करती है। भावना धार्मिक चेतना का मुख्य अंग है। महात्मा गाँधी ने भी इस विचार का समर्थ करते हुये स्पष्ट रूप से कहा है—''धर्म मस्तिष्क की उपज न होकर हृदय की समझ है।''

प्रो० केयर्ड ने भावात्मक पक्ष की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है, ''सटीक चिन्तन अथवा शुद्ध इच्छा के कारण हम धार्मिक नहीं बनते बल्कि ईश्वर के प्रति अपनी साधारण एवं मूलभूत भावना और प्रेम की विशेष दशा के कारण बनते हैं।''

धर्म का एक मात्र आधार भावना को ठहराना, एकांगी विचार प्रतीत होता है। भावना धर्म का मुख्य अंग है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि भावना ही एक मात्र आधार है गलत है। इसलिये आलोचकों ने उस मत का खण्डन किया है। आलोचकों के तर्क को भावना के विरुद्ध तर्क (Arguments against affective element) कहा जाता है।

**आलोचना** (Criticism)—इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की गयी है—

**(1) संकल्प आवश्यक है** (Will is Essential)—यह कथन कि केवल भावना ही धार्मिक चेतना के मूल में होती है अनुपयुक्त तथा अस्वीकार्य है। भावना की प्रगाढ़ता उसकी संकल्प शक्ति पर आधारित है। धार्मिक चेतना में इच्छा के महत्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इच्छा अथवा संकल्प शक्ति द्वारा ही अच्छे बुरे का ज्ञान प्राप्त होता है। अत: भावना की गहनता के लिये संकल्प तत्व की आवश्यकता की अवहेलना नहीं की जा सकती।

**(2) विवेक की आवश्यकता** (Essentiality of Religion)—प्रसिद्ध विद्वान केअर्ड का मत है कि विवेक से हीन धार्मिक भावना में अन्धविश्वास तथा रूढ़ियों का जन्म होता है। इसके परिणामस्वरूप धर्मों का स्वरूप विकृत हो जाता है।

**(3) भावना वैयक्तिक है** (Feeling is Personal)—भावना व्यक्तिगत तथा परिवर्तनशील होती है। इसमें स्थिरता का गुण नहीं पाया जाता है। परिवर्तनशील अस्थिर भावनाओं को ही धार्मिक चेतना का आधार मानकर धर्म को सर्वस्व नहीं कहा जा सकता।

**(4) अन्धविश्वास** (Blind Faith)—निस्सन्देह धर्म के लिये भावना आवश्यक है। पर भावना की प्रधानता धर्म को तर्क व दर्शन से दूर खींच ले जाती है और अन्धविश्वास का विषय बना देती है।

### ( ग ) संकल्प का तत्व एवं धार्मिक चेतना
### (Elements of Will and Religious Consciousness)

कुछ विद्वानों ने धर्म का आधार मात्र संकल्प को कहा है। मानव अपनी भावनाओं का प्रकाशन व्यवहारों में करता है। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा-पद्धतियों का विकास हुआ है, तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का

जन्म हुआ। वैदिक काल में कर्म-काण्ड पर जोर दिया गया है। विश्व के अनेक धर्मों का आधार कर्म रहा है। यूरोपीय दर्शन में कान्ट ने भी संकल्प की प्रधानता को स्वीकार किया है। फिक्टे ने संकल्प को अपने दर्शन का आधार माना है। मानव में आत्मरक्षा की भावना रहती है जिससे वह होना कुछ चाहता है, पर परिस्थितिवश वह रहता कुछ और है। इस प्रकार आदर्श और मानव के बीच एक खाई हो जाती है। इस खाई की पूर्ति न भावना कर सकती है, न विवेक। इस खाई की पूर्ति केवल क्रिया से ही सम्भव है। इसलिए, कान्ट, फिक्टे, आरनोल्ड ह्वाइटहेड इत्यादि दार्शनिकों ने संकल्प को धर्म का सर्वस्व कहा है।

**पक्ष में तर्क**—जिन लोगों ने धार्मिक कर्म को प्रधानता दी है, उनके तर्क निम्नलिखित हैं, इन तर्कों को क्रियात्मक पहलू के पक्ष में युक्तियाँ (Arguments in favour of conative element) कहा जाता है—

(1) धार्मिक हम उसे कहते हैं, जो धार्मिक क्रियाओं को सम्पादित करता है। ज्ञानी या भावुक व्यक्ति ही धार्मिक हो ऐसा कहना भूल है। विश्व के सभी धर्म, कर्मों और व्यवहारों पर जोर देते हैं। प्राचीन धर्म और प्राकृतिक धर्म में मानव को ज्ञान की कमी थी। फिर भी उनका धार्मिक जीवन व्यवहार तथा क्रिया में व्यक्त होता था। अत: धर्म का प्रधान पहलू क्रिया प्रतीत होता है।

(2) धर्म के विकास का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि धर्म, मानव का ईश्वर के प्रति व्यवहार है। आदिकालीन युग में मानव को शुभ-प्राप्ति में संघर्ष का सामना करना पड़ता था। आज वर्तमान युग में भी मानव अपने अभावों को दूर करने का प्रयास करता है। मानव अपनी सीमा के विरुद्ध संघर्ष करने से धार्मिक हो जाता है। संघर्ष एक क्रिया है। अत: धर्म का आधार क्रिया को ही कहा जाता है।

(3) धर्म में विकास या प्रगति तभी आ सकती है, जब धर्म क्रियाशील हो। संकल्प द्वारा विकास को अपनाया जाता है। संसार के सभी महान् व्यक्तियों का उपदेश कर्म करने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। यह पूर्णत: नैतिक भी प्रतीत होता है, क्योंकि नैतिकता का आधार मानव का कर्म ही कहा जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म का आधार संकल्प है।

**आलोचना** (Criticism)—कुछ विद्वानों ने इस मत के विरुद्ध कुछ युक्तियाँ रखी हैं, जिन्हें क्रियात्मक पहलू के विरुद्ध तर्क (Arguments against conative element) कहा जाता है—

(1) कर्म को धर्म का एकमात्र आधार मानना गलत है। कर्म ज्ञान के अभाव में यंत्रवत् है। वेद में कर्म-काण्ड की प्रधानता हो गई है। परन्तु जब दर्शन का विकास हुआ तब लोगों ने वैदिक-काण्ड को यंत्रवत् और सारहीन समझा। यदि धर्म सिर्फ व्यवहार पर ही आधारित हो तो कर्म एक ऐसी क्रिया होगी, जिसका मूल्यांकन करना असम्भव होगा। इस प्रकार के धर्म को धर्म कहना धर्म का उपहास करना है।

(2) यदि धर्म में क्रियात्मक पहलू को ही मात्र प्रधानता दी जाये तो धर्म में संकीर्णता का समावेश हो जाता है। मानव धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में बाध्यता महसूस करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि धर्म उन क्रियाओं तक ही सीमित प्रतीत होने लगता है। अत: धर्म का आधार मात्र कर्म नहीं है।

(3) मानव एक विवेकशील प्राणी है। मानव के पास मस्तिष्क तथा हृदय है। मानव की तुलना मशीन से नहीं की जा सकती। जब भी मानव कोई कर्म करता है, तब वह उसके बारे में विचार करता है। कर्म करने के पूर्व मानव कर्म का लक्ष्य, सीमा, लाभ इत्यादि विषयों पर चिन्तन करता है। यदि धर्म का आधार सिर्फ व्यवहार को बनाया जाये तो उससे धर्म मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सार्थकता प्रमाणित करने में असफल होगा। अत: हमें मानना ही होगा कि धर्म का आधार संकल्प को नहीं कहा जा सकता है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि धर्म का आधार न सिर्फ ज्ञान है, न सिर्फ भावना और न सिर्फ व्यवहार ही है। सच पूछा जाये तो धर्मज्ञान, भावना और कर्म तीनों का समन्वय है। जिस प्रकार विचार, भाव और संकल्प मन के तीन अंग हैं, ठीक उसी प्रकार धार्मिक चेतना के तीन अंग हैं। तीनों अंगों की प्रधानता है। किसी एक अंग को ग्रहण करना तथा अन्य अंगों की उपेक्षा करना गलत है। व्यक्तित्व एक इकाई है तथा उसके अंगों का अलग-अलग विश्लेषण नहीं किया जा सकता। धर्म सम्पूर्ण मानव-मन की प्रतिक्रिया है। अत: धार्मिक चेतना में धर्म के तीनों पहलुओं का ध्यान रहना स्वाभाविक है। धर्म की वही परिभाषा सफल मानी जाती है, जिसमें धर्म के तीनों मौलिक पहलुओं की विवेचना होती है। इस दृष्टिकोण से प्रो० गैलवे की परिभाषा सफल है—Religion is "Man's faith in a power beyond himself where by he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life and which he expresses in acts of worship and service." इस परिभाषा में धार्मिक चेतना के तीनों मौलिक अंगों की विवेचना हुई है। "Man's faith.....himself–परिभाषा के इस अंग में ज्ञानात्मक पहलू की पुष्टि है, 'where by he.....life' परिभाषा के इस अंग का सम्बन्ध भावनात्मक पहलू (Affective Element) से है, 'and which...and service.' परिभाषा के इस अंग का सम्बन्ध क्रियात्मक पहलू से है। धर्म के लिए तीनों पहलुओं का रहना नितान्त आवश्यक है। यह ठीक है कि विशेष काल या परिस्थिति में कोई पहलू गौण रहता है, और कोई प्रधान।

आधुनिक वैज्ञानिक काल में धर्म का ज्ञानात्मक पहलू प्रधान है, क्योंकि यह तर्क तथा बुद्धि-प्रधान काल है। मानव धर्म में भावना की प्रधानता दी गई है। आदि-कालीन धर्म तथा प्राकृतिक धर्म में क्रियात्मक पहलू की प्रधानता दी गई थी। जब धर्म में ज्ञान की प्रधानता होती है, तब धर्म का स्वरूप बौद्धिक (Intellectual) हो जाता है। इसके विपरीत जब धर्म में भाव की प्रधानता होती है, तब उसे संवेगात्मक (Emotional) कहा जाता है, और जब कर्म की प्रधानता होती है तब उसे व्यावहारिक (Practical) कहा जाता है। धर्म संवेगात्मक, ज्ञानात्मक तथा व्यावहारिक तीनों हैं। अत: धार्मिक चेतना में ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक तीनों पहलुओं का पारस्परिक महत्व स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

**( घ ) प्रकृतिवादी मत (Naturalists)**

प्रकृतिवादी मत का प्रतिपादन जे० एच० ल्यूबा ने किया है। उसने धर्म के व्यवहारवादी तथा जैविक पक्ष पर बल दिया है। धर्म मानव का ईश्वर के मानव रूप के प्रति व्यवहार है। **ल्यूबा** ने समाज-विज्ञान तथा मनोविज्ञान से सहायता ली है। उसका सिद्धान्त उपयोगितावाद और प्रकृतिवाद का प्रतिनिधित्व करता है। उसके अनुसार धर्म का सार कतिपय आधारभूत आवश्यकताओं की तृप्ति है। उसके शब्दों में, ''प्रेम में ईश्वर की उपस्थिति का साक्षात्कार करना ही रहस्यवादी की अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की विधि है।'' मानव अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहता है। केवल धर्म में दैवी सत्ता, ईश्वर अथवा अन्य किसी परम शक्ति में अपनी इच्छाओं को पूर्ण करता है। धर्म में अन्य कोई नवीनता नहीं है। अत: इस विशेष प्रकार के मानव व्यवहार की व्याख्या करने के लिये कोई नवीन प्रत्यय आवश्यक नहीं है। मानव को धर्म की आवश्यकता है क्योंकि उसकी आवश्यकतायें केवल भौतिक ही नहीं वरन् आध्यात्मिक भी हैं।

**ल्यूबा** ने अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय विधियों, प्रेरणाओं, प्रत्यक्ष, समाधि और लघिमा (Leviation) आदि का विस्तृत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

**आलोचना** (Criticism)—आलोचकों ने ल्यूबा के विचारों की आलोचना निम्न प्रकार की है—

**(1) एक व्यर्थ आशा** (A Vain Hope)—ल्यूबा को यह आशा है कि, ''धर्म और विज्ञान दोनों ही एक अधिक उत्तम अधिक आनन्दित और अधिक दैवी मानव की उत्पत्ति के लिये हाथ में हाथ मिलाकर कार्य

करेंगें।'' परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यदि धार्मिक अनुभव वस्तुगत आधार के अभाव में एक अन्धविश्वास मात्र है कि तब इस प्रकार की आधा कैसे पूर्ण हो सकती है।

**(2) वैयक्तिक ईश्वर के परम्परागत विचार का विरोध** (Opposition of the Traditional Idea of Personal God)—कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि ल्यूबा ने दैवी सत्ता का नहीं बल्कि केवल एक वैयक्तिक ईश्वर के परम्परागत विचार का विरोध किया है।

**(3) धर्म के प्रमुख तत्व का खोना** (Loss of the Primary Element of Religion)—ल्यूबा ने धर्म को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है पर इस प्रयास में उसने धर्म का पर्याप्त तत्व खो दिया है। धर्म एक वैयक्तिक मिलन, एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध की खोज करता है। ईश्वर के वैयक्तिक पक्ष से सम्बन्धित कृपा, प्रेम, पूजा इत्यादि अत्यधिक मूल्यवान हैं। उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

**(4) मनोवैज्ञानिक सुलभ दोष** (Psychologists Fallacy)—ल्यूबा की धार्मिक अनुभव की व्याख्याओं में मनोवैज्ञानिक सुलभ दोष है। वही व्यक्ति धार्मिक अनुभव का सच्चा वर्णन कर सकता है जिसने ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो और वह मनोविज्ञान में पूर्णतया कुशल हो।

**(5) अपर्याप्त प्रयास** (Insufficient Effort)—धर्म का सार केवल रहस्यवादियों की जीवनियों का अध्ययन कर अथवा निरीक्षण से ज्ञात नहीं किया जा सकता।

**(6) मानवीय भाषा की सीमायें** (Limitations of Human Language)—मानवीय भाषा इन उच्चतर अनुभवों का वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

### ( ङ ) मनोविश्लेषणवादी मत (Psycho-analsysis)

**फ्रॉयड** का मत है कि धर्म का प्राचीनकाल में जाति के पिता की हत्या की ऐतिहासिक घटना तथा उसके परिणामस्वरूप अपराध की भावना से अनिवार्य सम्बन्ध है। इसके परिणामस्वरूप एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर के रूप में पिता की पुनर्स्थापना हुई। इसके समक्ष व्यक्ति अपने अपराध को स्वीकार करने के रूप में आत्मसमर्पण करते हैं और उससे मुक्ति प्राप्त करने की आशा करते हैं। अपने 'टोटेम' और 'टैबू' (Totem and Taboo) नामक ग्रन्थ में फ्रॉयड ने चिन्हवादी धर्म (Totemism) का मनोवैज्ञानिक विकास दिखलाया है। यह धर्म का ऐतिहासिक प्रारंभ है। शीघ्रताशीघ्र ईश्वर धार्मिक चिन्ह का स्थान ग्रहण कर लेता है। ईश्वर भी पहले आधा पशु और आधा मानव था, तदुपरान्त उसे एक शक्तिशाली मानव माना गया। धर्म शीघ्र ही बहुद्वैवतावाद से 'हीनोथीज्म' में होकर एक देववाद पर पहुँच गया।

**आलोचना** (Criticism)—आलोचकों ने फ्रॉयड के सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की है—

**(1) उच्चतर धर्मों पर प्रयुक्त नहीं** (Not Applicable on Higher Religions)—फ्रॉयड ने धर्म को एक भ्रान्ति माना है, ऐसा मत उच्चतर धर्मों पर लागू नहीं हो सकता।

**(2) धर्म का तिरस्कार** (Religion Neglected)—फ्रॉयड ने न केवल परम्परागत तथाकथित धर्म की ही आलोचना की है वरन् वास्तविक धर्म का ही तिरस्कार कर दिया है।

**(3) तथ्यों का अति साधारणीकरण** (Over Simplification of the Facts)—फ्रॉयड ने शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर स्थापित एक धर्महीन समाज का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। उसका मत है कि जितनी अधिक मात्रा में ज्ञान के फल मानव को सुलभ होंगे, उतना ही अधिक धार्मिक विश्वास समाप्त होगा। आलोचकों का मत है कि फ्रॉयड की व्याख्यायें तथ्यों को अति साधारण बना देती हैं।

**(4) अनुपयुक्त अर्थ** (Improper)—फ्रॉयड ने धर्म के विश्लेषण में दार्शनिक, नैतिक तथा उच्च संवेग जनित पक्षों का या तो गलत अर्थ लगाया है अथवा बिल्कुल ही भुला दिया है।

**(5) अतिपूर्ण** (Excessive)—फ्रॉयड का दृष्टिगत अत्यधिक विश्लेषणात्मक, उपयोगितावादी और व्यवहारवादी है।

### ( च ) पूर्ण अबौद्धिकतावाद (Complete Irrationalism)

रुडाल्फ आटो ने धार्मिक चेतना की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उसका विचार है कि धार्मिक चेतना न तो भावना-प्रधान है और न ज्ञान अथवा संकल्प-प्रधान है। यह तो शुद्ध अबौद्धिक है। तब तत्व को आटो ने 'नूमिनस' का नाम दिया है। इसका अर्थ है रहस्यपूर्ण, अवर्णनीय तथा पूर्ण सत्ता की अनुभूति। धार्मिक चेतना रहस्यानुभूति का विषय है, यह स्वयंसिद्ध सत्ता है, यह अवर्णनीय है तथा तर्क की पहुँच से परे है।

**(1) रहस्यमय** (Mystic)—मानव अपूर्ण है, सत्ता पूर्ण है। अत: अपूर्ण मानव रहस्यमयी, अनूठी, अलौकिक पर सत्ता को नहीं जान सकता है। यह अन्य सांसारिक वस्तुओं की भाँति ज्ञेय नहीं है।

**(2) अवर्णनीय** (Inexpressible)—इसकी केवल अनुभूति ही की जा सकती है। कोई भाषा इसका वर्णन नहीं कर सकती। साधकगण इस तत्व के आनन्द को अपने हृदय में अनुभव कर सकते हैं तथापि वे उसका दर्शन नहीं कर सकते।

**(3) अबौद्धिक** (Irrational)—संसार के विभिन्न उपादानों तथा वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है, परन्तु सत्ता को ज्ञान से भी नहीं जाना जा सकता। अत: इसे पूर्ण अबौद्धिक तत्व माना जाता है। भावनामूलक एवं रहस्यमयी होने के कारण ज्ञान द्वारा इसका विश्लेषण संभव नहीं है।

**(4) विशिष्ट** (Specific)—यह विश्व की समस्त वस्तुओं से अलग एवं स्वनिर्मित होने के कारण विशिष्ट है। यहाँ तक कि यह 'सत्यं शिवं सुन्दरं' से भी परे है। किसी भी युक्ति के द्वारा इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता और न इसका दर्शन ही किया जा सकता है।

**आलोचना** (Criticism)—आटो के विचारों की आलोचना निम्न प्रकार की गयी है—

**(1) कल्याण सम्भव नहीं** (Welfare Not Possible)—आटो ने धर्म की व्याख्या जिस प्रकार की है उससे कल्याण होना सम्भव नहीं है।

**(2) धर्म लूला लंगड़ा** (Religion Lame and Crippled)—आटो ने ज्ञान तथा भावना व इच्छा के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा है। इस प्रकार आटो ने धर्म को लंगड़ा, बहरा तथा गूँगा बना दिया है।

**(3) सभी तत्वों की आवश्यकता** (Necessity of all the elements)—ज्ञान धर्म का नेत्र है, भावना-हृदय है तथा संकल्प कर्म करने के लिये हाथ के समान है।

**(4) अस्पष्ट मत** (Ambiguous Theory)—आलोचकों का मत है कि आटो का 'नूमिनस' अस्पष्ट तथा मन-गढ़न्त कल्पना है। उन्होंने 'नूमिनस' को परम तत्व का प्रतीक माना है तथा शेष निषेध कर दिया है।

**(5) समर्पण नहीं** (No Dedication)—भक्त का ईश्वर के प्रति समर्पण तथा ईश्वर का भक्त के प्रति स्नेह आदि आटो के विचारों में दिखलाई नहीं पड़ता।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भावना, ज्ञान तथा संकल्प के समन्वय में मानवीय जीवन की पूर्ण व्याख्या की जा सकती है तथा धार्मिक चेतना का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

## ● शुभ तथा पवित्रता की अवधारणा (Concept of Shubh and Holy)

टी० एन० मदन ने ''शुभ'' के विचार को पवित्रता के विचार के संबंध में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार शुभ का अर्थ समय तथा लौकिक घटनाओं से है जो व्यक्तियों की विशिष्ट श्रेणी के संबन्ध में

प्रत्यक्ष जुड़ा है। एक समय जो एक प्रकार की क्रिया के लिये शुभ माना जाता है। वह दूसरे प्रकार की क्रिया के लिये शुभ होना आवश्यक नहीं है। इस शब्द का दूसरा प्रयोग कुछ विशेष समारोहों या उत्सवों में किया जाता है। कुछ माह तथा माह में कुछ दिन शुभ होते हैं। विवाह, पुत्र का जन्म जैसी सुखद घटनाओं के लिये भी शुभ का प्रयोग होता है तथा शुभ शब्द स्थानों तथा दिशाओं के लिये भी प्रयोग होता है। पवित्र नदी के किनारे स्थित पवित्र स्थान में पवित्र डुबकी लगाना भी शुभ माना जाता है। समाज पंडितों की कुछ वस्तुएँ जैसे धातु या मिट्टी से बना गंगा जैसी पवित्र नदी के जल से भरा कलश नामक बर्तन शुभ माना जाता है। कलश किसी धार्मिक तथा सामाजिक मूल्यों से संबंधित संस्कार आरम्भ होने का सूचक है। ग्रहों को दो श्रेणियों में बाँटा जाता है शुभ तथा अशुभ। नौ ग्रहों में से केवल तीन ग्रह बृहस्पति, चन्द्रमा तथा शुक्र शुभ ग्रह माने जाते हैं। बुद्ध ग्रह नपंसुक तथा तटस्थ ग्रह माना जाता है।

बच्चे का जन्म और विशेष शिष्य रूप से पुत्र का जन्म एक शुभ घटना है परन्तु यह हमेशा शुभ घटना नहीं है यह विशिष्ट ग्रहों की स्थिति तथा जन्म के समय उनकी स्थिति पर निर्भर है। यदि बच्चे के जन्म के समय अशुभ ग्रह की स्थिति है तो अनेक संस्कारों के द्वारा उसे ठीक कराने की आवश्यकता है। वास्तव में ब्राह्मण अपने घर में अनिष्ट ग्रहों के लिये नियमित धार्मिक कृत्य करते रहे हैं। इन कृत्यों को सामान्यत: उपाय या ठीक करने के संस्कार कहा जाता है। इस प्रकार जन्म हमेशा एक शुभ घटना और मृत्यु एक अशुभ घटना मानी जाती है। परन्तु मृत्यु की घटना में अशुभ अलग-अलग मात्रा में हो सकता है। यदि मृत्यु शुभ दिनों में हो तो अशुभता की मात्रा कम होती है जबकि सौभाग्यशाली दिनों में हुई मृत्यु में अशुभता की मात्रा अधिक होती है। मृत्यु दुर्भाग्यपूर्ण है परन्तु ब्राह्मण स्त्रियों के लिये वैधव्य उससे भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण है। जिन स्त्रियों के पति की मृत्यु हो जाती है उनकी प्रस्थिति में कठोर परिवर्तन आता है। वह विवाह या जन्म उत्सव जैसे शुभ अवसरों से भाग नहीं ले सकती। शुभ एक आदर्श मूल्य है जो मानव के जीवन में घटनाओं की गुणात्मकता दर्शाता है तथा समय व स्थान का पहलू भी रखता है।

सबसे पवित्र व शुद्ध वस्तु यज्ञोपवीत है, तीन सूत के धागे से बना गर्दन में पहनने वाला धागा जिसे धार्मिक दीक्षा के संस्कार के साथ पहना जाता है। यह इस बात का प्रतीक है कि वह द्विज जाति का है तथा अन्य जातियों से अलग तथा उनसे श्रेष्ठ है। यज्ञोपवीत समारोह के पूर्ण होने के बाद केवल ब्राह्मण अन्य संस्कारों में भाग ले सकते हैं। यह संस्कार उन्हें वह शक्ति प्रदान करता है जिससे वे अन्य दिन प्रतिदिन के संस्कारों में भाग ले सकते हैं। मदन लिखते हैं कि कश्मीरी ब्राह्मण का दैनिक जीवन शंकाओं से भरा है। किसी विशिष्ट कार्य को करें या न करें यह हिचक सदा बनी रहती है। उत्तर प्रदेश में महा ब्राह्मण के साथ मुकाबला अशुभ घटना मानी जाती है। मदन के अनुसार उत्तर प्रदेश तथा कश्मीर दोनों ही स्थानों पर दूध को सबसे शुद्ध पेय माना जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शुभ तथा अशुभ का विचार लोगों के दैनिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। मदन यह भी कहते हैं कि शुभ के विचार के विशिष्ट भाव तथा सम्बन्ध विभिन्न हो सकते हैं, परन्तु ये विशेष रूप से उच्च जातियों के मूल्य के लिये आधारभूत महत्व रखते हैं।

## ● अनुष्ठान (Rituals)

एक अनुष्ठान इशारों, शब्दों, कार्यों या वस्तुओं को शामिल करने वाली गतिविधियों का एक क्रम है, जो एक क्रमबद्ध जगह में और एक निर्धारित अनुक्रम के अनुसार किया जाता है। अनुष्ठान एक समुदाय की परंपराओं द्वारा निर्धारित किया जा सकता है, जिसमें एक धार्मिक समुदाय भी शामिल है। औपचारिकतावाद, पारंपरिकवाद, अविश्वास, नियम-शासन, धर्मनिरपेक्षतावाद और प्रदर्शन द्वारा अनुष्ठानों की विशेषता हे, लेकिन उन्हें परिभाषित नहीं किया गया है।

अनुष्ठान सभी ज्ञात मानव समाजों की एक विशेषता है। वे न केवल संगठित धर्मों और पंथों के पूजा संस्कारों और संस्कारों को शामिल करते हैं, बल्कि पारित होने, प्रायश्चित और शुद्धि संस्कारों, निष्ठा, समर्पण समारोहों, राज्याभिषेक और राष्ट्रपति उद्घाटन, विवाह, अंतिम संस्कार और बहुत कुछ के संस्कार भी शामिल हैं। यहाँ तक कि सामान्य क्रियाओं जैसे हाथ मिलाना और ''नमस्ते'' को अनुष्ठान कहा जा सकता है।

अनुष्ठान अध्ययन के क्षेत्र में अनुष्ठान शब्द की कई परस्पर विरोधी परिभाषाएँ देखी गई हैं। क्यारीकिडस द्वारा दिया गया एक अनुष्ठान बाहरी गतिविधि के लिए एक बाहरी या ''एटिक'' श्रेणी है (या कार्यों का एक सेट) जो बाहरी व्यक्ति को तर्कहीन, गैर-सन्निहित या अतार्किक लगता है। इस शब्द का उपयोग इनसाइडर या 'एमिक' परफॉर्मर द्वारा भी एक पावती के रूप में किया जा सकता है कि इस गतिविधि को बिना देखे हुए दर्शक द्वारा देखा जा सकता है।

एक अनुष्ठान इशारों, शब्दों और वस्तुओं को शामिल करने वाली गतिविधियों का एक क्रमबद्ध अनुक्रम है, जो एक अनुक्रमित स्थान पर किया जाता है, और अभिनेताओं के लक्ष्यों और हितों की ओर से अप्राकृतिक संस्थाओं या बलों को प्रभावित करने के लिए डिजाइन किया गया है। अनुष्ठान मौसमी हो सकता है, जलवायु चक्र में परिवर्तन का सांस्कृतिक रूप से परिभाषित क्षण या रोपण, कटाई, या सर्दियों से गर्मियों के चरागाह में जाने जैसी गतिविधि का उद्घाटन; या वे एक व्यक्ति या सामूहिक संकट के जवाब में आकस्मिक हो सकते हैं। आकस्मिक संस्कारों को आगे चलकर जीवन-संकट वाले समारोहों में विभाजित किया जा सकता है, जो कि जन्म, यौवन, विवाह, मृत्यु और इसी तरह, किसी व्यक्ति के जीवन-चक्र में एक चरण से दूसरे चरण में, और विपत्ति के अनुष्ठान के लिए सीमांकित किया जाता है, जो अप्राकृतिक प्राणियों या ताकतों को खत्म करने या निर्वासित करने के लिए किए जाते हैं, माना जाता है कि वे ग्रामीणों को बीमारी, बुरी किस्मत, स्त्री रोग संबंधी परेशानियों, गंभीर शारीरिक चोटों और इस तरह से पीड़ित थे। अनुष्ठानों के अन्य वर्गों में दैवीय अनुष्ठान शामिल हैं; राजनैतिक अधिकारियों ने अपने क्षेत्रों में मनुष्यों, पशुओं और फसलों के स्वास्थ्य और प्रजनन को सुनिश्चित करने के लिए प्रदर्शन किया; कुछ देवताओं के लिए, धार्मिक संघों में, या गुप्त समाजों में समर्पित पुजारियों में दीक्षा; और देवताओं और पैतृक आत्माओं या दोनों को भोजन और परिवादों की दैनिक पेशकश के साथ।

## ● अनुष्ठानिक क्रियायें एवं संस्कार (Rites and Ritulas)

धार्मिक कृत्यों अथवा अनुष्ठानिक क्रियाओं (Rites) को 'संस्थागत प्रतीकात्मक प्रणालियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इन प्रतीकात्मक कार्य प्रणालियों का अनुसरण करते हुये लोगों का ऐसा विश्वास होता है कि वे या तो इच्छित स्थितियों की योजना का सृजन कर रहे हैं (जैसा कि जादू में किया जाता है) अथवा वे अनिच्छित, हानिकारक, विनाशकारी स्थितियों को रोकने का प्रयास कर रहे हैं। मनुष्य के सभी कार्यकलाप उपयोगी अथवा वैज्ञानिक नहीं हो सकते। आधुनिक यूरोपीय समाजों में उपयोगितावाद एवं वैज्ञानिकता पर अधिक जोर दिया जाता है। यूरोपीय विद्वानों के इसी दृष्टिकोण के कारण अक्सर वे अन्य संस्कृतियों में प्रचलित संस्कारों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। वे संस्कारिक व्यवहारों की विवेचना सदैव अति-प्राकृतिक आस्थाओं के सन्दर्भ में करने की चेष्टा करते हैं। इसीलिये वे इन संस्कृतियों की वैचारिकता में प्राकृतिक एवं अति प्राकृतिक की स्पष्ट द्वैधता को मानकर चलते हैं जैसा कि दुर्खीम ने पवित्र एवं अपावन अथवा लौकिक की द्वैधता की चर्चा की है, किन्तु वास्तव में अधिकांश संस्कृतियों में लोगों की वैचारिकता में ऐसी कोई स्पष्ट सीमा रेखा नहीं होती। विशेषकर आदिम समाजों में अक्सर इससे भिन्न प्रकार की वैचारिकता देखने को मिलती है। वे अपने अनुभव के जगत में विभिन्न प्रकार के कारकों की पहचान स्थापित करते हैं। धार्मिक कृत्यों अथवा कर्मकांडों का वास्तविक महत्व आवश्यक रूप से उपयोगितावादी न

होकर स्थापित मूल्यों को सशक्त करने में हो सकता है। प्रत्येक धार्मिक कृत्य में भाषा के माध्यम से कुछ कहा जाता है तथा हाथों–पैरों के संचालन एवं विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से कुछ क्रियायें की जाती हैं। धार्मिक कृत्यों/कर्मकांडों का वास्तविक महत्व उनकी व्यक्तता के लक्षण में निहित होता है। कर्मकांड स्वयं में साध्य होते हैं। उनके परिणाम अथवा उनकी प्रभाविकता आवश्यक नहीं कि उसी रूप में हो जैसा कि लोग सोचते हों। उनके अन्य सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिणाम भी हो सकते हैं।

अन्य अनेक प्रकार के प्रतीकात्मक व्यवहारों से भिन्न धर्म से जुड़े हुये प्रतीकात्मक व्यवहारों को 'संस्कार' कहा गया है। इनमें किसी–न–किसी अमानवीय, अति प्राकृतिक आत्मा/प्रेतात्मा आदि में विश्वासों का संदर्भ एक आवश्यक तत्व होता है। मैलिनोस्की के अनुसार संस्कार विभिन्न प्रकार की जीवन की स्थितियों में सहकारिता एवं सहयोग की भावना को संयोजित एवं नियंत्रित करते हैं। धर्म अथवा जादू के विश्वास उन्हें वैधता अथवा सामाजिक मान्यता प्रदान करते हैं। संस्कार व्यक्ति में आत्मविश्वास को दृढ़ करते हैं। जनजातीय आदिम समाजों में दैविक प्रकोप का भय तथा आधुनिक समाजों में देवी–देवताओं के सन्दर्भ में समाज द्वारा निर्धारित नैतिक आदर्शों की मान्यता संस्कारों की परिपाटी को स्थायित्व प्रदान करती है। धर्म के अध्ययन में मानवशास्त्रियों की अधिकांश रुचि मनुष्य के उर्वरक मस्तिष्क एवं कल्पनाशक्ति के द्वारा सृजित दैविक शक्तियों के विभिन्न स्वरूपों में रही है। किन्तु प्रकार्यवादी दृष्टिकोण ने विश्वासों के स्थान पर संस्कारों के विश्लेषणों को अधिक महत्व प्रदान किया। संस्कारों के माध्यम से जिन प्रतीकों का प्रतिनिधित्व होता है संस्कारों के अध्ययन में उनकी विवेचना महत्वपूर्ण होती है।

ऑस्ट्रेलिया की अरून्दा जनजाति में किये गये अपने अध्ययन में दुर्खीम उनमें प्रचलित टोटमवाद के सन्दर्भ में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे लोग टोटम के प्रतीक के माध्यम से समाज की पूजा करते हैं, टोटम उनके समाज का प्रतीक होता है। उसकी पूजा करके वे व्यक्ति की समाज पर निर्भरता की भावना को प्रगट करते हैं। दुर्खीम के अनुसार विश्वासों की व्यवहारिक प्रायोगिकता हेतु उन्हें कर्म से व्यक्त करना आवश्यक हो जाता है। कर्मकांड विश्वासों को स्वर, लय एवं शक्ति प्रदान करते हैं। कर्मकांडों द्वारा जनित सजीवता के वातावरण में विश्वासों की सार्थकता सुनिश्चित होती है।

रैड्क्लिफ ब्राउन के विचार में 'संस्कार' प्रतीक रूप में कुछ मूल्यों एवं भाषाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं मूल्यों पर समाज की व्यवस्था निर्भर करती है। उनके अनुसार संस्कार कुछ कहने की भाषा है जिन्हें सत्य एवं समाजोपयोगी माना जाता है किन्तु उनका सत्यापन वैज्ञानिक आधार पर संभव नहीं होता।

रेमंड फ्रर्थ के अनुसार संस्कारों के कर्मकांड मानसिक उद्वेगों एवं तनाव की स्थिति को सामान्य करने में सहायक होते हैं जो परोक्ष रूप से एक व्यवस्थित समाज के लिये आवश्यक है। तनावग्रस्तता एवं विक्षिप्तता समाज में अराजकता को जन्म देती है। यह धर्म का तकनीकी प्रकार्य माना जा सकता है।

अत: संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के अति–प्राकृतिक विश्वासों की सार्थकता उनके क्रियान्वयन में निहित होती है। विश्वास–विचार रूप में होते हैं। व्यक्ति एवं समाज के सन्दर्भ में उन्हें जोड़ने की प्रक्रिया में उन्हें व्यवहारों के रूप में अनुवादित करना आवश्यक हो जाता है। विश्वासों पर आधारित, किसी निर्धारित क्रम में किये जाने वाले व्यवहारों को 'संस्कार' कहा जा सकता है। मानव जीवन विश्वासों की अपेक्षा व्यवहारिक वास्तविकताओं से अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। संस्कारों में औपचारिकता का पुट होता है। धर्म तथा जादू दोनों में विश्वासों से सन्दर्भित कर्मकांड होते हैं। किन्तु धर्म के सामूहिक/सार्वजनिक एवं जादू के प्रमुख रूप से वैयक्तिक व्यक्तित्व के कारण सामान्यतया धर्म से जुड़े कर्मकांडों को ही संस्कार कहा जाता है। संस्कार में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा के उच्चारित मन्त्र एवं प्रार्थनायें संस्कारों को वैधता प्रदान करती हैं। केवल विश्वास धर्म को प्रायोगिक वास्तविकता का रूप नहीं दे सकते। संस्कार धर्म को गतिशील एवं

उपयोगी बनाते हैं। संस्कार के माध्यम से ही एक समुदाय के लोग सामान्य आस्थाओं के इर्द-गिर्द एकता का अनुभव करते हैं। संस्कार व्यक्तिगत विचारों को सामुदायिक अर्थ प्रदान करते हैं। धार्मिक कृत्य/अनुष्ठान विश्वासों पर आधारित व्यक्तिगत क्रियायें होती हैं। संस्कार इन क्रियाओं के योजनाबद्ध अनुष्ठान होते हैं जिन्हें निर्धारित अवसरों पर निर्धारित पद्धति से आयोजित किया जाता है। आनुष्ठानिक कृत्यों (Rites) की अवधारणा व्यक्तिगत होती है; संस्कारों की अवधारणा सामाजिक, सामुदायिक एवं सार्वजनिक होती है।

**मिथक (Myths)**

किसी भी संस्कृति में लोगों के अपने भूतकाल से सम्बन्धित विश्वासों को 'मिथक' कहा जाता है। प्रत्येक समाज में वयोवृद्ध लोगों की स्मृति पर आधारित भूतकाल से सम्बन्धित लोगों के कुछ विचार होते हैं। किन्तु ये विचार बहुत प्राचीनकाल से सम्बन्धित नहीं होते। कॉलिंग वुड ने ऐसे विचारों को 'इन्केपसुलेटेड हिस्ट्री' कहा है। दूसरे शब्दों में इन विचारों को परम्परागत इतिहास भी कहा जा सकता है। यह परम्परागत इतिहास 'मिथकों' से दो प्रकार से भिन्न होता है। एक तो यह कि यह इतिहास अपेक्षाकृत कम समय के भूतकाल से सम्बन्धित होता है और दूसरा यह कि लोगों का यह दावा होता है कि यह इतिहास भूतकाल में घटित वास्तविक घटनाओं पर आधारित होता है। किन्तु मिथकों का सम्बन्ध विश्वासों से होता है उनमें आवश्यक रूप से अति-प्रकृतिवादिता का पुट होता है। इनमें लोगों की उत्पत्ति एवं उद्‌भव से सम्बन्धित विश्वासों का समावेश होता है। अत: विश्वासों एवं अति-प्रकृतिवादिता का पुट, ये दोनों लक्षण इन विचारों को मिथकों की श्रेणी में ले आते हैं। मानवशास्त्रियों के किसी संस्कृति के अध्ययन क्रम में 'वर्तमान' के विश्लेषण में दोनों ही (परम्परागत इतिहास एवं मिथक) महत्वपूर्ण होते हैं, यद्यपि दोनों में से कोई भी तथ्यों पर आधारित वास्तविक इतिहास का विकल्प नहीं हो सकता।

'मिथकों' में सदैव किसी-न-किसी प्रकार के मूल्यांकन का समावेश अवश्य होता है। अर्थात् लोगों के अपने स्वयं के बारे में विचार। अक्सर मिथकों का उद्देश्य किसी-न-किसी सत्ता को प्रश्रय प्रदान करना भी होता है। यद्यपि मिथकों में ऐतिहासिकता का पुट होता है। किन्तु मिथक इतिहास का स्थान नहीं ले सकते। मिथकों का अस्तित्व लोक-कथाओं के द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बना रहता है। ये मौखिक परम्पराओं से पोषित होते हैं।

मैलिनोस्की के अनुसार मिथक उन घटनाओं के वर्णन होते हैं जो जनजातियों की मानसिकता में इस अर्थ में अति प्रकृतिवादी घटनायें होती हैं कि वे यह जानते हैं कि अब इन घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं होगी किन्तु उनका यह दृढ़ विश्वास होता है कि भूतकाल में ये घटनाएँ अवश्य घटी होंगी।

मिथक मनुष्य के कार्यकलापों के निर्देशक भी होते हैं। वे मानवीय कार्यकलापों के औचित्य को सिद्ध करते हैं। अक्सर मिथकों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—जिन्हें उत्पत्ति से सम्बन्धित मिथक (Myths of Origin) तथा सृष्टि सम्बन्धी मिथक (Myths of Creation) किसी संस्कृति की विश्व दृष्टि के विश्लेषण में उसके मिथकों पर विचार करना महत्वपूर्ण होता है।

**दीक्षा-क्रियाएँ (Rites-the Passage)**

प्रत्येक समाज में आयुवृद्धि के साथ-साथ व्यक्तियों की प्रास्थितियों में परिवर्तन होते हैं। अक्सर कुछ समाजों में प्रास्थितियों के इस परिवर्तन को संस्थागत स्वरूप प्रदान किया जाता है जिसमें आयुवर्गों की व्यवस्था पाई जाती है। उदाहरण के लिये पूर्वी अफ्रीका के नाइलोट्स एवं सेमाइट्स में ऐसी ही व्यवस्था पाई जाती है। इन समाजों में एक आयुवर्ग से दूसरे आयुवर्ग में प्रवेश के अवसर पर अत्यंत व्यापक स्तर पर एक लम्बी संस्कारिक प्रक्रिया का आयोजन किया जाता है। यह समाज में बाल्यकाल से प्रौढ़ावस्था में परिवर्तन को किसी प्रकार के 'क्षतांकन' (Circumcision or Scarification) की क्रिया द्वारा सांकेतिक रूप प्रदान करते हैं। इस प्रक्रिया में सम्बन्धित किशोरों को थोड़ा समय सामान्य जीवन से बिल्कुल विलगित होकर व्यतीत करना

पड़ता है। इस समय के दौरान उन्हें विशेष प्रकार के नियमों एवं निषेधों का पालन करना होता है। ऐसे कृत्यों के संक्रमण कर्मकाण्ड (Rites of Transition) अथवा दीक्षा-क्रियाएँ (Rites-the-Passage) कहा गया है।

वैन जेनेप (Van Gennep) ने इन संक्रमण कर्मकाण्डों की तीन श्रेणियों/वर्गों की चर्चा की है। उनके अनुसार ये श्रेणियाँ पृथक्ता के कर्मकाण्ड (Rites of Separation), पृथक्करण के कर्मकाण्ड (Rites of Seggregation) तथा एकीकरण के कर्मकाण्ड (Rites of Integration) कहलाती हैं। उनके अनुसार पृथक्ता के कर्मकाण्ड व्यक्ति के अपने वर्तमान वर्ग समूह से विलगाव अथवा विछोह को सांकेतिक रूप से प्रगट करते हैं। पृथक्करण के कर्मकाण्ड उससे सामान्य सामुदायिक जीवन से विलगित होने को सांकेतिक रूप से प्रगट करते हैं जिस अल्पकाल में वह किसी भी आयुवर्ग का सदस्य नहीं होता। एकीकरण के कर्मकाण्ड दूसरे वर्ग में प्रवेश एवं उसमें सम्मिलित होने की स्थिति का सांकेतिक निरूपण करते हैं। इन तीनों प्रक्रियाओं द्वारा एक लंबे समय तक तीनों कर्मकाण्डों को सामूहिक तौर पर तथा उनके औपचारिक एवं क्रमिक आयोजन को सम्मिलित रूप से दीक्षा-क्रियाएँ (Rites-the-Passage) कहा गया है।

इवांन्स प्रिचर्ड ने 'नूयेर' जनजाति में बलिदान के अनुष्ठान की व्याख्या करते हुये बलि के अवसरों में भेद स्थापित करते हुये उन्हें पुष्टिकर (Confirmation) अनुष्ठान/कर्मकाण्ड तथा पश्चातापकारी (Piacular) अनुष्ठान कहा है। बलिदान के बिना भी यह वर्गीकरण लगभग सभी आनुष्ठानिक क्रियाओं को दो बड़े वर्गों में विभाजित करता है। पुष्टिकारी अनुष्ठान लगभग सभी संस्कृतियों में एकसमान ही पाये जाते हैं। पाश्चात्य समाजों में भी, जहाँ धार्मिक भावनायें नाममात्र को रह गई हैं, वहाँ भी तीन अवसर आनुष्ठानिक अवसर माने जाते हैं—जन्म, विवाह एवं मृत्यु। ये तीनों अवसर प्रास्थितियों में परिवर्तिन के द्योतक हैं। जन्म के उपरांत नवजात शिशु का समाज में प्रवेश, विवाह के द्वारा व्यक्ति का समाज में प्रतिष्ठित होना तथा प्रजनन के द्वारा वंश-वृद्धि एवं अन्य गुरुतर दायित्वों को ग्रहण करना निश्चित है। जो वयस्कता एवं प्रौढ़ता का परिचय देते हैं तथा मृत्यु व्यक्ति को इस समाज से विलगित करके अति-प्राकृतिक जगत से उसका सम्बन्ध स्थापित करती है। सभी समाजों में जीवन की इन तीन घटनाओं को आनुष्ठानिक स्वरूप देकर इन्हें धर्म का आवरण प्रदान किया जाता है। यह स्पष्ट करता है कि धर्म का तात्पर्य मनुष्य के वास्तविक जीवन से ही है। पारलौकिकता का पुट धर्म की गम्भीरता तथा मनुष्य के मूल्यांकन में उसकी महत्ता में वृद्धि करता है।

ग्ल्कमैन तथा फोर्टेस ने प्रास्थितिक परिवर्तनों को आनुष्ठानिक शैली में व्यक्त करने के औचित्य का मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार छोटे आकार एवं विस्तार वाले समाजों में व्यक्तियों की विभिन्न भूमिकायें एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखी जा सकतीं। किन्तु जैसे-जैसे समाज में जटिलता आती है वैसे-वैसे विभिन्न भूमिकायें एक-दूसरे से पृथक् होती जाती हैं और एक प्रकार की भूमिका की सफलता अथवा असफलता अन्य भूमिकाओं को प्रभावित नहीं करती। इसीलिये लघु समाजों में प्रास्थितियों एवं भूमिकाओं को आनुष्ठानिक स्वरूप देकर एक भूमिका को दूसरी के अतिक्रमण से बचाया जाता है।

फोर्टेस के अनुसार प्रास्थिति परिवर्तनों की प्रक्रिया में अनुष्ठान जन-अनुमोदन का कार्य करते हैं। अनुष्ठानों की सार्वजनिकता उनके नैतिक पक्ष का प्रबल करती है। अनुष्ठानों में बारंबारता भी इसी नैतिक पक्ष को प्रबल करती है। अनुष्ठान व्यक्तियों को नई भूमिकाओं के लिये प्रशिक्षित नहीं करते। उनका उद्देश्य भूमिकाओं के कर्तव्य पक्ष की गुरूता को प्रकाश में लाने का होता है।

स्वाजी जनजाति का 'नव-वर्ष' समारोह एक आनुष्ठानिक कृत्य है। इसमें विद्रोह का नाटक किया जाता है तथा राजा उसका दमन करता है। यहाँ राजा की भूमिका के कर्तव्यबोध को उजागर करना इस अनुष्ठान का

प्रमुख उद्देश्य होता है। स्वाजी जनजाति में इस वार्षिक पुष्टिकर संस्कार को 'Incwala' अथवा प्रथम अन्न समारोह कहा जाता है।

इवांन्स प्रिचर्ड के वर्गीकरण में दूसरी श्रेणी पश्चातापकारक अनुष्ठानों की है। ये प्राय: संकटकालीन स्थितियों से सम्बद्ध होते हैं। संकट को सदैव किसी-न-किसी प्रकार के दोष अथवा त्रुटि से सम्बन्धित माना जाता है। दोषों के परिणामस्वरूप दैविक प्रकोप से बचाव की भावना प्रधान होती है। जन कल्याण की कामना इन संस्कारों को धर्म का अंश बना देती है।

**शमन धर्म (Shamanism)**

जादू विशेषज्ञता का क्षेत्र होता है। अत: विशेषज्ञों के माध्यम से सामान्यजन जादुई क्रियायें संपन्न कराते हैं। धर्म सार्वजनिक एवं खुली व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा में अपने शब्दों से देवी-देवताओं के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर सकता है। अधिकांश जनजातीय लघु समाजों में धर्म एवं जादू की सीमायें एक-दूसरे का अतिक्रमण करती प्रतीत होती हैं। दोनों में अन्तर सापेक्ष्य होने के कारण कई समाजों में धर्म के क्षेत्र में भी ऐसे मध्यस्थ व्यक्तियों को मान्यता प्रदान की जाती है जो सामान्यजनों एवं देवी-देवताओं, प्रेतात्माओं एवं ईश्वर आदि के मध्यस्थ होते हैं तथा वे उनके लिये देवी-देवताओं से प्रार्थना-अभ्यर्थना आदि करते हैं। उत्तरी एशियायी क्षेत्रों की भाषा में 'शमन' शब्द का प्रयोग ऐसे ही व्यक्तियों के लिये किया जाता है। सामान्यजनों की धारणा में ये व्यक्ति उन विशेष आनुष्ठानिक कृत्यों की सभी औपचारिकताओं का ज्ञान रखते हैं जो अनुष्ठानों को सफल बनाने के लिये आवश्यक समझी जाती हैं। ''शमन'' अनुष्ठान विशेषज्ञ होते हैं जो सामान्यजनों को दैविकीय संपर्क में लाने का कार्य करते हैं। 'जादूगरों' एव 'शमनों' में प्रकार्यात्मक समानता होने के बावजूद शमन की कार्य-प्रणाली दैविक शक्तियों की आराधना एवं अभ्यर्थना के रूप में होती है। जादूगरों की भाँति वे दैविक शक्तियों के नियंत्रक नहीं होते। शमन स्वयं को दैविक शक्तियों के अधीनस्थ मानते हैं। जादूगर की मानसिकता दैविक शक्तियों के नियंत्रकों की होने के कारण वे दैविक शक्तियों को अपने अधीनस्थ मानते हैं। किन्तु धर्म के क्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों-विशेषज्ञों का अभ्युदय जादू से धर्म की ओर अग्रसरित होने वाले समाजों में जादू की प्रमुख भूमिका का परिचायक माना जा सकता है। वैसे शमनवाद के प्रमाण एशिया, अफ्रीका तथा उत्तरी अमेरिका की कतिपय जनजातियों तक ही सीमित हैं। इस प्रकार का व्यवसायिक विशिष्टीकरण अधिकतर तकनीकी दृष्टि से प्रगतिशील, आकार में बड़ी एवं आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत समृद्ध जनजातियों में ही पाया जाता है जहाँ कुछ व्यक्तियों को दैनिक जीवन में उदरपूर्ति सम्बन्धी कार्यकलापों से मुक्त किया जा सकता है। अपेक्षाकृत लघु विस्तार वाले समाजों में पूर्णकालिक पुरोहित वर्ग के विशेषज्ञ नहीं पाये जाते। उनमें ऐसे अल्पकालिक विशेषज्ञ भी नहीं होते। किन्तु 'शमनवाद' में जादुयी परम्परा की गन्ध ऐसे समाजों में तकनीकी प्रगति होने के बावजूद भी जादू की प्रभाविकता समाप्त नहीं होती। 'शमनवाद' की विवेचना इसी जादुयी पंरपरा का धर्म में प्रवेश सिद्ध करती है। पूर्णकालिक शमनों के अतिरिक्त, जनजातियों में आंशिक रूप से देवी-देवताओं का सान्निध्य रखने वाले व्यक्ति भी होते हैं जिनका सामान्यजन इसीलिये आदर भी करते हैं तथा समय-समय पर उनके इस 'आध्यात्म-गुण' का प्रयोग अपने लिये करते हैं। संभवत: संस्कारों की जटिलता एवं दुरुहता तथा संस्कारों में औपचारिकताओं की वृद्धि को भी 'शमनधर्म' के उद्‌भव के सम्भावित कारणों में माना जा सकता है।

## ● त्याग ( बलिदान अथवा बलि ) (Scarifies)

लैटिन शब्द बलि विशेष रूप से ईसाई युचरिस्ट पर लागू होता है, कभी-कभी इसे रक्त बलिदान से अलग करने के लिए ''रक्तहीन बलिदान'' का नाम दिया जाता है।

यह शब्द आमतौर पर ''कुछ किए बिना'' या ''कुछ देने'' का अर्थ है (आत्म-बलिदान भी)। लेकिन बलिदान शब्द का उपयोग दूसरों के लिए अच्छा करने या अधिक शक्ति प्राप्त करने के बदले में अल्पकालिक नुकसान उठाने के लिए रूपक उपयोग में होता है।

मानव जाति में बलि प्रथा प्राचीन समय से चली आ रही एक सामाजिक प्रथा अर्थात सामाजिक व्यवस्था है। इस पारम्परिक व्यवस्था में मानव जाति द्वारा मानव समेत कई निर्दोष प्राणियों की हत्या यानि कत्ल कर दिया जाता है। विश्व में अनेक धर्म ऐसे हैं, जिनमें इस प्रथा का प्रचलन पाया जाता है। यह मनुष्य जाति द्वारा मात्र स्वार्थसिद्ध की व्यवस्था है, जिसे बलि प्रथा कहते हैं।

**मानव बलि**

किसी धार्मिक अनुष्ठान की रीति (अनुष्ठान हत्या) के रूप में किसी मानव की हत्या करने को मानव बलि कहते हैं। इसके अनेक प्रकार पशुओं को धार्मिक रीतियों में मारा जाना (पशु बलि) तथा आम धार्मिक बलियों जैसे ही थे। इतिहास में विभिन्न संस्कृतियों में मानव बलि की प्रथा रही है। इसके शिकार व्यक्ति को रीति-रिवाजों के अनुसार ऐसे मारा जाता था जिससे कि देवता प्रसन्न अथवा संतुष्ट हों, उदाहरण के तौर पर मृत व्यक्ति की आत्मा को देवता को संतुष्ट करने के लिये भेंट किया जाता था अथवा राजा के अनुचरों की बलि दी जाती थी ताकि वे अगले जन्म में भी अपने स्वामी की सेवा करते रह सकें। कुछ जाति समाजों में काफी हद तक इससे मिलती जुलती प्रथाएं नरभक्षण तथा सिरों के शिकार के रूप में पाई जाती हैं। लौह युग तक धर्मों में सम्बन्धित विकास के कारण (अक्षीय युग), पुरातन विश्व में मानव बलि का चलन कम हो गया था, इसे पूर्व-आधुनिक समय तक बर्बरतापूर्ण माना जाने लगा था।

हालांकि यह प्रत्यक्ष रूप से धर्म से जुड़ा नहीं है, प्राण दंड दिये जाने में भी बहुत सी रीतियाँ जुड़ी होती हैं तथा इसका मानव बलि से स्पष्ट रूप से भेद किया जाना कठिन होता है। ऐतिहासिक रूप से जला कर मारे जाने के दोनों पहलू हैं, मानव बलि तथा मृत्यु दंड। मृत्यु दंड की आलोचना करने वाले मृत्यु दंड के सभी रूपों को मानव बलि के धर्मनिरपेक्ष प्रकार ही मानते हैं। इसी तरह, गैरकानूनी ढंग से हत्या, सामूहिक हत्या तथा जाति संहार को भी थियोडोर डब्लयू० अडोर्नो के अनुसार कभी-कभी मानव बलि ही समझा जाता है।

**पशु बलि**

पशु बलि एक प्रथा के रूप में धर्मिक प्रथा के रूप में जानवर की हत्या है। यह कई धर्मो के अनुयायियों द्वारा एक भगवान या देवताओं को खुश करने या प्रकृति के क्रम को बदलने के साधन के रूप में अदा की जाती है। इसने उन संस्कृतियों में एक सामाजिक या आर्थिक कार्य भी किया जिसमें उपभोग के लिए बलि देने वालों में जानवरों के खाने योग्य हिस्से वितरित किए गए थे। जानवरों की बलि लगभग सभी संस्कृतियों में बदल गई है, इब्रानियों से लेकर यूनानियों और रोमनों (विशेष रूप से शुद्धीकरण समारोह लंस्पियो) तक, मिस्रियों (एपिस के पंथ में उदाहरण के लिए) और एज्टेक से योरूबा तक। प्राचीन मिस्रियों का धर्म भेड़, बैल, बछड़े, नर बछड़ों और गीज के अलावा अन्य जानवरों के बलिदान को मना करता है।

पशु बलि अनुयायियों द्वारा आज भी प्रचलित है santeria और बीमार का इलाज करने और धन्यवाद देने के साधन के रूप Orisa के अन्य प्रजातियों Orisa (देवता) के लिए करते हैं। हालांकि, Santeria में, इस तरह के पशु प्रसाद क्या कहा जाता है कि एक अत्यंत छोटे हिस्से का गठन ebos-ritual गतिविधियाँ हैं कि प्रसाद, प्रार्थना और कामों में शामिल हैं। ग्रीस के कुछ गाँवों के ईसाई भी कौरबोनिया के रूप में प्रचलित ऑर्थोडॉक्स संतों के लिए जानवरों की बलि देते हैं। सार्वजनिक रूप से निन्दा करते हुये अभ्यास, अक्सर सहन किया जाता है।

**ईसाई धर्म**

रोमन कैथोलिक चर्च, पूर्वी रूढ़िवादी चर्च, लूथरन चर्च और मेथोडिस्ट चर्च, परम प्रसाद या मांस, साथ ही दिव्य-पूजन के पूर्वी कैथोलिक गिरजाघरों और पूर्वी रूढ़िवादी चर्च, एक बलिदान के रूप में देखा जाता है। एंग्लिकन लोगों के बीच मुकदमेबाजी के शब्द स्पष्ट करते हैं कि यूचरिस्ट प्रशंसा और धन्यवाद का एक बलिदान है और मसीह के साथ मिलकर ईश्वर के लिए एक ऐसी सामग्री है जो इस तरह के शब्दों का उपयोग कर रही है, जैसे ''इन तेरा पवित्र उपहारों के साथ जो हम अब ओईई को देते हैं'' (1789 बीसीपी) या ''आपके द्वारा हमें दिए गए उपहारों में से आपको प्रस्तुत करते हुए हम आपको ये उपहार प्रदान करते हैं'' (प्रार्थना डी बीसीपी 1976) 1789 से सामान्य प्रार्थना की संशोधित पुस्तकों में स्पष्ट रूप से साक्ष्य के रूप में, जिसमें आइशर के धर्मशास्त्र को करीब से जाना गया था। इसी तरह, यूचरिस्टिक लिटर्जी में यूनाइटेड मेथोडिस्ट चर्च में शब्द ''आइए हम अपने आप को और अपने उपहार भगवान को अपर्ति करते हैं'' (ए सर्विस ऑफ वर्ड एंड टेबल आई) है। यूनाइटेड मेथोडिस्ट चर्च आधिकारिक तौर पर सिखाता है कि ''पवित्र समुदाय एक प्रकार का बलिदान है'' जो फिर से प्रस्तुत करता है, बल्कि दोहराता है। क्रूस पर मसीह का बलिदान; वह आगे घोषणा करती है कि हम अपने आप को मसीह के साथ बलिदान के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं (रोमियो 12 : 1; 1 पतरस 2 : 5) परमेश्वर द्वारा छुटकारे, सुलह और न्याय के काम में इस्तेमाल होने के लिए है। ग्रेट थैंक्सगिविंग में, चर्च प्रार्थना करता है ''हम अपने आप को एक पवित्र और जीवित बलिदान के रूप में प्रशंसा और धन्यवाद के रूप में पेश करते हैं, हमारे लिए मसीह की पेशकश के साथ।''

**हिन्दू धर्म**

संस्कृत शब्द यज्ञ का (यज्ञ, आधुनिक हिन्दी उच्चारण : यज्ञ) अक्सर ''बलिदान के रूप में गलत अनुवाद किया जाता है। इसका उपयोग विशेष रूप से पवित्र मंत्रों के जाप के साथ घी (मक्खन), अनाज, मसाले और लकड़ी को अग्नि में चढ़ाने के लिए किया जाता है। अग्नि देवता को प्रसाद पहुँचाने वाले दिव्य दूत अग्नि का प्रतिनिधित्व करता है। प्रसाद भक्ति, आकांक्षा और पिछले कर्म के बीज का प्रतिनिधित्व कर सकता है। वैदिक काल में, यज्ञ में आमतौर पर दूध, घी, दही, अनाज और एक सोम का त्याग शामिल होता था। पौधे-जानवरों का प्रसाद कम प्रचलित था। आधुनिक समय में, शादियों और अंत्येष्टि में और व्यक्तिगत पूजा में अक्सर यज्ञ किया जाता है। हिन्दू धर्म में बलिदान भी आंतरिक और बाहरी पूजा के कृत्यों के माध्यम से व्यक्तिगत आत्मसमर्पण को संदर्भित कर सकता है।

**हिन्दू धर्म में पशु बलि**—एक संस्कृत पशु बलि के लिए शब्द प्रयोग किया जाता है बाली जिसका अर्थ है 'श्रद्धांजलि, भेंट या बलि'। हिन्दू पशु बलि की आधुनिक प्रथा ज्यादातर शक्तिवाद से जुड़ी हुई है, और लोक हिन्दू धर्म की धाराओं में स्थानीय लोकप्रिय या जनजातीय परंपराओं में दृढ़ता से निहित है। पशु बलि भारत में प्राचीन वैदिक धर्म का हिस्सा थे, और यजुर्वेद जैसे धर्मग्रंथों में इसका उल्लेख है। कुछ पुराणों में पशुबलि की मनाही है।

**समकालीन हिन्दु समाज में पशु बलि**—आधुनिक हिन्दुओं के अधिकांश पशु बलि से बचते हैं, लेकिन कई स्थानीय अपवाद हैं। सामान्य तौर पर, जहाँ इसको प्रथा माना जाता है, यह कुछ देवताओं द्वारा वांछित के रूप में देखा जाएगा, लेकिन दूसरों द्वारा नहीं।

पूर्वी भारत के साथ-साथ असम, उड़ीसा, त्रिपुरा और पश्चिम बंगाल के राज्यों में कई शक्ति मंदिरों में पशु बलि की प्रथा है। इस बलिदान में बकरियों, मुर्गियों, कबूतरों और नर भैंसों की हत्या शामिल है।

**इस्लाम धर्म**

अरबी में एक पशु बलि को कुर्बानी कहा जाता है। इस शब्द की जड़े यहूदी शब्द कुरान की हो सकती हैं; जैसे कुछ स्थानों में बांग्लादेश, भारत या पाकिस्तान, कुर्बानी हमेशा पशु बलि के लिए प्रयोग किया जाता है।

इस्लामी संदर्भ में एक पशु बलि के रूप में भेजा। जिसका अर्थ है 'बलिदान एक रस्म के रूप में ''केवल पेशकश की है ईद उल-अधा। बलि देने वाला जानवर एक भेड़, एक बकरी, एक ऊँट या भैंस हो सकता है। पशु स्वस्थ और सचेत होना चाहिए। ...''इसलिए प्रभु, प्रार्थना और बलिदान में बदल जाते हैं।'' कुरबान समुदाय में जरूरतमंदों के साथ अपने सौभाग्य को साझा करने के लिए संपन्न के लिए एक इस्लामी नुस्खा है।

ईद उल अधा (बलिदान का उत्सव) के अवसर पर, समृद्ध मुसलमानों को दुनिया भर में प्रदर्शन सुन्नाह के पैगंबर इब्राहिम एक बकरा या भेड़ का त्याग द्वारा (अब्राहम)। माँस को फिर तीन बराबर भागों में विभाजित किया जाता है। एक हिस्सा उस व्यक्ति द्वारा बनाए रखा जाता है जो बलिदान करता है। दूसरा उसके रिश्तेदारों को दिया जाता है। तीसरा हिस्सा गरीबों में वितरित किया जाता है।

कुरान में कहा गया है बलिदान रक्त और गोर के साथ कोई संबंध नहीं है बल्कि, यह गरीबों की मदद करने के लिए किया गया है और अब्राहम की इच्छा के स्मरण में अपने बेटे इस्माइल को ईश्वर की आज्ञा पर बलिदान करने के लिए किया जाता है।

## ● धार्मिक आचरण एवं इसके अभिकरण (Religious practices and its agencies)

धर्म केवल मानव से मानव का सम्बन्ध ही नहीं जोड़ता वरन् **मानव का अलौकिक शक्ति से भी सम्बन्ध स्थापित करता है।** धर्म से हम ईश्वर, भूत-प्रेत, आत्मा, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य एवं दैवी-प्रकोप आदि की धारणा को सम्मिलित करते हैं। धर्म मानव व मानव के बीच सम्बन्धों को निर्देशित करता है जिसकी स्वीकृति (Sanction) अति-सामाजिक (Super-social) समझी जाती है। आदिम लोगों में यह धारणा प्रचलित रही है कि समाज विरोधी कार्य करने से ईश्वर रुष्ट होता है और दण्ड देता है। स्वर्ग और नरक की धारणा के पीछे भी कुछ ऐसे ही विचार निहीत हैं। सद्कार्यों से स्वर्ग एवं बुरे कार्यों से नरक मिलता है। धर्म से सम्बन्धित इन धारणाओं ने मानव के समाज विरोधी व्यवहारों पर अंकुश रखा। दुर्खीम मानते हैं कि धार्मिक नियम सामाजिक नियम ही हैं और स्वर्ग एक महामानवित् समाज ही है।

धर्म को परिभाषित करते हुए **फ्रेजर** लिखते हैं, धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ, जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियन्त्रित करती हैं।'' **टायलर** कहते हैं, ''धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।'' **जॉनसन** के अनुसार, ''धर्म कम या अधिक मात्रा में अधि-प्राकृतिक तत्वों, शक्तियों तथा आत्मा से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की एक संगठित व्यवस्था है।'' इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि धर्म में अलौकिक शक्ति पर विश्वास किया जाता है। यह अलौकिक शक्ति इस लोक में न होकर किसी दूसरी दुनिया से सम्बन्धित है। इस अलौकिक शक्ति को पवित्र समझा जाता है, मानव की उसके प्रति भय मिश्रित श्रद्धा होती है। उसके सामने वह नत-मस्तक होता है और अपने को समर्पित करता है।

धर्म सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन है। ईश्वर, पाप एवं नरक के भय से व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों से बचता रहा है। सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने का तात्पर्य है 'पाप' और ईश्वर की अप्रसन्नता मोल लेना। यही कारण है कि मानव सामाजिक नियमों को स्वीकार करता है। धर्म निम्नांकित प्रकार से सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करता है—

**(1) मानव व्यवहार पर नियन्त्रण** (Control over Human Behaviour)—धर्म मानव के व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है। मानव अलौकिक शक्ति से डरता है, अत: धर्म से सम्बन्धित नियमों का पालन करता है। धर्मसम्मत आचरण कर मानव ईश्वर को प्रसन्न कर उसकी शक्ति से लाभ उठाना चाहता है। धर्म में

पाप व पुण्य तथा स्वर्ग एवं नरक का भी विचार सम्मिलित है। धर्म द्वारा मान्य व्यवहारों को करने पर व्यक्ति पुण्य कमाता है और मरने के बाद मोक्ष एवं स्वर्ग को प्राप्त होता है। इसके विपरीत, अधर्मी व्यक्ति पाप का भागी होता है और नरक में जाता है। धर्म की यह धारणा व्यक्ति के विचारों एवं व्यवहारों पर अंकुश रखती है। प्रत्येक धर्म में कुछ धार्मिक कथाएँ होती हैं जो लोगों को सही कार्य करने का उपदेश एवं निर्देश देती हैं। धर्म सच बोलने, ईमानदार होने, चोरी न करने, झूठ न बोलने, हिंसा न करने, दया करने, आज्ञा मानने आदि बातों पर जोर देकर व्यक्ति को उचित मार्ग पर चलने का निर्देश देता है।

**(2) मानव में सद्‌गुणों का विकास** (Development of Good Qualities in Man)—धर्म मानव में सद्‌गुणों का विकास करता है। धार्मिक नियमों पर चलने से व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों से बचता है। उसमें प्रेम, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्य, अहिंसा एवं सहयोग के गुण पनपते हैं। इन गुणों के कारण मानव का व्यवहार स्वत: ही नियन्त्रित रहता है।

**(3) सुरक्षा की भावना पैदा करता है** (Develops the Sense of Security)—धर्म को मानने पर व्यक्ति में यह भाव पैदा होता है कि वह संसार में अकेला नहीं है, ईश्वर उसके साथ है और कठिनाई के समय उसकी रक्षा करेगा, उसे सहयोग देगा। धर्म के सहारे सभी संकटों को सरलता से पार कर जाता है।

**(4) पवित्रता की भावना का विकास** (Development of the Feeling of Sacredness)—दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्र एवं अपवित्र में अन्तर स्पष्ट करता है। धर्म पवित्र कार्यों को करने का निर्देश देता है तथा अपवित्र कार्यों से बचने को कहता है ताकि पाप से दूर रहा जा सके। अधार्मिक कार्य ही पाप है और धार्मिक कार्य पवित्र एवं पुण्य है। धार्मिक एवं पवित्र कार्यों को करने की आज्ञा देकर धर्म समाज में नियन्त्रण बनाये रखता है।

**(5) धार्मिक संस्कार** (Religious Samaskar)—धर्म व्यक्ति को अनेक प्रकार के संस्कार सम्पन्न करने का भी निर्देश देता है। संस्कारों को सम्पन्न करने के दौरान कुछ निश्चित आचरण करने होते हैं अर्थात् कुछ नियन्त्रणों को स्वीकार करना पड़ता है। हिन्दुओं में विवाह एक पवित्र संस्कार है, विवाह से सम्बन्धित नियमों का पालन कर व्यक्ति सामाजिक नियन्त्रण को स्वीकार करता है।

**(6) कर्त्तव्य या कर्म के रूप में नियन्त्रण** (Control as an Act or Duty)—हमारे यहाँ मानव के कर्त्तव्यों के रूप में अनेक धर्मों की चर्चा की गयी है जैसे वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, स्वधर्म एवं मानव धर्म। ये सभी धर्म व्यक्ति को कुछ निश्चित प्रकार के कर्त्तव्य करने का निर्देश देते हैं और उसके निरंकुश व्यवहार पर नियन्त्रण रखते हैं।

**(7) आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण** (Control over Economic Life)—धर्म व्यक्ति के आर्थिक जीवन पर भी नियन्त्रण रखता है। मैक्स वेबर ने वर्तमान पूँजीवाद के जन्म के लिये प्रोटेस्टेण्ट धर्म को उत्तरदायी माना है, क्योंकि इस धर्म में वे तत्व पाये जाते हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म देते हैं, जैसे इस धर्म में ब्याज लेना, परिश्रम करना, बचत करना, शराब पीकर काम पर न जाना, आलस न करना आदि मूल्यों को अपनाया गया है। ये धार्मिक मूल्य व्यक्ति के आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं।

**(8) व्यक्तित्व का विकास** (Development of the Personality)—धर्म व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है। धर्म व्यक्ति के सम्मुख पवित्र लक्ष्य रखता है, कठिनाइयों के समय धैर्य से काम लेने एवं संकटों का मुकाबला साहस से करने की बात कहता है। अत: निराशाओं के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व विघटित नहीं होता। वह समस्याओं को ईश्वर की इच्छा मानकर उनका मुकाबला करता है।

**(9) मनोवैज्ञानिक सन्तोष** (Psychological Satisfaction)—धर्म व्यक्ति को मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाकर सन्तोष प्रदान करता है। बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था एवं आर्थिक-शारीरिक कष्टों को व्यक्ति

ईश्वर की देन मानता है, ऐसी स्थिति में वह समाज विरोधी कार्य न सोचकर धर्म के प्रभाव के कारण ही सभी कष्टों को सहता हुआ सामाजिक नियमों का सहर्ष पालन करता है।

**(10) लोकाचारों की पुष्टि** (Support of Mores)—धर्म लोकाचारों की पुष्टि करता है और उन्हें समाज के कल्याण के लिये आवश्यक मानता है। **मैरिल** कहते हैं, ''लोकाचारों का कार्य सामाजिक कल्याण में वृद्धि करना होता है लेकिन इन लोकाचारों की स्वीकृति धर्म के द्वारा ही होती है।'' **जॉनसन** कहते हैं, ''धर्म सामान्य मूल्यों तथा आदर्श नियमों का निर्माण करता है, उनके रूप को स्पष्ट करता है, प्रतीकों के रूप में उन्हें स्थायी बनाता है और अन्त में उन्हें सम्पूर्ण समाज में लागू करता है।'' हमारे अनेक धार्मिक नियम लोकाचार ही होते हैं।

**(11) सामाजिक एकीकरण** (Social Integration)—**दुर्खीम** कहते हैं—धर्म उन सभी लोगों को एकता के सूत्र में पिरोता है जो इसमें विश्वास करते हैं। एक धर्म के मानने वाले लोगों में 'हम की भावना' का विकास होता है, वे परस्पर सहयोग करते हैं, उनमें समान विचार, भावनाएँ, विश्वास एवं व्यवहार पाये जाते हैं। धर्म व्यक्ति को कर्त्तव्य का पालन करने की प्रेरणा देता है। सभी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करके सामाजिक संगठन एवं एकता को बनाये रखने में योग देते हैं।

**(12) सामाजिक परिवर्तन पर नियन्त्रण** (Control over Social Change)—धर्म समाज में होने वाले आवश्यक परिवर्तनों का विरोध करता है जिससे कि सामाजिक संगठन विशृंखलित न हो जाये, यद्यपि सभी परिवर्तन विघटनकारी नहीं होते हैं। धर्म लोगों को परम्परात्मक नियमों का पालन करने का निर्देश देकर परिवर्तन को हतोत्साहित करता है। यह ऐसे परिवर्तनों का विरोध करता है जो अनैतिक एवं अनुपयोगी हों।

धर्म के बारे में **थॉमस ओडिया** (Thomas O'Dea) ने उचित ही लिखा है, ''धर्म व्यक्ति का समूह से एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है, निराशा के क्षणों में उसे ढाढस बँधाता है, सामाजिक लक्ष्यों के प्रति व्यक्ति को जागरूक बनाता है, आत्मबल में वृद्धि करता है, और एक-दूसरे के समीप आने की भावना को प्रोत्साहन देता है।'' **कार्ल मार्क्स** ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है। यह सच है कि जब तक मानव ईश्वर एवं प्रकृति के रहस्यों को ज्ञात न कर ले धर्म मानव मस्तिष्क पर अफीम की तरह छाया रहेगा और उसके कार्यों को नियन्त्रित करता रहेगा।

## ● अभ्यास-प्रश्न

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

**1.** किस विद्वान् ने प्रथा को 'महान शक्ति' कहा है?

(अ) लॉक (ब) शेक्सपियर

(स) बैकन (द) बेजहॉट

**2.** 'मेन इन दा प्राइमेटिक वर्ल्ड' पुस्तक के लेखक कौन है?

(अ) हॉवल (ब) बैकन

(स) लॉक (द) जिन्सबर्ट

**3.** किस विद्वान् ने प्रथा को 'मानव जीवन का प्रमुख न्यायाधीश' कहा है—

(अ) लॉक (ब) शेक्सपियर

(स) बैकन (द) बेजहॉट

**4.** कौन-सा व्यवहार प्रथा से सम्बन्धित है—

(अ) जाति में विवाह (ब) ईमानदारी

(स) अहिंसा (द) सदाचार

**5.** किसने धर्म का प्रारम्भिक रूप आत्मा में विश्वास को माना है—

(अ) फ्रेजर (ब) दुर्खीम

(स) टेलर (द) मैरेट

**6.** धार्मिक व्यवहार के प्रकारों में सम्मिलित हैं—

(अ) मानववाद (ब) आत्मवाद

(स) सम्प्रदाय (द) ये सभी

**7.** किसका कथन हैं कि, ''आत्मा एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा या छाया की भाँति है।''

(अ) टेलर (ब) फ्रेजर

(स) जैवेन्स (द) एंड्रयूलैग

**8.** जीवित-सत्तावाद मत को प्रारम्भ में किसने प्रस्तुत किया—

(अ) प्रीउस (ब) मैक्समूलर

(स) (अ) एवं (ब) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं

**9.** मैरेट के अध्ययन के अनुसार कौन-सी शक्ति अच्छे और बुरे दोनों रूपों में मनुष्य को प्रभावित करती है—

(अ) अवैयक्तिक (ब) अशारीरिक

(स) अलौकिक (द) ये सभी

**10.** किसके मतानुसार धर्म का सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से हैं—

(अ) कॉडरिंगटन (ब) मैरेट

(स) दुर्खीम (द) प्रीउस

**11.** प्रकृतिवाद के अनुसार किसे सबसे बड़ा देवता माना गया है—

(अ) वायु (ब) सूर्य

(स) चन्द्र (द) अग्नि

**12.** किसी स्थिति में हम किसी पर सत्ता से प्रभावित होकर या आवृत्त होकर, उस आवरण को स्वीकार नहीं करते हैं—

(अ) पंथ (ब) सम्मोहन

(स) सम्प्रदाय (द) ये सभी

**13.** किसी धर्म में केवल एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना कहलाता है—

(अ) धार्मिक चेतना (ब) बहुदेववाद धर्म

(स) तत्वपरक धर्म (द) इनमें से कोई नहीं

**14.** किसने कहा, ''जो कुछ यथार्थ है वह बौद्धिक है और जो कुछ है उस पर बौद्धिक दर्शन को विचार करने का अधिकार है—

(अ) जॉन केअर्ड (ब) मैरेट

(स) प्रीउस (द) टेलर

**15.** एक प्रकार का मार्ग या रास्ता, जिस पर चलकर व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप आध्यात्म सम्बन्धी कुछ अनुभूति करना चाहता है, कहलाता है—

(अ) सम्मोहन (ब) पंथ

(स) सम्प्रदाय (द) धार्मिक अनुभव

**16.** किसका सम्बन्ध मानव के आन्तरिक मन से है—

(अ) धार्मिक चेतना (ब) सम्मोहन

(स) दार्शनिक विचार (द) इनमें से कोई नहीं

**17.** मनुष्य को अपने जीवन के प्रयोजन के विषय में ज्ञान है तो उसका जीवन—

(अ) अपूर्ण है (ब) क्षणभंगुर है

(स) नश्वर है (द) ये सभी

**18.** भावना के अभाव में धर्म का आर्विभाव हृदय में—

(अ) हो सकता है (ब) नहीं हो सकता है

(स) स्पष्ट नहीं हो सकता (द) हो भी सकता है/ नहीं भी

**19.** किसने कहा है, ''ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण ही धार्मिक भावना का प्राण है''—

(अ) मैक्टाग्गार्ट (ब) श्लाथर चारवर

(स) विलियम जेम्स (द) केअर्ड

**20.** किसके अनुसार कहा गया है, ''सटीक चिन्तन अथवा शुद्ध इच्छा के कारण हम धार्मिक नहीं बनते अपितु ईश्वर के प्रति अपनी साधारण एवं मूलभूत भावना और प्रेम की दशा के कारण बनते हैं''—

(अ) प्रो० केअर्ड (ब) दुर्खिम

(स) मैक्समूलर (द) मैरेट

**21.** धर्म व्यावहारिक रूप से किसक मिश्रण है—

(अ) ज्ञान (ब) भावना

(स) कर्म (द) ये सभी

**22.** प्रकृतिवादी मत का प्रतिपादन किसने किया—

(अ) फ्रॉयड ने (ब) ल्यूबा ने

(स) रुडाल्फ ने (द) रेमंड ने

**23.** अनुष्ठान की विशेषताओं में सम्मिलित है—

(अ) औपचारिकतावाद (ब) पारम्परिकवाद

(स) धर्मनिरपेक्षतावाद (द) ये सभी

**24.** रेड्क्लिफ ब्राउन के विचार में कौन प्रतीक रूप में कुछ मूल्यों एवं भाषाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं—

(अ) कर्मकाण्ड (ब) संस्कार

(स) अनुष्ठान (द) इनमें से कोई नहीं

**25.** फोर्टेस के अनुसार प्रास्थिति परिवर्तनों की प्रक्रिया में ..... जन अनुमोदन का कार्य करता है।

(अ) अनुष्ठान (ब) संस्कार

(स) मिथक (द) दीक्षा क्रियाएँ

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. आत्मावाद या जीववाद से क्या आशय है?
2. प्रकृतिवाद को समझाइये।
3. धार्मिक चेतना से क्या आशय है?
4. शुभ तथा पवित्र की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।
5. मिथक के प्रत्यय को स्पष्ट कीजिये।
6. शमन धर्म से क्या आशय है?
7. मानव बलि प्रथा का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
8. पशु बलि प्रथा का परिचय दीजिये।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. प्रथा से क्या आशय है? प्रथा की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
2. धार्मिक व्यवहार के प्रकारों का वर्णन कीजिये।
3. धार्मिक चेतना किसे कहते हैं? क्या धर्म को भावना का विषय कहा जा सकता है?
4. धार्मिक चेतना के विभिन्न तत्वों का वर्णन कीजिये तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताइये।
5. अनुष्ठान से क्या आशय है? अनुष्ठानिक क्रियाओं एवं संस्कारों का वर्णन कीजिये।
6. 'दीक्षा क्रियाएँ' पर टिप्पणी लिखिये।
7. त्याग अथवा बलि के प्रत्यय को स्पष्ट कीजिये। विभिन्न धर्मों में बलि प्रथा का वर्णन कीजिये।
8. धार्मिक आचरण एवं इसके अभिकरणों का वर्णन कीजिये।

**उत्तरमाला**

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| **1.** (अ) | **2.** (अ) | **3.** (स) | **4.** (अ) | **5.** (स) | **6.** (द) | **7.** (अ) | **8.** (स) |
| **9.** (द) | **10.** (स) | **11.** (ब) | **12.** (ब) | **13.** (स) | **14.** (अ) | **15.** (ब) | **16.** (अ) |
| **17.** (द) | **18.** (ब) | **19.** (ब) | **20.** (अ) | **21.** (द) | **22.** (ब) | **23.** (द) | **24.** (ब) |
| **25.** (अ) | | | | | | | |

अध्याय

# 3

# धार्मिक प्राधिकरण
# (RELIGIOUS AUTHORITY)

**संरचना**

- धार्मिक प्राधिकरण (Religious Authorities)
- धर्म अथवा धार्मिक प्राधिकरण के कार्य (Functions of Religion Or Religious Authority)
- भारतीय संस्कृति के आधार (Foundation of Indian Culture)
- हिन्दू धर्म (Hindu Religion)
- मंदिर (Temple)
- इस्लाम धर्म (Islam)
- मस्जिद (Mosque)
- सिक्ख समुदाय (Sikh)
- गुरुद्वारा (Gurudwara)
- ईसाई धर्म (Christian)
- चर्च (Church)
- पैगम्बर (Prophet)
- गुरु की भूमिका (Role of Guru)
- धार्मिक अल्पसंख्यक (Religious Minority)
- अभ्यास-प्रश्न

## ● धार्मिक प्राधिकरण
## (Religious Authorities)

धर्म के ऐतिहासिक अध्ययनों से पता चलता है कि धर्म हमेशा बदलते रहते हैं; फिर भी, अधिकांश धर्म इस अवधारणा में खुद को अटकाये रखते हैं कि एक अपरिवर्तनीय सत्य है जिसके लिए वे हमेशा प्रतिबद्ध होते हैं। अपरिवर्तित सत्य के इस आदर्श और ऐतिहासिक आकस्मिकता की वास्तविकता के बीच, धार्मिक अधिकार के मुद्दों को निभाया जाता है। धार्मिक विविधता का अस्तित्व उचित और विश्वसनीय धार्मिक प्राधिकरण के बारे में संघर्ष और धार्मिक समुदायों की अक्षमता के अधिकार के समान स्त्रोतों पर सहमत होने के लिए निकटता से जुड़ा हुआ है।

### धार्मिक प्राधिकरण के प्रकार (Types of Religious Authorities)

विश्व के धर्मों में प्राय: चार प्रमुख प्रकार के धार्मिक प्राधिकरण आमतौर पर किसी-न-किसी तरह से पाए जाते हैं। ज्यादातर मामलों में, परंपराओं को ही आधिकारिक माना जाता है। धर्म एक अधिक दूरस्थ अतीत, सच्ची पंरपरा की अपील करते हैं, खासकर जब वर्तमान अधिकारियों को चुनौती दी जा रही है। हालांकि, कुछ

ही धर्मों में, परंपरा को अधिकार का प्रमुख स्रोत माना जाता है। अधिकार का एक दूसरा स्रोत प्रकृति की दुनिया है, जिसका उपयोग मानव व्यवहार के लिए एक मॉडल के रूप में किया जाता है, और अक्सर मनुष्यों के लिए सीमा निर्धारित करने के लिए सोचा जाता है। जबकि प्रकृति के लिये कुछ अपील आम है, फिर भी केवल कुछ धर्म इसे प्रमुख धार्मिक प्राधिकरण मानते हैं।

जिन लोगों के धार्मिक अधिकार निहित हैं उनके प्रकार बहुत भिन्न होते हैं और धार्मिक अधिकारियों के लिए विभिन्न दावेदारों के बीच संघर्ष अक्सर होता है। अक्सर, एक शिक्षित, कुलीन समूह अपने प्रशिक्षण और साख के आधार पर अधिकार का दावा करता है। कुछ मामलों में, उस समूह में प्रवेश आनुवंशिकता पर निर्भर करता है और लगभग सार्वभौमिक रूप से पारंपरिक सेटिंग्स में, महिलाओं को उस समूह से रोक दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक नेताओं के बीच, ये लोग अक्सर पुजारी के रूप में कार्य करते हैं, जो पूरे समुदाय की ओर से अनुष्ठान करते हैं और अक्सर वे धार्मिक मामलों में अभिनव या कट्टरपंथी के बजाय रूढ़िवादी होते हैं।

विशेष रूप से कुछ एशियाई परंपराओं में, एक ऋषि या गुरु (शिक्षक) जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से उस धर्म द्वारा सिखाई गई सच्चाइयों का अनुभव किया है, सर्वोच्च धार्मिक अधिकार है। ये नेता भी अक्सर अपनी पंरपरा में नवप्रवर्तक होते हैं क्योंकि उन्हें अपने शिक्षकों द्वारा नेतृत्व करने के लिए पूरी तरह से प्रशिक्षित, अधिकृत किया जाता है, और ध्यान जैसे आध्यात्मिक विषयों के लोगों को सलाह देने के लिए विश्वसनीय होता है।

### जब प्राधिकरण संघर्ष करते हैं (When Authorities Clash)

धार्मिक अधिकारियों के बीच संघर्ष आम है। यह एक प्रकार का टकराव जो कि पूरी तरह से अलग-अलग धर्मों के बीच होता है, उदाहरण के लिए, भारतीय उपमहाद्वीप पर इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच समकालीन दुश्मनी। ऐसे मामलों में, विश्वदृष्टि में अंतर इतना महान है कि एकमात्र प्रस्ताव कुछ समझौते सह-अस्तित्व की अनुमति देता है। धार्मिक अधिकारियों का एक और आम टकराव परंपराओं के भीतर होता है, जब कुछ व्यक्ति धर्म के अभ्यास या व्याख्या के एक तरीके के लिए बहुत दृढ़ता से बहस करते हैं और एक अन्य समूह एक अलग तरीके के लिए दृढ़ता से बहस करता है। एक धर्म के भीतर विघटन या एक नए, बारीकी से संबंधित धर्म के गठन अक्सर धार्मिक नेताओं के बीच असहमति के परिणाम होते हैं, जो सभी अधिकार का दावा करते हैं। इन मामलों में, दोनों नेता उस परंपरा के अंतिम धार्मिक अधिकार का सम्मान करने का दावा करते हैं, लेकिन यह भी दावा करते हैं कि धर्म की देखभाल और व्याख्या करने की जिम्मेदारी गलत हाथों में पड़ गई है। कम से कम तीन प्रमुख प्रकार के विरोध बार-बार उठे हैं।

सबसे पहले, व्यक्ति या समूह विरोध करते हैं कि गलत लोगों को अधिकार में रखा गया है या उनके पास बहुत अधिक शक्ति है। इस्लाम के भीतर सुन्नी और शिया शाखाओं के बीच प्रमुख विभाजन विवाद से उत्पन्न हुआ था जो पैगम्बर मोहम्मद के वैध उत्तराधिकारी थे, का मतलब एकीकृत इस्लाम पर शासन करना था। जबकि प्रोटेस्टेंट आंदोलन जटिल है, एक प्रमुख प्रारंभिक कारण निश्चित रूप से जर्मन सुधार नेता **मार्टिन लूथर थापापल** प्राधिकरण की अवहेलना (1483-1546) लूथर के अनुसार, पोप के उस अधिकार को रद्द कर दिया था, जिसे सीधे बाइबल में रहना चाहिए और विश्वासियों को मानव मध्यस्थ के फैसलों पर भरोसा करने के बजाय सीधे बाइबल पर अपना विश्वास बनाना चाहिए। लूथर का विरोध केवल कई आंदोलनों में से पहला था, जो अंतिम और अंतिम अधिकार के रूप में पवित्र ग्रंथ पर लौटने के लिए विभिन्न मानव संस्थानों को छोड़ने का दावा कर रहे थे। आज, ईसाई धर्म के भीतर कई व्यक्तियों और आन्दोलनों ने पाया है कि अनारक्षित ग्रंथ, लेकिन प्रत्येक दाव को किसी अन्य दावेदार द्वारा चुनाव लड़ा जाता है।

दूसरा, व्यक्ति या समूह अक्सर दावा करते हैं कि औपचारिक अधिकार रखने वालों ने परंपरा के आध्यात्मिक स्रोतों से संपर्क खो दिया है और अब देवता के लिए बात नहीं कर सकते हैं या ग्रंथों की सही व्याख्या नहीं कर सकते हैं। स्थापित अधिकारियों की ओर से भ्रष्टाचार के दावे भी आम हैं, जो हर धर्म में पाये जाते हैं। प्रदर्शनकारी अक्सर परंपरा के आध्यात्मिक स्रोतों के साथ सीधे संपर्क का दावा करते हैं अर्थात् वे कहते हैं कि औपचारिक अधिकार वाले लोगों की मात्र सीखने या आनुवंशिकता की शक्ति से अधिक आधिकारिक है। आमतौर पर वे एक अलग समूह बनाने की इच्छा नहीं रखते हैं, लेकिन अपनी परंपरा के भीतर एक अधिक जीवंत, उत्साहपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव के लिए लंबे समय तक। कभी-कभी इन आंदोलनों को बड़ी पंरपरा में शामिल किया जा सकता है, जैसा कि यूरोपीय ईसाई धर्म में कई मठवासी आंदोलनों और कई महान ईसाई मनीषियों के साथ हुआ। इस्लाम के भीतर सूफी आंदोलन ने भी मांग की और अधिक प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव प्रदान किया है। यहूदी धर्म की मध्ययुगीन रहस्यमय शाखा, कबला, काफी लोकप्रिय हो गई, हालांकि यह आज भी प्रसिद्ध या अक्सर प्रचलित नहीं है। कुछ समूह अपने मूल शरीर से अलग हो जाते हैं, जैसा कि अंग्रेजी क्वेकर्स का मानना था कि पादरी आवश्यक नहीं हैं क्योंकि देवता किसी से भी बात कर सकते हैं जो मौन में प्रतीक्षा करता है, केवल स्वयं स्थापित समूह बनने के लिए। इस विषय पर भिन्नताएँ भावना से भरे व्यक्तियों और समूहों के रूप में अनंत हैं, जो वे औपचारिक प्राधिकारी के साथ मृत और कठोर तरीकों के रूप में अनुभव करते हैं, वे चुप रहने से इनकार करते हैं। कुछ समूह अपने मूल शरीर से अलग हो जाते हैं, जैसा कि अंग्रेजी क्वेकर्स का मानना था कि पादरी आवश्यक नहीं हैं क्योंकि देवता किसी से भी बात कर सकते हैं जो मौन में प्रतीक्षा करता है, केवल स्वयं स्थापित समूह बनने के लिए। इस विषय पर भिन्नताएँ भावना से भरे व्यक्तियों और समूहों के रूप में अनंत हैं, जो वे औपचारिक प्राधिकारी के साथ मृत और कठोर तरीकों के रूप में अनुभव करते हैं, वे चुप रहने से इनंकार करते हैं। कुछ समूह अपने मूल शरीर से अलग हो जाते हैं, जैसा कि अंग्रेजी क्वेकर्स का मानना था कि पादरी आवश्यक नहीं हैं क्योंकि देवता किसी से भी बात कर सकते हैं जो मौन में प्रतीक्षा करता है, केवल स्वयं स्थापित समूह बनने के लिए। इस विषय पर भिन्नताएँ भावना से भरे व्यक्तियों और समूहों के रूप में अनंत हैं, जो औपचारिक प्राधिकारी के साथ मृत और कठोर तरीकों के रूप में अनुभव करते हैं, उनसे असंतुष्ट होकर चुप रहने से इनकार करते हैं।

तीसरा, सामाजिक विरोध और सुधार के अनगिनत आंदोलन तब उत्पन्न हुए हैं जब विश्वासियों के समूह दावा करते हैं, जबकि धर्म गरीबों और वंचितों के लिए दान और चिंता का आदेश देता है, धार्मिक अधिकारियों ने अमीर और शक्तिशाली के साथ पक्षपात किया है। उन्नीसवीं और बींसवीं सदी के महान सुधार आंदोलनों में से कई-उन्मूलन, **नागरिक अधिकार** आंदोलन, नारीवाद, युद्ध विरोध, पर्यावरण सक्रियता और उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों को इस प्रेरणा से भाग दिया गया है कि उनका धर्म सामाजिक प्रदर्शनकारियों के खिलाफ कार्यवाही करने के लिए प्रेरित करता है। धार्मिक अधिकारियों ने अपने जनादेश को खो दिया है क्योंकि उन्होंने पवित्र विरासत के एक महत्वपूर्ण हिस्से की अनदेखी की है।

### ग्रंथों की स्वतंत्रता : एकेश्वरवादी धर्म

### (The Predominance of Texts : Monotheistic Religions)

यह माना जाता है कि अन्य धर्मों की तुलना में तीन एकेश्वरवादी धर्मों में ग्रंन्थों का पता चलता है। इसके अलावा, एकेश्वरवादी धर्मों के बीच सबसे गंभीर असहमति उनमें से एक है जो वास्तव में प्रकट, आधिकारिक धर्म ग्रंथ है। यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम सभी एकेश्वरवादी देवता में विश्वास करने का दावा करते हैं और तीनों का दावा है कि देवता ने मानव जाति के लिये भरोसेमंद, निश्चित रूप से प्रकट धर्मग्रंथों में बात की है। लेकिन प्रत्येक अपने धर्मग्रंथ को एक विश्वसनीय शास्त्र के रूप में दावा करता है, और अनुमानित रूप से, तीन धर्मों में से प्रत्येक इतिहास में उभरा है, इसने दावा किया कि इसके शास्त्रों ने पूरा किया और पहले से

मान्यता प्राप्त ग्रंथों को बदल दिया। इसके अलावा, अनुमान है कि जिन लोगों ने नए रहस्योद्घाटन का पालन नहीं किया, उन्होंने दावा किया कि यह गुमराह सूदखोरों का काम है। इस प्रकार, यहूदी हिब्रू बाइबिल को मानते हैं, सबसे पुराना एकेश्वरवादी धर्मग्रंथ, मान्य रहस्योद्घाटन के रूप में और या तो ईसाई को मान्यता नहीं देता **हैनए नियम** या मुस्लिम कुरान के खुलासे के रूप में। ईसाई लोग हिब्रू बाइबिल को पहचानते हैं, वस्तुत: वे **पुराने नियम** को वास्तविक रहस्योद्घाटन के रूप में कहते हैं, लेकिन दावा करते हैं कि उनका **नया नियम** उस शास्त्र की परिणति और पूर्णता है। हालांकि, वे कुरान पर थोड़ा ध्यान देते हैं, जो बाद में उभरा। दूसरी ओर, मुसलमानों का दावा है कि हिब्रू बाइबिल और न्यू टेस्टामेंट दोनों अपने समय में मान्य देवता के वास्तविक संदेश थे, लेकिन अब अपने स्वयं के अंतिम और निश्चित रहस्योद्घाटन से अप्रचलित हो गए।

इन शास्त्रों के लिए अधिकार के दावों के लिए मौलिक दावा यह दावा है कि रहस्योद्घाटन अब बंद हो गया है; बदले में तीन एकेश्वरवादी धर्मों में से प्रत्येक यह दावा करता है कि देवता ने कहा कि यह सब अब यह कहने का इरादा है कि इसका शास्त्र प्रकट हो गया है और मनुष्य आगे प्रकट किए गए संदेशों की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक धर्म ने कैनन को बंद करने की घोषणा की।

तीन एकेश्वरवादी परंपराओं में से प्रत्येक के भीतर, एक निश्चित, अंतिम प्रकट ग्रंथ के साथ रहने की प्रक्रिया में समान समस्याएँ विकसित हुई हैं जिन्हें संशोधित या परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। सबसे पहले, कौन निर्धारित करता है कि कैनन वास्तव में बन्द है? मुस्लिम परंपरा में, इस मुद्दे को अपेक्षाकृत आसानी से हल किया गया था। संपूर्ण कुरान पैगंबर मोहम्मद (570-632 सीई) के जीवनकाल के दौरान और उनके स्वयं के मुसलमानों के जीवनकाल के दौरान प्रकट हुआ था और बाद में कभी भी यह सवाल नहीं किया कि क्या कोई अन्य ग्रंथ कुरान का हिस्सा हो सकता है। लेकिन इस मुद्दे को नए नियम या हिब्रू बाइबिल के साथ आसानी से हल नहीं किया गया था, क्योंकि इसे धार्मिक समुदाय के चार्टर के रूप में निश्चित रूप से अच्छी तरह से स्थापित नहीं किया गया था।

यहूदियों ने 70 ई० सन् में द्वितीय मंदिर के विनाश के बाद बहुत अराजक समय का अनुभव किया, जब उन्हें रोमन साम्राज्य के सभी हिस्सों में भेज दिया गया और ईसाई धर्म प्रमुख हो गया। इन स्थितियों में रब्बियों के एक समूह के रूप में माना जाता है कि धार्मिक प्राधिकारियों को एक दृढ़ निर्णय के लिए मिलना था जिसके बारे में ग्रंथ यहूदियों के लिए आधिकारिक थे। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि एपोक्रिफा को अलग कर दिया जाना चाहिए, जो कि तोराह, पैगम्बर और लेखन को हिब्रू बाइबिल के तीन भागों के रूप में छोड़ देता है।

एक तरह से या किसी अन्य, एक विशिष्ट ग्रंथ का अधिकार स्थापित है। सभी तीन एकेश्वरवादी धर्म इस बात पर सहमत हैं कि जीवन उस ग्रंथ पर आधारित होना चाहिए, कि ग्रंथ देवता की इच्छाओं और मनुष्यों के लिए आदेशों का अंतिम मध्यस्थ है। लेकिन ग्रंथ वास्तव में किस प्रकार निर्धारित होता है, और उन निर्धारणों को कौन करता है? ये एकेश्वरवादी धर्मों में धार्मिक अधिकार के बारे में मूलभूत मुद्दे हैं। ग्रंथ आधिकारिक को नष्ट करने से यह समस्या हल नहीं होती है कि किन व्यक्तियों या संस्थानों को ग्रंथ का अर्थ या ग्रंथ का समाधान विभिन्न अप्रत्याशित परिस्थितियों के लिए करना चाहिए जो अनिवार्य रूप से उत्पन्न होती हैं।

ग्रंथ के अर्थ को निर्धारित करने के लिए लोगों के एक विशिष्ट समूह को अधिकृत करके इस समस्या को हल किया जाता है। सभी तीन एकेश्वरवादी धर्मों में, इन लोगों को ग्रंथ और उस पर टिप्पणियों में अच्छी तरह से शिक्षित होना चाहिए क्योंकि उन्हें ग्रंथ से अपनी व्याख्याएँ प्राप्त करनी चाहिए, न कि उन्हें ग्रंथ पर थोपना चाहिए। समय में, टिप्पणियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं, यदि मूल ग्रंथ से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी टिप्पणी की अपनी परत को जोड़ती है, जो संपूर्ण अधिकारिक परंपरा का हिस्सा बन जाती है।

### परंपरा का बल : धार्मिक प्राधिकरण के रूप में सामूहिक स्मृति
### (The Force of Tradition : Collective Memory as Religious Authority)

कई धार्मिक समुदाय विशेष रूप से या तो एक पवित्र ग्रंथ या एक अधिकृत शिक्षक के लिए उन्मुख नहीं हैं। इसके बजाय, उनके लिए, जो मायने रखता है वह हमेशा किया गया है, उनका मानना है कि उनके पूर्वाभास ने हमेशा किया, और क्या परंपरा तय करती है। परम धार्मिक प्राधिकरण के रूप में परंपरा को पहले से चर्चा किए गए धर्मों के क्षेत्रों में पाया जा सकता है क्योंकि सम्मेलन में हमेशा बड़ी अपील और बल होता है। हालांकि, कम से कम दो प्रमुख धर्मों में, हिन्दू धर्म के बड़े हिस्से और कन्फ्यूशियस परिप्रेक्ष्य, परंपरा और रिवाज को धार्मिक अधिकार के उच्चतम पद पर स्पष्ट रूप से ऊँचा किया गया है।

हिन्दू धर्म भारत में सामना किए गए धार्मिक व्यवहारों के लिए एक आधुनिक यूरोपीय शब्द है, जिसका एक कारण हिन्दू पंरपरा की अतिवाद परंपरा के रूप में संक्षेप में प्रस्तुत करना मुश्किल है। अधिकांश हिन्दुओं के लिए, पंरपरा धार्मिक जीवन की नींव है, जिस पर अन्य तत्व डाले जा सकते हैं, लेकिन अक्सर पंरपरा धार्मिक जीवन की संपूर्ण सामग्री होती है। यह हिन्दू धर्म के उन वर्गों के लिए विशेष रूप से सत्य है जो आत्मज्ञान और अंतिम रिहाई के लिए उन्मुख नहीं है, लेकिन इस दुनिया में किसी का कर्त्तव्य अच्छी तरह से करते हैं–और इस प्रकार का हिन्दू धर्म कम–से–कम सैद्धांतिक रूप से, सभी हिन्दुओं के लिए सबसे नीचे की रेखा है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे और क्या कर सकते हैं इस नींव पर जोड़ें। पारंपरिक हिन्दुओं के लिए, जीवन कर्त्तव्यों और रिश्तों का एक विशाल परिसर है, उन सभी को सनातन धर्म में रखा गया है, कानून कोड जिसे कोई भी पूरी तरह से नहीं समझता है, वह किसी एक स्रोत में निहित नहीं है, और यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की जाति और जीवन स्तर पर निर्भर करता है फिर भी, कर्तव्य निरपेक्ष है और इससे बचा नहीं जा सकता।

किसी के कर्तव्य को समझने के रहस्य और जटिलता की चर्चा राष्ट्रीय महाकाव्य, महाभारत सहित कई हिन्दू ग्रंथों में की गई है (महान युद्ध)। शुरुआत के लिए, जीवन के जाति और चरण के कर्त्तव्य की जटिलता है। भारत की विवादास्पद जाति व्यवस्था को शास्त्रीय हिन्दू धर्म में, ब्रह्मांडीय या दैवीय उत्पत्ति के लिए परम अधिकार माना जाता था और व्यक्तियों और समाज पर इसके प्रभावों के बारे में मानव नैतिक योग्यता के अधीन नहीं था। किसी के लिए आवश्यक कर्त्तव्य का हिस्सा जन्म से निर्धारित किसी भी जाति की स्थिति की आवश्यकताओं के अनुरूप है। व्यक्तिगत क्षमता और इच्छाएँ परंपरा के इस बैंक के खिलाफ निरर्थक थीं। इसके अलावा, व्यक्ति को जीवन में किसी के चरण के लिए आवश्यक कर्तव्यों के अनुरूप होना चाहिए। युवा लोगों के लिए व्यक्तिगत धार्मिक पूर्ति की तलाश करना उचित नहीं हैं; उन्हें पहले अपने परिवार और पेशेवर भूमिकाओं को पूरा करना चाहिए, जैसा कि जाति द्वारा निर्धारित किया गया है। बुद्ध से लेकर महात्मा गाँधी तक अनगिनत अधिकारियों ने जाति व्यवस्था को संशोधित या समाप्त करने का प्रयास किया है, लेकिन परंपरा का बल हमेशा उन पर हावी रहा है। आज, भारत में जाति व्यवस्था गैर–कानूनी है, और कम विशेषाधिकार प्राप्त जातियों की स्थिति को ऊँचा करने की कोशिश करने वाली **सकारात्मक कार्यवाही** अधिक विशेषाधिकार प्राप्त जातियों में बहुत से लोगों द्वारा नाराजगी जताई जाती है।

### धार्मिक प्राधिकरण और आधुनिक विचार
### (Religious Authority and Modern Thought)

धार्मिक अधिकार के सभी पारंपरिक स्रोतों को आधुनिक विचार, विशेष रूप से विज्ञान, अनुभवजन्य इतिहास और सामाजिक सुधार के धर्मनिरपेक्ष आंदोलनों द्वारा चुनौती दी जा रही है।

धर्म विभिन्न आंतरिक परिवर्तनों से लेकर आधुनिक प्रतिरोध को पूरा करने के प्रतिरोध तक विभिन्न प्रकार से इन विकासों का जवाब देते हैं। कई मायनों में, ग्रंथों के लिए उन्मुख धर्मों में आधुनिक विचार से

निपटने का सबसे कठिन समय रहा है; ग्रंथों में अक्सर विज्ञान, इतिहास, और सामाजिक प्रणालियाँ शामिल होती हैं जो आधुनिकता के साथ अच्छी तरह से नहीं बैठती हैं और ग्रन्थों को शाश्वत रूप से मान्य और बाध्यकारी माना जाता है। कई व्याख्याकारों ने ग्रंथ के कुछ पहलुओं पर दिव्य रहस्योद्घाटन के बजाय इसके सामाजिक संदर्भ से उपजी और साहित्यिक सच्चाइयों के बजाय रूपक से रूप में ग्रंथ में कई कहानियों के बारे में विचार करके आधुनिक ग्रंथों के साथ धार्मिक ग्रंथों की गहरी अंतदृष्टि को जोड़ने के तरीके खोजे हैं। दूसरों ने पारंपरिक धार्मिक विचार के किसी भी पहलू को स्वीकार करने से इनकार कर दिया है जहाँ यह आधुनिक विज्ञान या इतिहास के साथ संघर्ष करता है, जिसके परिणामस्वरूप कट्टरवाद इक्कीसवीं सदी में एक प्रमुख धार्मिक आंदोलन है, खासकर एकेश्वरवादी धर्मों में।

आधुनिक दुनिया के कई हिस्सों, खासकर जापान और यूरोप में धर्म के प्रति धर्मनिरपेक्षता या उदासीनता भी आम है। कई लोगों के लिए धर्म वास्तविक अधिकार होने के कारण एक मामूली औपचारिक संबंध बन गया है।

दुनिया के अन्य हिस्सों, विशेष रूप से भारत और **मध्य पूर्व में,** धर्म संघर्ष का एक प्रमुख स्रोत बन गया है क्योंकि विभिन्न धर्मों का दावा है कि उनके ग्रंथ और परंपराएँ उन्हें भूमि और पवित्र स्थानों पर अकेले नियंत्रण देती हैं। संघर्ष में दोनों पक्ष अपनी धार्मिक परंपरा के अधिकार का दावा करते हैं और अपने विरोधियों द्वारा समान दावों को नाजायज मानते हैं।

### निष्कर्ष (Conclusion)

हर स्थिति में, धार्मिक प्राधिकरण परंपरा के एक जटिल मिश्रण पर निर्भर करेगा, प्रकृति के बारे में विचार, विभिन्न प्रकार के धार्मिक नेता और पवित्रता के विभिन्न स्तरों वाले ग्रंथों या मौखिक परंपराओं के बारे में। आमतौर पर प्राधिकरण के इन स्रोतों में से एक या दो प्रमुख हैं। कभी-कभी अधिकार के वे स्रोत धार्मिक समुदाय को नई प्रथाओं या समझ में धकेलने की कोशिश करेंगे। कभी-कभी प्राधिकरण के वे स्रोत बौद्धिक या नैतिक चुनौतियों के सामने वर्तमान प्रथाओं और समझ के संरक्षण का प्रयास करेंगे। धार्मिक परंपराओं में अधिकार के संबंध में कुछ सामान्यीकरण किसी भी विश्वसनीयता के साथ किए जा सकते हैं।

## ● धर्म *अथवा* धार्मिक प्राधिकरण के कार्य (Functions of Religion *Or* Religious Authority)

धर्म एक सांस्कृतिक सार्वभौमिक है क्योंकि यह मानव समाजों के भीतर कई बुनियादी कार्यों को पूरा करता है। यह समूह जीवन की एक बुनियादी आवश्यकता है। समाजशास्त्रीय शब्दों में, ये दोनों प्रकट और अव्यक्त कार्य शामिल हैं। धर्म के प्रकट (खुले और वर्णित) कार्यों में आध्यात्मिक दुनिया को परिभाषित करना और परमात्मा को अर्थ देना शामिल है।

धर्म उन घटनाओं के लिए एक स्पष्टीकरण प्रदान करता है और समझने में मुश्किल लगते हैं। इसके विपरीत, अव्यक्त कार्य या धर्म अनपेक्षित, गुप्त या छिपे हुए हैं। कार्यवादियों का सुझाव है कि धर्म समाज और व्यक्ति दोनों के लिए एक आवश्यकता है क्योंकि यह दोनों प्रकट और अव्यक्त कार्य करता है।

**(1) एक एकीकृत बल के रूप में धर्म** (Religion as an Integrative Force)—दुर्खीम का मानना था कि धर्म का प्राथमिक कार्य समाज को संरक्षित और एकजुट करना था। यह समूह की सामूहिक एकता या सामाजिक एकजुटता को मजबूत करने का कार्य करता है। जीवन के अर्थ के समान धर्म या धार्मिक व्याख्या को साझा करना लोगों को एकजुट और निर्माण नैतिक क्रम में एकजुट करता है।

**(4) मार्ग के संस्कार प्रदान करता है** (Provides Rites of Passage)—धर्म हमें अनुष्ठानों और अनुष्ठानों में अनुष्ठान (जन्म, विवाह, मृत्यु और अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं) के अनुष्ठानों को करने में मदद करता है जो हमारे जीवन को अर्थ और एक सामाजिक महत्व देते हैं।

**(5) भावनात्मक समर्थन के रूप में धर्म** (Religion as Emotional Support)—धर्म व्यक्तिगत और सामाजिक संकटों के दौरान व्यक्तियों के लिए आराम और एकांत की भावना है, जैसे कि प्रियजनों की मृत्यु, गंभीर चोट, आदि यह विशेष रूप से सच है जब कुछ 'संवेदनहीन' होता है। यह उन्हें भावनात्मक समर्थन देता है और परीक्षण और हार, व्यक्तिगत नुकसान और अन्यायपूर्ण उपचार के दौरान सांत्वना, सामंजस्य और नैतिक शक्ति प्रदान करता है।

यह एक ऐसा साधन प्रदान करता है जिससे मनुष्य जीवन के संकटों और विकटताओं का सामना मजबूती के साथ कर सकता है। हिन्दुओं और ईसा मसीह के बीच कर्म और प्रसारण की अवधारणाएँ ईश्वर के पुत्र के रूप में और ईसाइयों के बीच प्रार्थना इस तरह का सौभाग्य और शक्ति प्रदान करना चाहती हैं।

थॉमस ओ डिया (1970) लिखते हैं, 'पुरुषों को निराशा और चिंता के साथ सामना होने पर अनिश्चितता, सांत्वना के सामने भावनात्मक समर्थन की आवश्यकता होती है।' यह अक्सर कहा जाता है कि पूजा और पवित्र स्थानों का दौरा तनाव को दूर करने के लिए आउटलेट के रूप में कार्य करता है।

धर्म उत्पीड़ित लोगों को भी सांत्वना प्रदान करता है जिससे उन्हें आशा है कि वे जीवनकाल में मोक्ष और अनन्त सुख प्राप्त कर सकते हैं। धर्म 'ईश्वर प्रदान करेगा' के दृष्टिकोण को बढ़ाता है।

**(6) धर्म अंतिम प्रश्नों के उत्तर प्रदान करने के लिए एक साधन प्रदान करता है** (Religion Serves a Means to Provide Answers to Ultimate Questions)—हम यहाँ पृथ्वी पर क्यों हैं? क्या कोई सर्वोच्च है? मरने के बाद क्या होता है? सभी धर्मों में कुछ धारणाएँ और मान्यताएँ हैं जो उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर प्रदान करती हैं। ये इस विश्वास पर आधारित हैं कि जीवन का एक उद्देश्य है या ऐसा कुछ है जो ब्रह्मांड को नियंत्रित करता है। यह आध्यात्मिक दुनिया को परिभाषित करता है और परमात्मा को अर्थ देता है। लोगों के रिश्तों से परे अपनी मान्यताओं के कारण, धर्म उन घटनाओं के लिए एक स्पष्टीकरण प्रदान करता है जो समझने में मुश्किल लगते हैं।

**(7) पहचान के स्त्रोत के रूप में धर्म** (Religion as a Source of Identity)—धर्म व्यक्तियों को पहचान की भावना देता है—एक गहरी और सकरात्मक आत्म-पहचान। यह उन्हें रोजमर्रा की जिंदगी के कई संदेहों और आक्रोश से प्रभावी ढंग से निपटने में सक्षम बनाता है। धर्म लोगों को सुझाव दे सकता है कि वे बेकार या व्यर्थ प्राणी नहीं हैं और इस तरह उन्हें जीवन के निराशाजनक अनुभवों को कम करने में मदद मिलती है जो कभी-कभी किसी व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए मजबूर करते हैं। थॉमस लकमैन (1983) के अनुसार, 'धर्म का प्रमुख कार्य जीवन को व्यक्तिगत अर्थ देना है।'

औद्योगिक समाजों में, धर्म पहचान के स्त्रोत प्रदान करके नए लोगों को एकीकृत करने में मदद करता है। उदाहरण के लिए, भारत में बांग्लादेशी अप्रवासी अपने नए सामाजिक वातावरण में बसने के बाद, भारतीय मुसलमानों के रूप में पहचाने जाने लगे। तेजी से बदलती दुनिया में, धार्मिक विश्वास अक्सर अपनेपन की एक महत्वपूर्ण भावना प्रदान करता है।

**(8) धर्म के कानूनी कार्य** (Legitimating Function of Religion)—मैक्स वेबर (1930) के अनुसार, धर्म का उपयोग शक्ति के अभ्यास को समझाने, न्यायोचित ठहराने या तर्कसंगत बनाने के लिए किया जा सकता है। यह सत्ता में उन लोगों के हितों को मजबूत करता है। यहाँ तक कि धार्मिक रूप से शासित नहीं होने वाले समाजों में भी, धर्म राजनीतिक क्षेत्र को वैधता प्रदान करता है।

उदाहरण के लिए, भारत की पारंपरिक जाति व्यवस्था ने समाज की सामाजिक संरचना को परिभाषित किया। एक सिद्धान्त के अनुसार, जाति व्यवस्था इस व्यवस्था के पुरोहितवाद (ब्राह्मणों) की सबसे बड़ी रचना है, लेकिन इसने सामाजिक असमानता को वैधता प्रदान करके राजनीतिक शासकों के हितों की भी सेवा की।

मार्क्स ने स्वीकार किया है कि धर्म मौजूदा सामाजिक संरचना को वैध बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। धर्म के मूल्य अन्य सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक व्यवस्था को समग्र रूप से सुदृढ़ करते हैं और इसके परिणामस्वरूप यह समाज में सामाजिक असमानता को समाप्त करता है।

**(9) मनोवैज्ञानिक धर्म** (Psychologizing Religion)—सकारात्मक सोच की धारणा धर्म के मनोवैज्ञानिक होने के उदाहरण के रूप में कार्य करती है। यह मन को शांति प्रदान करता है, जीवन में समृद्धि और सफलता का वादा करता है, साथ ही साथ प्रभावी और खुशहाल मानवीय संबंध भी। यह इस प्रकार सुरक्षा और आत्मविश्वास का स्रोत है, और इस दुनिया में खुशी और सफलता का भी।

लेकिन कई बार धर्म दुर्बल और व्यक्तिगत रूप से विनाशकारी हो सकता है। अपने स्वयं के आवश्यक दुष्टता के प्रति आश्वस्त व्यक्ति अत्यधिक व्यक्तिगत कठिनाइयों का सामना कर सकते हैं। जैसा कि किंग्सले डेविस (1949) ने कहा, 'अन्य दवाओं की तरह, यह (धर्म) कभी-कभी बहुत बुरी चीज बना सकता है जो इसे ठीक करना चाहता है।

असंख्य साइकोस और न्यूरोस हैं जिनके पास धार्मिक सामग्री है लेकिन, इस भूमिका में, धर्म हमेशा हानिकारक नहीं होता है। कई बार, यह व्यक्तियों के लिए मुक्ति और एकीकरण बल के रूप में कार्य करता है। उदाहरण के लिए, यह आम तौर पर निराशाजनक शराबियों में परिवर्तन (संयम) लाने में मदद करता है।

**(10) मनोचिकित्सा के रूप में धर्म अधिनियम** (Religion Acts as Psychotherapy)—आधुनिक दुनिया में, धर्म भी एक सहायक मनोविज्ञान बन गया है—मनोचिकित्सा का एक रूप। अब, भगवान को एक इंसान के रूप में माना जाता है और भगवान को मानते हैं। इस तरह की उम्मीद की धारणा पीड़ित व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत और सामाजिक संकट को कम करने में मदद करती है।

धार्मिक व्यवसायी का एक नया पेशा हाल ही में मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक पेशेवर की मदद के रूप में सामने आया है। यह पहले से ही ग्राम भारत और अन्य स्थानों में पुजारी और जादूगर के रूप में मौजूद था।

**(11) सामाजिक परिवर्तन के एजेंट के रूप में धर्म** (Religion as an Agent of Social Change)—धर्म अपने पुरोहित कार्य में यथास्थिति का समर्थन करता है, लेकिन यह अपने भविष्य के कार्य में महान परिवर्तन को प्रेरित करता है। यह सामाजिक शक्तियों को पार करने के लिए व्यक्तियों को सक्षम कर सकता है; सामाजिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित के अलावा अन्य तरीकों से कार्य करना।

आमतौर पर, धर्म को सामाजिक परिवर्तन के मार्ग में एक बाधा के रूप में माना जाता है, लेकिन कई धार्मिक समूह, सामाजिक नैतिकता और सामाजिक अन्याय के मौजूदा नियमों की आलोचना करके, और सामुदायिक या सरकारी कार्यों से, सामाजिक परिवर्तन लाने में मदद करते हैं। इस संबंध में, मैक्स वेबर का अर्थव्यवस्था और धर्म के बीच संबंधों पर अग्रणी कार्य है।

**(12) धर्म का राजनीतिकरण के अभिकरण के रूप में** (Religion as an Agent of De-politicization)— ब्रायन विल्सन (1976) के अनुसार, धर्म राजनीतिकरण के अभिकरण के रूप में कार्य करता है। मार्क्सवादियों का सुझाव है कि वंचितों के बीच एक 'झूठी चेतना' उत्पन्न करने से, धर्म सामूहिक राजनीतिक कार्यवाही की संभावना को कम करता है। सरल शब्दों में, धर्म लोगों को राजनीतिक दृष्टि से उनके जीवन और सामाजिक परिस्थितियों को देखने से दूर रखता है।

**(13) धर्म नियंत्रण कामुकता** (Religion Controls Sexuality)—बी० टर्नर (1992) के अनुसार, 'धर्म में शरीर की कामुकता को नियंत्रित करने का कार्य है, ताकि परिवार के माध्यम से संपत्ति के नियमित प्रसारण को सुरक्षित किया जा सके।' सामंतवाद में, और अब पूँजीवाद में, कामुकता का धार्मिक नियंत्रण वैध संतानों के उत्पादन के लिए एक महत्वपूर्ण वाहन है।

## ● भारतीय संस्कृति के आधार (Foundation of Indian Culture)

हमारी भारतीय संस्कृति विश्व की एकमात्र संस्कृति रही है जो कि लोक-कल्याण एवं वसुधैव कुटुम्बकम् नाम के सिद्धान्त को आधार मानकर व्यक्ति एवं समाज, ब्रह्म की उपासना, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता, इहलोक एवं परलोक, साकार एवं निराकार, कर्मवाद एवं भाग्यवाद, दोनों में ही सुन्दर समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करती रही है। किन्तु भारतीय संस्कृति की निरन्तरता एवं समृद्धि के पीछे भारतीय सामाजिक व्यवस्था को कुछ विशिष्ट संस्थाओं एवं तत्वों का विशिष्ट योगदान रहा है। ये कुछ ऐसी संस्थायें रही हैं जिनका अस्तित्व विश्व की किसी संस्कृति में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता—

**(1) प्राचीनता एवं स्थायित्व**—भारत की संस्कृति एवं समाज-व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों एवं समाज व्यवस्था में से एक है। मिस्र, सीरिया, बेबीलोनिया, यूनान, रोम और भारत की संस्कृतियाँ विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से हैं। समय के साथ-साथ प्राचीनतम संस्कृतियाँ तो नष्ट हो गयीं, समय के प्रवाह में जाने कहाँ बह गयीं और उनके अवशेष मात्र ही बचे हैं। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी भारत की आदि संस्कृति एवं समाज-व्यवस्था आज भी जीवित है। आज भी हमारे भारत के वैदिक धर्म को मानती हैं। भारतीय जीवन के मूल आधार आज भी वही हैं जो प्राचीन भारत में थे। सदियाँ बीत गयीं, न जाने कितने उत्थान-पतन हुए, विदेशी आक्रमण हुए किन्तु भारतीय समाज व संस्कृति का प्रकाशमय दीपक आज भी प्रज्ज्वलित है।

**(2) आध्यात्मवाद**—भारतीय समाज एवं संस्कृति में आध्यात्मवाद को महत्त्व दिया गया। यहाँ भौतिक सुख और भोग लिप्ता को कभी भी जीवन का ध्येय नहीं माना गया। भारतीय समाज में आत्मा और ईश्वर के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक एवं आध्यात्मिक आनन्द को सर्वोपरि माना गया है। धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय समाज व संस्कृति की आत्मा है। इसमें भोग एवं त्याग का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। आध्यात्मवाद ने ही सहिष्णु प्रवृत्ति को जन्म दिया है।

**(3) धर्म की संस्था**—धर्म भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार, उसकी आत्मा एवं सबसे प्रमुख संस्था रही है। धर्म का अर्थ होता है धारण करना तथा इन अर्थों में भारतीय समाज अपनी जीवन ज्योति, कार्य-कलापों, सामाजिक दायित्वों के स्पष्टीकरण एवं विभाजन के लिए प्रमुख रूप से धर्म पर ही आधारित रहा है। भारतीय दर्शन में धर्म का अर्थ केवल पूजा-पाठ, अन्धविश्वासों एवं कर्मकाण्डों में विश्वास मात्र न होकर कहीं अधिक विस्तृत अर्थों में लिया जाता है। एक ओर यदि धर्म इहलोक एवं परलोक की व्याख्या कर मार्ग निर्देशन करता है तो दूसरी ओर भारतीय संदर्भ में वह व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक विकास की आवश्यकताओं से सम्बन्धित रहकर व्यक्ति के समस्त कार्य-कलापों का निर्धारण एवं निर्देशन भी करता रहता है।

भारतवर्ष में हमें धर्म के तीन प्रमुख रूप देखने को मिलते रहे हैं—

**(i) सामान्य धर्म**—इससे आशय सभी लोगों के द्वारा पालन किये गये कर्त्तव्यों से होता है। यही सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार कहा जा सकता है।

**(ii) विशिष्ट धर्म**—विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण विशिष्ट धर्म के अनुसार होता है। भारतीय दर्शन में वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुशल एवं राजधर्म आदि का उल्लेख विशिष्ट धर्म का ही उदाहरण है।

**(iii) आपत्धर्म**—संकट के समय चूंकि व्यक्ति अपने सामान्य धर्म का पालन नहीं कर सकता, ऐसी परिस्थिति में उसके कर्त्तव्यों के निर्धारण के लिए आपातकालीन धर्म की व्यवस्था भी भारतीय मनीषियों ने की।

यद्यपि आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार, पश्चिमीकरण, नगरीकरण एवं वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति ने भारतीय धर्म के परम्परात्मक स्वरूप पर कुठाराघात किया है किन्तु आज भी सामान्य भारतीय धार्मिक प्रवृत्ति का ही होता है।

**(4) पुरुषार्थ**—पुरुषार्थ भारतीय जीवन एवं हिन्दू दर्शन का एक अन्य प्रमुख तत्व रहा है। कर्त्तव्यों का सही रूप में पालन हो, समाज संगठित रहे एवं व्यक्ति जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर सके इसके लिए भारतीय दर्शन के चार पुरुषार्थों का उल्लेख मिलता है। ये हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।

**(i) धर्म**—धर्म प्रथम पुरुषार्थ है जिससे आशय व्यक्ति के द्वारा अपने समस्त कर्त्तव्यों के उचित पालन एवं निर्वाह से है। प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती रही है कि वह अपने वर्ण, आश्रम, वंश, आयु तथा सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित धर्म अर्थात् कर्त्तव्यों का पालन करे। धर्म के बारे में पी० वी० काणे (P. V. Kane) लिखते हैं, ''धर्म का सम्बन्ध किसी ईश्वरीय मत से न होकर आचार संहिता से है जो मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करती है।''

**(ii) अर्थ**—व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं एवं धन के अर्जन एवं संग्रह से सम्बन्धित है किन्तु यह भौतिकवादी हेतु नहीं बल्कि गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात अपने आश्रितों के भरण-पोषण तथा विभिन्न ऋणों से ऋण होने के लिए सम्पादित किये जाने वाले पंचयज्ञों को करने के लिए होता है।

**(iii) काम**—काम को व्यक्ति की यौगिक प्रवृत्ति नियंत्रित करने हेतु एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया। काम से आशय केवल योग इच्छा की तुष्टि से नहीं होता बल्कि इसके द्वारा व्यक्ति अपनी सौन्दर्य प्रियता की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करता एवं प्रजनन की प्रक्रिया के द्वारा वंश एवं समाज की निरन्तरता को बनाये रखता है। पुत्र की प्राप्ति एक धार्मिक कृत्य माना गया क्योंकि वह पिण्ड दान एवं तर्पण के द्वारा अपने पितरों की आत्मा को शान्ति प्रदान करता है।

**(iv) मोक्ष**—मोक्ष को साध्य एवं अन्तिम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया। जब व्यक्ति धर्म, अर्थ एवं काम के पुरुषार्थों के अनुरूप व्यवहार करता है तभी वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इसकी प्राप्ति के पश्चात ही आत्मा परमात्मा में विलीन होकर अमरत्व को प्राप्त होती है।

**(5) आश्रम व्यवस्था**—भारतीय दर्शन में जहाँ पुरुषार्थों के द्वारा व्यक्ति को संयमित एवं नियमित कर सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के योग्य बनाने की व्यवस्था की गयी है, वहीं आश्रम व्यवस्था के द्वारा पारस्परिक निर्भरता के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को और भी सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की। भारतीय दर्शन में 'जीवेत् शरदः शतम्' अर्थात् व्यक्ति के कम से कम सौ वर्षों के जीवन की आशा की गयी है। व्यक्ति के समस्त जीवन को संयमित एवं नियमबद्ध करके उसके द्वारा सही अर्थों में पुरुषार्थों की पूर्ति के लिए आश्रम व्यवस्था का विधान बनाया गया। चार प्रमुख आश्रम माने गये—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं सन्यास आश्रम। इनमें से प्रत्येक आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष मानी गयी।

**(6) वर्ण व्यवस्था**—हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में श्रम विभाजन को सम्भव बनाने एवं व्यक्ति की अपनी पसन्द एवं क्षमता के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये वर्ण व्यवस्था की स्थापना की गयी। समाज को चार प्रमुख वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभक्त किया गया। यह विभाजन न तो बन्द (Closed) था और न ही इसका पैतृकता से कोई सम्बन्ध था। कोई भी व्यक्ति अपने वैयक्तिक गुणों, क्षमताओं एवं प्रसार के आधार पर उच्च वर्ग का अधिकारी बन सकता है। धर्म प्रधान सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों का

स्थान सर्वोच्च था। वे पठन-पाठन, यज्ञ-पाठन, यज्ञ-हवन व दान आदि के कर्त्तव्य सम्पन्न करते थे। क्षत्रिय वर्ण का दायित्व दान देना तथा शासन करना एवं तीनों वर्णों की रक्षा करना था। वैश्य कृषि एवं व्यापार का सम्पूर्ण समाज की अर्थव्यवस्था को संभालने एवं भरण-पोषण के दायित्व का निर्वाह करते थे। शूद्र जो कि वर्ण व्यवस्था में सबसे निम्न माने गये अपने से उच्च तीनों वर्णों की सेवा करते थे। किन्तु कालान्तर में धार्मिक कठोरता एवं रूढ़िवादिता के बढ़ने पर वर्ण ने धीरे-धीरे जाति का रूप ले लिया एवं यह बन्द व्यवस्था (Closed System) बन गई एवं इसकी सदस्यता अनुवांशिकता के द्वारा निर्धारित होने लगी।

**(7) संस्कार**—भारतीय हिन्दू जीवन में धर्म के तत्व की प्रधानता के कारण उसके समर्थक एवं पोषक के रूप में विभिन्न संस्कारों का भी अस्तित्व रहा है और आज हिन्दू समाज इन संस्कारों से अपने को पूर्ण मुक्त नहीं कर सका। वैदिक युग से ही यह मान्यता रही है कि 'जन्मनाजायते शुद्रः संस्कारत द्वित भेवत' अर्थात् जन्म से व्यक्ति शूद्र होता है तथा संस्कारों के द्वारा ही शुद्धिकरण के पश्चात् व्यक्ति द्विज कहलाने का अधिकारी हो सकता है। संस्कार ही व्यक्ति को तेजस्विता, दीर्घजीवन एवं प्रताप प्रदान करते हैं। अस्तु वैयक्तिक विकास एवं सामाजिक संगठन की दृष्टि से उपयोगी मानकर इन्हें अंगीकार किया गया।

**(8) कर्म का सिद्धान्त**—हिन्दू जीवन दर्शन को जितना कर्म के सिद्धान्त ने प्रभावित किया उतना कदाचित ही किसी अन्य सिद्धान्त ने प्रभावित किया है। कर्म का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति को यह बताता है कि हम सबको अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यदि हमारे कर्म अच्छे होते हैं तो हमको अगली योनि में सुख, समृद्धि एवं उच्च योनि प्राप्त होती है। अर्थात् हमारे अतीत के कर्म हमारे वर्तमान का निर्धारण करते हैं। इसी प्रकार वर्तमान में हमारे द्वारा किये गये कर्म हमारे भविष्य का स्वरूप निर्धारित करते हैं। कर्मफल का सिद्धान्त व्यक्ति को अच्छे कर्म की प्रेरणा देता है तथा अनुचित कर्मों से दूर रहने की प्रेरणा देता है। किन्तु भारतीय दर्शन में निष्काम कर्म अर्थात बिना फल की कामना किये हुये अपने कर्मों को करने की सलाह दी गई है। कर्म के सिद्धान्त की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है, ''यह सिद्धान्त यह घोषणा करता है कि मानव अपने कर्मों के कारण ही शक्तिशाली है। ..... कर्मवाद जीवन के लिये अमूल्य है क्योंकि यह भविष्य की आशा और भूत को भूल जाने में विश्वास दिलाता है। वास्तव में कर्म वह शक्ति है जो हमारे नैतिक जीवन का आधार है और उसे नियन्त्रित रखती है।

**(9) भाग्यवादिता**—कर्म के सिद्धान्त के साथ-साथ भाग्यवादिता में विश्वास भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण तत्व माना जा सकता है। कर्म फल ही व्यक्ति का भाग्य कहा जा सकता है। किन्तु भाग्य के निर्धारण में व्यक्ति का अपना कोई हाथ नहीं होता बल्कि उसका निर्धारण तो दैवी विधान के आधार पर होता है। व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी अपने भाग्य को बदल नहीं सकता। ऐसा विश्वास किया जाता रहा है कि व्यक्ति का जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, मान-सम्मान, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि सभी का निर्धारण व्यक्ति के जन्म के पूर्व ही हो जाता है। इस जगत में हजारों ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जहाँ व्यक्ति बिना किसी प्रयत्न के धनी, गौरवशाली, सुख एवं समृद्धिशाली जीवन व्यतीत करते हैं इसके विपरीत अनेक ऐसे व्यक्ति भी हैं जो कि रात-दिन कठोर परिश्रम के बावजूद भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पाते एवं पूर्ण जीवन जीते हैं।

हमारे धर्म ग्रन्थ में ऐसे दृष्टान्त भरे पड़े हैं जो कि भाग्यवादिता के सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। पाँच पाण्डवों को मिलने वाला अपमान, कष्ट एवं वनवास उनके भाग्य का लेख था। इसी प्रकार ''करम गति टारे नाहिं टरी'' की बात भगवान राम के जीवन में घटित होती दिखलाई जाती है। दशरथ का मरण, राम वनवास, सीता का हरण आदि सभी कुछ भाग्य के अनुसार ही घटित हुआ। यदि इन महारथियों एवं महापुरुषों का जीवन भाग्य का खिलौना रहा तो एक सामान्य भारतीय को इस सिद्धान्त में आस्था होना स्वाभाविक है।

**(10) विवाह संस्था**—हिन्दू संस्कृति में विवाह की संस्था को स्त्री एवं पुरुष के बीच स्थापित जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध मानकर एक संस्कार का स्वरूप दिया गया है। हिन्दूओं में ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर जब व्यक्ति की आयु 25 वर्ष पूरी हो जाये, विवाह का विधान रहा है क्योंकि इसी के द्वारा व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर अपने अनेकानेक सामाजिक दायित्वों की पूर्ति करता था। इसमें पंच महायज्ञों के द्वारा पाँच ऋणों की अदायगी, धर्म, अर्थ एवं काम तीन पुरुषार्थों की पूर्ति तथा प्रजनन की प्रक्रिया के द्वारा सन्तानोत्पत्ति कर परिवार, वंश एवं समाज की निरन्तरता को कायम बनाये रखना उसके प्रमुख कर्त्तव्य माने गये हैं। भारतीयों में विवाह को केवल काम वासना की पूर्ति का साधन न मानकर 'धर्म' एवं 'प्रजा' मुख्य माने गये हैं। रति (आनन्द) को तीसरा एवं गौण ठहराया गया है।

इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में विवाह सम्बन्धी विभिन्न निषेध भी रहे हैं और प्रत्येक हिन्दू द्वारा उसका पालन करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य था। जैसे हिन्दुओं से सजातीय विवाहों को ही मान्यता दी गयी। प्रतिलोम के स्थान पर अनुलोम विवाहों को श्रेयस्कर माना गया। इसके अतिरिक्त सपिंड सगोत्र विधवा पुनर्विवाहों तथा अन्तर्जातीय विवाहों को मान्यता नहीं दी गई। भारतवर्ष जाति प्रथा के विघटन तथा शिक्षा के प्रसार के कारण विधवा पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाहों को भी मान्यता मिल गयी है किन्तु भारत में हिन्दुओं में अभी भी विवाह का संस्कार स्वरूप ही अधिक प्रचलित एवं मान्य है।

**(11) संयुक्त परिवार**—भारतीय समाज व्यवस्था में भी परिवार एक आधार स्तम्भ रहा है किन्तु हमारे यहाँ परिवार का जो स्वरूप प्रचलित रहा है उसे संयुक्त परिवार की संज्ञा दी गई है। इरावर्ती कार्वे संयुक्त परिवार को एक ऐसे परिवार के रूप में देखती हैं जिसमें कम से कम तीन पीढ़ी (Generations) के लोग एक साथ एक ही छत के नीचे रहते हों, जिनकी संख्या कम से कम (50) हो जिनकी सम्मिलित सम्पत्ति हो, जो साथ-साथ पूजा-पाठ में भाग लेते हों तथा जो कर्ता के अधीन रहकर अपने कार्यों को करते हों। पितृ प्रधान परिवार होने के कारण परिवार का मुखिया पुरुष ही होता था किन्तु स्त्रियों को भी समुचित धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त होते थे। समाजीकरण की एक प्रमुख संस्था के रूप में संयुक्त परिवार सदस्यों के न केवल भरण-पोषण का कार्य करता था बल्कि शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन एवं मनोरंजन आदि सभी की व्यवस्था कर बालकों के सर्वांगीण विकास का प्रयास करता था। परिवार प्रमुख रूप से धर्म पालन, मोक्ष की प्राप्ति तथा रति के द्वारा पुत्र प्राप्ति को सम्भव बनाकर पितरों की आत्मा की शांति के लिए कार्य करता था। इसके अतिरिक्त भारत की कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था को जीवित रखने के लिए अधिक संख्या में कार्य करने वालों को उपलब्ध कराना भी संयुक्त परिवार का ही दायित्व था। संयुक्त परिवार की अपनी एक निश्चित संरचना होती थी तथा परिवार में प्रत्येक सदस्य का उसमें एक निश्चित पद एवं स्थान होता था। सर्वोच्च स्थान कर्ता का होता था। दूसरा स्थान उसकी पत्नी का तथा तीसरा एवं चौथा स्थान उनके पुत्र एवं उसकी पत्नी का होता था। इसके पश्चात अन्य विवाहित एवं अविवाहित लोग आते थे। कन्या का स्थान संयुक्त परिवार में सबसे निम्न माना जाता था।

भारत में दो प्रकार के संयुक्त परिवारों का उल्लेख मिलता है—

**( अ ) मिताक्षरा संयुक्त परिवार**—इस प्रकार के संयुक्त परिवार में पिता को पारिवारिक सम्पत्ति का एकाधिकारी न मानकर उसका संरक्षक मात्र माना जाता था।

**( ब ) दायभाग**—इस प्रकार के संयुक्त परिवार में सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार की व्यवस्था होती है।

**(12) लोक कल्याण की भावना**—भारतीय संस्कृति व्यक्तिवादिता, भौतिकवादिता तथा स्वार्थ को निरुत्साहित कर सबके समान कल्याण में विश्वास करती है। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत-प्रोत यह

संस्कृति परोपकार, निःस्वार्थ सेवा, सत्य, अहिंसा, न्याय एवं प्रेम की भावना का पाठ पढ़ाकर लोक कल्याण की भावना को प्रोत्साहित करती है।

**(13) विस्तार की भावना**—भारतीय संस्कृति अपनी विस्तारवादी प्रवृत्ति के कारण चीन, तिब्बत, बर्मा, जावा एवं सुमात्रा तक पहुँची। बौद्ध धर्म का सुदूर देशों में प्रचार इस विशेषता का प्रमाण है। स्वामी विवेकानन्द ने उचित ही लिखा है, ''उन ओस कणों की भाँति जो रात्रि के सन्नाटे में गिरते हैं जिन्हें न कोई देख पाता है और न कोई सुन पाता है, परन्तु जो अति सुन्दर गुलाब के पुष्पों को विकसित करने में समर्थ होते हैं। यही देन है भारतीय संस्कार के विचारों की। शान्तिपूर्वक अनदेखे परन्तु अपने प्रभाव में सर्वव्यापी—इसने संसार के विचारों में क्रान्ति उत्पन्न की है।''

**(14) सामंजस्य की भावना**—भारतीय संस्कृति के अमरत्व, लोकप्रियता एवं निरन्तरता का प्रमुख कारण इसमें पायी जाने वाली सामंजस्य की भावना है। भारत की इस पावन भूमि पर प्राचीन काल से निरन्तर विदेशियों का आगमन होता रहा है। शक, हूण, कुषाण, पठान एवं मुगल आदि अनेकानेक सांस्कृतिक समूह के लोग यहाँ आये किन्तु वे सब यहाँ आकर भारत की सामंजस्य की अप्रतिम क्षमता के कारण इसी के होकर रह गये। यही कारण है कि भारत को विभिन्न प्रजातियों का द्रावण पात्र (melting pot) तथा विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल कहा गया है। अपने इसी गुण के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति अभी भी जीवित है।

**(15) विभिन्नता में एकता**—भारत एक विशाल देश है। यहाँ विभिन्न धर्मों, प्रजातियों, जातियों, भाषा-भाषियों, संस्कृतियों के लोग रहते हैं। किन्तु इन सब विषमताओं के होते हुए भी सभी अपने को भारत का नागरिक मानते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि भारत में विभिन्नता में एकता एवं एकता में विभिन्नता देखने को मिलती है। डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है, ''इसकी संस्कृति में एकता के चिह्न पाये जाते हैं यद्यपि परीक्षण करने पर वे विभिन्न प्रकार के रंगों में कटे दिखते हैं। उसकी विभिन्नता पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सकी यद्यपि सभ्यता से लेकर अब तक नेताओं के मस्तिष्क में एकता के विचार घूमते रहते हैं।

## ● हिन्दू धर्म (Hindu Religion)

हिन्दू विचार दर्शन में धर्म की अवधारणा एक अत्यन्त जटिल अवधारणा है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुयी है जिसका अर्थ है धारण करना। अर्थात् जो किसी वस्तु को धारण करे तथा उसके स्वरूप को बनाये रखे। प्रत्येक प्राणि वर्ग का तथा स्वयं मनुष्य का भी अपना धर्म (गुण) होता है उसी प्रकार से जैसे उष्णता अग्नि का धर्म है। सदाचार धर्म है तथा दुराचार अधर्म है। मनुष्य की इच्छायें उसे कर्म के लिये प्रेरित करती हैं। मानव जीवन कुछ आधारभूत इच्छाओं से घिरा है। इच्छाएँ व्यक्ति को क्रियाओं के लिये प्रेरित करती हैं। मानव जीवन में इन क्रियाओं में अन्तर्निर्भरता होती है।

हिन्दू दर्शन में जीवन के चार लक्ष्य माने गये हैं। ये हैं धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। 'धर्म' सद्वृत्ति एवं सदाचार, 'अर्थ' धन एवं सम्पत्ति का उपार्जन, 'काम' कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन तथा 'मोक्ष' जीवन के बन्धनों से मुक्त एक अनिर्वचनीय अनुभव। हिन्दू आचारसंहिता मानव इच्छाओं को इन चार लक्ष्यों से जोड़ती है। इच्छायें मानव स्वभाव का अंश हैं, धर्म जीवन के चार लक्ष्यों में से एक है। मोक्ष चरम लक्ष्य की उपलब्धि एवं 'धर्म' उसका साधन है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म (सेवा) इस चरम लक्ष्य की उपलब्धि के तीन मार्ग हैं। 'धर्म' की यह अवधारणा देवी-देवताओं, ईश्वर आदि की संकल्पनाओं से मुक्त है। मोक्ष के चरम लक्ष्य की उपलब्धि एक अनिर्वचनीय अनुभूति है जो देवत्व अथवा ईश्वरत्व के समीप आ जाती है। हिन्दू धर्म का यह ईश्वर तत्व 'रिलीजन' में ईश्वर की अवधारणा से सर्वथा भिन्न है।

हिन्दुत्व एक मिश्रित तथा संकर शब्द है। इसमें निहित है हिन्दू + इज्म, जिसके दोनों ही शब्द विदेशी मूल के हैं। अंग्रेजी में इज्म अपमानसूचक शब्द है यदि इसका प्रयोग किसी विशेष सिद्धान्त या व्यवहार के संदर्भ

में किया जाता है। प्रत्यय के रूप में प्रयोग किए जाने पर यह एक दशा या विशेषता या व्यवस्था या सिद्धान्त या भाषा की विशिष्टता को अभिव्यक्त करता है।

जैसा कि barbarism और heroism में निहित है Hinduism किसी दशा या विशेषता का सूचक नहीं है। यह भाषायी विचित्रता को भी इंगित नहीं करता (जैसे Americanism में) व्यक्त है। जिन लोगों ने इस शब्द को गढ़ा उन्होंने इसे हिन्दुओं की जीवन शैली, उनके परम्परागत (अनुदारवादी) तथा उनके वैचारिक संसाधन की उन्मुखता के लिए प्रयोग किया। तथापि व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दुत्व को परम्पराओं में व्याप्त हिन्दू समाज व्यवस्था की विशेषताओं के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जिसमें गत्यात्मकता के साथ संरक्षण, चयनात्मकता तथा परिवर्तन एवं सातत्य भी पिरोये हुए हैं।

**हिन्दू शब्द**

भाषा शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दू शब्द की उत्पत्ति सिन्धु नदी के पश्चिमी क्षेत्र में हुई। जैसे 'इण्डिया' की उत्पत्ति ग्रीक से मानी जाती है, उसी तरह फारसी मूल से हिन्दू शब्द आया। हिन्दू शब्द की प्रारम्भिक उत्पत्ति सिन्धु नदी से जुड़ी है।

इस प्रकार सिन्धु नदी के पूर्वी भाग में निवास करने वालों को हिन्दू कहा जाने लगेगा। भारत में इस्लाम के अनुयायियों अरब, तुर्क, मुगल और पारसी आगमन के बाद इस शब्द को विपरीतार्थक धार्मिक विशेषता मिली जैसे हिन्दू-मुसलमान। यद्यपि यह अभिगम अस्वीकृत कर दिया गया है किन्तु फिर भी चला जा रहा है।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सुदृढ़ होने तथा आक्रामक धर्म प्रचार पर बल देने वाला ईसाई धर्म के आगमन से अनेकश: विकास हुए। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही अपने अतीत के दायरे में सिमटते गए तथा समानान्तर रूप से विकसित हुए। राजा राममोहन राय, सर सैयद अहमद खाँ तथा बाद में रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं इकबाल की रचनाओं में इसका उल्लेख मिलता है।

लगभग एक हजार वर्ष तक विस्तृत मध्यकाल में चार प्रक्रियाओं का जन्म हुआ जिसमें धार्मिक पुट पाया जाता है। किन्तु मूलत: हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच पर संस्कृति ग्रहण की प्रक्रिया काफी महत्वपूर्ण है। भारतीय मुसलमानों में अरबी इस्लाम की परम्पराओं को अंगीकार करना स्पष्टत: दृष्टिगत प्रक्रिया है जोकि भारतीय मुसलमानों को इस्लाम की अरबी परम्परा से जोड़ता है। लगभग समस्त संगठित पैगम्बरी धर्मों में संस्कृति ग्रहण की प्रक्रिया पायी जाती है, जहाँ किसी पुराण पुरुष में अलौकिक धार्मिक अनुभूति अस्तित्व में रही है।

**हिन्दुत्व एवं धर्म की अवधारणा**

यदि हिन्दुत्व किसी परिभाषा में नहीं बंधता तो यह धर्म की मूल प्रस्थापनाओं जैसा कि यह समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में प्रचलित है को भी चुनौती देता है। तथापि, यह कहना कि हिन्दुत्व एक धर्म नहीं है, यह प्रदर्शित नहीं करता कि एक जीवन शैली के रूप में यह धार्मिक अनुभूतियों से एक दम पृथक है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से धार्मिक अनुभूति सामाजिक प्रघटना जिसे धर्म कहते हैं, के साथ सहज रूप से जुड़ी है। किन्तु केवल इसी आधार पर धर्म को परिभाषित नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह विषयनिष्ठ है, सामान्यत: अनुभूति कुछ बाह्य, भौतिक तथा अभौतिक वस्तु से जुड़ी होती है। यह आन्तरिक भी हो सकती हैं। धार्मिक अनुभव गैर-अनुभावात्मक तथा अभौतिक चीजों से जुड़े होते हैं, जो इस स्थूल जगत् से बाहर स्थित होता है। यही कुछ वस्तु समाजशास्त्री तथा मानवशास्त्री का अलौकिक होता है। यह गैर मानवीय, अतिमानवीय तथा सर्वव्यापी कालातीत शक्ति होती है। जन एवम् मानव आवश्यकताओं से जुड़े अन्य संस्थात्मक व्यवहारों की तरह यह मानव के अस्तित्व परक कलेवर का आन्तरिक भाग होता है। अपनी प्रकृति से मनुष्य वर्तमान तथा आगे की दुनिया को जोड़े रहता है। अतिमानव दूसरी दुनिया में स्थित होता है।

धर्म की उत्पत्ति तब होती है जब यह अनुभव मनुष्य के संस्थात्मक व्यवहार अविश्वासों तथा व्यवहारों में प्रवेश कर जाता है। घटनाओं का यह संकुल अतिमानव की अवधारणा के साथ जुड़े होने की सशक्त पहचान से युक्त मनुष्य के अन्तर वैयक्तिक अर्न्तसामूहिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है तथा स्वरूप प्रदान करता है।

**एकेश्वरवाद तथा धर्म**

यहाँ धर्म की एकेश्वरवाद तथा अखण्डित अवधारणा सभ्यताओं की श्रेष्ठता बोधक संसार में स्थित है तथा बहुदेवाद एवं अनेक देवताओं, प्रेतों, आत्माओं भौतिक वस्तुओं प्रकृति की प्रघटना, जिसमें प्रत्येक प्रघटना भगवान या भगवानों और पूर्वजों की पूजा से शासित है के साथ-साथ होता है। यहाँ ईश्वर तथा आत्माएँ वैयक्तिक तथा मानवीकृत थीं, जैसे विपत्ति में या भावनात्मक सुरक्षा एवं धैर्य की चाह रखने वाले व्यक्ति के आमने-सामने बात कर रहे हैं।

धर्म की एकेश्वरवादी अवधारणा में अवधारणात्मक स्तर पर अलौकिक शक्ति पुरुष है। इसके आगे अलौकिक शक्ति ने अपनी अभिव्यक्ति पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग तथा असंख्य अन्य रूपों में की है। बर्वर तथा सभ्य, सुसंस्कृत तथा असंस्कृत के मध्य इस अन्तर्सम्बन्ध ने यूरोपीय विचारों को पद्धतिशास्त्र के रूप में उद्विकासवाद की ओर मोड़ दिया है। इसे स्पष्ट रूप से उत्तरोत्तर बढ़ते उद्विकास, प्रसार, आधुनिकीकरण तथा विकास के रूप में देखा जा सकता है—जो एक के बाद एक शीघ्र घटित हुए।

इसने धर्म की उत्पत्ति तथा इसके विभिन्न विकल्पों की खोज की ओर अग्रसर किया। ये विकल्प हैं आत्मा, पूर्वज/प्रेत पूजा (जो प्रेतात्मा की ईश्वरीयता की यूरोपीय संकल्पना का स्थानान्तरित रूप लगता है) जीववाद, आदि मानव के बाल सुलभ मनोविज्ञान, भय तथा भावनात्मक सुरक्षा तथा अध्यात्मिक शक्ति की अवधारणायें हैं।

इसके परिणामस्वरूप समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र व बौद्धिक धरातल पर जीवसत्तावादी (बहुदेववादी) तथा एकेश्वरवादी धर्मों के द्वैत का उदय हुआ जिसमें से पहले को अद्भुत और सभ्यतावादी (ढाँचे से परे देखा गया)। प्रकार्यवाद क्षमापन पद्धतिशास्त्र के बावजूद जिसमें सहानुभूति तो है किन्तु तद्नुभूति नहीं, इसमें निरन्तर बने रहने की प्रवृत्ति है, कहीं-कहीं स्पष्टरूप से तो वही कहीं-कहीं अस्पष्ट रूप से और सक्षम रूप में।

यह आध्यात्मिक आनंद की अवस्था है जहाँ कबीर महसूस करते हैं कि एक व्यक्ति कंचन बन जाता है। जैसा कि तुलसी दास कहते हैं "सोई जनही जेहि देहू जनैयी/जनती तुमही तुमही होई जायी—सिर्फ वही जो तुम्हें पहचान सकता है उसे ही तुम प्रकट होते हो। तुमको जानकर वह तुम बन जाता है।" और यह क्या है? वह एक है और वह विद्यमान है और उस अस्तित्व में, अंतत: न तो वह विद्यमान है न यह शून्यता की अवस्था है जहाँ पूजा भक्त को ले जाती है। क्योंकि उसके प्रकाश की ज्वाला में भक्त और जो शून्य के आनंद के लिए मिल जाते हैं। क्या इस तरह का अनुभव धार्मिक है? कैसे और किस तरह से यह अनेक मार्गों के लिए एक सर्वोत्तम मार्ग है। एक सच्चा अनुभव लोक में उत्पन्न होता है किन्तु अंतत: यह अलौकिक बन जाता है। धर्म एक व्यक्ति को अनुभव के उस स्तर तक ऊपर नहीं उठा सकता है जहाँ उसे सिद्धि प्राप्त हो, यह अनिवार्य रूप से व्यक्तिगत है।

**पुरुषार्थ : हिन्दुत्व के चार साध्य**

हिन्दुत्व एक वैचारिकी है। यह वैचारिकी मानव अस्तित्व के अनुभवजन्य यथार्थ पर आधारित है। इन यथार्थों में मनुष्य के उद्देश्य, आवश्यकताएँ तथा अनन्य कल्याणकारी बातें निहित हैं। इसलिए ये आदर्श होते हुए दार्शनिक भी हैं। इन्हें वैचारिकीय-दार्शनिक भी कहा जा सकता है। ये मनुष्य के अस्तित्व के अनुभवात्मक तथा दार्शनिक पक्षों को आच्छादित किए हुए हैं।

**( क ) धर्म**—अतएव धर्म मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च अत्यधिक प्रतिष्ठापूर्ण तथा अत्यन्त वांछित साध्य है। हालांकि यह सिर्फ एक नहीं है इसके अतिरिक्त तीन अन्य साध्य हैं; अर्थ, काम एवं मोक्ष। समाज में व्यक्ति के जैविक तथा सामाजिक उद्‌विकास को दृष्टिगत करते हुए उन्हें क्रम से रखा गया है। इस क्रम में धर्म प्रथम है। इसके बाद अर्थ, काम एवं मोक्ष आते हैं। इस क्रमिक व्यवस्था के बावजूद धर्म की सर्वांगिक व्यवस्था के होते हुए इनमें से प्रत्येक समान रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमें से किसी के अभाव में समाज में मानव जीवन अपूर्ण रहेगा तथा जीवन की आनन्दपूर्ण उपलब्धि होने में बाधा होगी।

अवधारणा की दृष्टि से भारतीय चिन्तन तथा साहित्य में धर्म का लम्बा इतिहास है। इसका प्रयोग विविध सन्दर्भों तथा भाषायी प्रयोगों में हुआ है। इसे ब्रह्माण्डीय व्यवस्था कहा गया है। काल-क्रम में इसने वैदिक अवधारणा श्रृत का स्थान ग्रहण किया। ऋण ब्रह्मण में व्यवस्था का समय है। मानव के सामाजिक अस्तित्व को नैतिक व्यवस्था के रूप में एक रहस्यमय शक्ति ब्रह्माण्ड को बाँधे हुए है।

वैदिक प्रयोग में धर्म का अर्थ है प्रथा, नैतिक नियमों, सामान्य नियम, कर्त्तव्य और सामान्य रूप से ठीक क्या है, धर्म के दो अभिप्रेताकार्य हैं। एक में यह प्रघटना की प्राकृतिक व्यवस्था का नियम है। दूसरे में इसका अर्थ वह दायित्व है जो मनुष्य अपने ऊपर दूसरों के प्रति जिसमें मनुष्य, पशु और ब्रह्माण्ड शामिल है लिए हुए है, धार्मिक प्रवयनों में प्रस्तुत दंत कथा से इसका चित्रण होता है।

अर्थ का आमतौर पर प्रयोग धन (संपत्ति) के अर्थ में होता है। इसका प्रयोग रुपयें के अर्थ में भी होता है। किन्तु धर्म के रूप में अर्थ अधिक समावेशकारी है। इसमें समृद्धि, सम्पत्ति, सांसारिक सम्पत्ति, लाभदायक स्थिति, लाभ शामिल है। व्यापक रूप से इसका प्रयोग समृद्धि के अर्थ में होता है। विशिष्ट भाव में अर्थ को ऐसे स्पर्शनीय पदार्थों के रूप में समझा जा सकता है, जिन्हें धारण किया जा सकता है, उनका आनंद उठाया जा सकता है और उसे खोया जा सकता है। मनुष्य को इसकी आवश्यकता परिवार के पालन पोषण तथा जीवन की जरूरतों को पूरी करने के लिए होता है।

हिन्दुत्व में निर्धनता गुण नहीं है। निर्धनता और भूख किसी भी आदमी को पाप करने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य के गुण सम्पत्ति होने पर ही प्रकट होते हैं। सम्पत्ति के बिना अच्छे कुल का होने से भी उच्च प्रस्थिति नहीं मिलती है। धर्म के अनुपालन के लिए धन की जरूरत होती है। अकेले धर्म प्रसन्नता का स्त्रोत नहीं हो सकता है। कौटिल्य मनुष्य के जीवन में धन के महत्व पर बल देता है तथा व्यापक परित्याग का विरोध करता है क्योंकि इसका उत्पादन पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

सामान्यरूप से काम का अर्थ यौनेच्छा और इसकी संतुष्टि से लिया जाता है। इसलिए, इसे सबसे निचले पुरुषार्थ के रूप में देखा जाता है हालांकि मनुष्य के जीवन में लक्ष्यों के कल्पनात्मक क्रम से इसे तीसरा स्थान प्राप्त है। यह मोक्ष जो जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है के पहले आता है। यह इस बात का द्योतक है कि धर्म विनियमित अर्थ और काम की उपलब्धि के बिना सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं है।

मात्र यौनेच्छा और इसकी संतुष्टि की दृष्टि से काम कामवासन्य और इन्द्रियाग्राह्य आनंद है। यह मनुष्य के आध्यात्मिक प्रगति में बाधक है। इसलिए यह मनुष्य का शत्रु है। दूसरे शत्रु हैं क्रोध, लालच, लालसा, दम्भ और ईर्ष्या। किन्तु दूसरी ओर काम सामाजिक रूप से विनियमित विवाह का आधार है। इस पर प्रजातियों का प्रसार निर्भर करता है। विवाह ग्रहस्थाश्रम का द्वार है जिसे मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। यह अत्यधिक प्रशंसनीय अवस्था है।

मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से प्रभु काम की परिभाषा कुछ और व्यापक रूप से करते हैं। वह जीवन में सभी इन्द्रिय सुखों और संतुष्टि के लिए मनुष्य की इच्छाओं को इसमें शामिल करता है। इसलिए काम का अर्थ है

मनुष्य की सहज आवेग वृत्ति और इच्छाएँ तथा उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ। कुल मिलाकर काम का अर्थ है मनुष्य की सहज इच्छाएँ और वासनाएँ।

बी०जी० गोखले का विचार है कि अर्थ काम की इच्छा और आवश्यकताओं को पूरा करने का अच्छा स्रोत है। क्योंकि अच्छा खाना और पीना, खुशनुमा और मोहक साथ, अच्छे कपड़े, इत्र, आभूषण तथा माला काम के विशिष्ट स्रोत हैं। तथापि, ग्रहस्थाश्रम में पत्नी के रूप में महिला का महत्व देखते हुए और व्यापक परिप्रेक्ष्य में काम की अभिव्यक्ति में पुरुष महिला का स्थान और उस दृष्टि जिसमें काम मनुष्य का शत्रु है, यह निश्चित है कि मनुष्य का भला धर्म, अर्थ और काम के सामंजस्य पर निर्भर करता है। मानसिक और शारीरिक प्रसन्नता काम का तात्कालिक उद्देश्य है। अर्थ और काम की प्राप्ति में अनासक्ति के भोग की वकालत मध्यम मार्ग के रूप में की गई है इसे निवृत्यात्मक प्रवृत्ति कहा गया है।

मोक्ष सर्वोच्च और सबसे अपेक्षित पुरुषार्थ माना गया है। धर्म की भाँति यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अत्यधिक चर्चित है। इसका शाब्दिक अर्थ मुक्ति है, जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है, इसका अर्थ इस संसार से मुक्ति है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यह जगत मिथ्या है, यह तत्व रहित है एवं परमात्मा यथार्थ है। मनुष्य की आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण अनंत रूप से परमात्मा में मिल जाती है।

इस दृष्टिकोण से पुनर्जन्म और कर्म को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आत्मा का जन्म जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता है बार-बार होता है और पूर्व जन्म के कर्म के अनुसार यह चौरासी लाख योनियों में से किसी में भी पुनर्जन्म ले सकता है। इस जन्म और साथ ही पूर्वजन्म के कर्मो के आधार पर इसका योनियों के पदसोपान में उद्विकास निर्भर करता है। मनुष्य योनी में विकास आत्मा का सर्वोच्च उद्विकास है और मोक्ष प्राप्त करने का एक अवसर है। इसका चयन मनुष्य को करना है। उसकी सफलता या विफलता उसके कर्म पर निर्भर करती है।

**( ख ) आश्रम संस्कार**—आश्रम तथा संस्कार की वैचारिकी जीवन के साध्य चतुष्टय से जुड़ी होती है। चार पुरुषार्थो की भाँति चार आश्रम भी हैं—जीवन के चार चरण मनुष्य के जीवन को 100 वर्ष मानकर उसे चार चरणों में विभक्त किया गया है—प्रत्येक आश्रम पच्चीस-पच्चीस वर्षो को माना गया है। ये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास।

चारों पुरुषार्थ इन चार अवस्थाओं-आश्रमों से जुड़े हैं। ब्रह्मचर्य, आश्रम छात्र जीवन से सम्बन्धित है जिसमें, धर्म सम्बन्धी ज्ञानार्जन किया जाता है। गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध अर्थ तथा काम से है। वानप्रस्थ अवकाश ग्रहण की तैयारी है—परिवार की बागडोर नयी पीढ़ी को सौंपने की तैयारी। सन्यास का सम्बन्ध पूर्ण वैराग्य, त्याग से है। यह परिवार, ग्राम, जाति तथा जीवन साथी से अलग होने की अवस्था है।

किन्तु हिन्दुत्व के वैराग्य सम्बन्धी विचारों की चुनौती भी दी गयी है। पूर्ण वैराग्य के प्रति सन्देह व्यक्त किया गया है। गीता की दृष्टि से देही (देहधारी) 'अकर्म' (कर्म से रहित) नहीं हो सकता। आहार, निद्रा तथा आश्रय जैसी शरीर के आवश्यकताएँ 'अकर्म' को स्वीकार नहीं कर सकती हैं। कोई सन्यासी सदा मठ, गुरुद्वारों तथा आश्रमों से अलग नहीं रह सकता। वे बहुधा गाँव की सीमा पर चले जाते हैं तथा वहाँ रहते हैं-अब वे अधिकतर नगर में रहते हैं।

संस्कृत किए जाने की पद्धति संस्कार है जिसकी संख्या सोलह है। प्रभु तथा अन्य ने इन आश्रमों तथा संस्कारों के सम्बन्धों की विशद् व्याख्या की है। ये सभी आश्रम मनुष्य जीवन तथा उसके उद्विकास के अंग हैं। आश्रमों का प्रसार इस बात का सूचक है कि वाण प्रस्थ और संन्यास का महत्व नहीं घटा है। अपितु उन्होने नया स्वरूप ले लिया है।

यहाँ पुरुषार्थ तथा आश्रम के कतिपय पहलू उल्लेखनीय हैं। उनके संबंधों के दृष्टिगत जीवन आश्रमों के बिना और समाज से दूर अस्तित्व में नहीं रह सकता। सन्यास आश्रम मोक्ष के पुरुषार्थ से जुड़ा है। सामान्यत: पूरा जीवन ही मोक्ष के लिए तैयारी माना गया है। मनुष्य सन्यास आश्रम में मुमुक्षु हो जाता है, अर्थात् वह जो मोक्ष की ओर उन्मुख है। निर्मल कुमार बोस ने सन्यास को जाति-समाज के लिए सुरक्षा वाल्व कहा है। सन्यास आश्रम में प्रवेश करना व्यक्ति की जाति से ऊपर है, वह व्यावसायिक एवं आर्थिक बन्धन, इसकी विशेषता, विभिन्नता, निर्योग्यताएँ तथा सोपानक्रम सबसे ऊपर उठ जाता है तथा वह अपना सामाजिक नाम छोड़कर परिव्राजक बन जाता है।

**( ग ) राजधर्म**—धर्म हिन्दुत्व में सर्वसमावेशक माना गया है, अत: राजधर्म की अवधारणा भी विकसित हुई अर्थात् धर्म का राज। राज शब्द का अर्थ राजा नहीं बल्कि शासन है। राजधर्म राजा तथा प्रजा, शासक तथा शासित को एक धर्म में, कर्तव्य भाव में बाँधे रहता है जिसे राजधर्म कहा गया है। इसी प्रकार, राजदेवता की अवधारणा विकसित हुई। यह मध्यकाल तथा ब्रिटिशकाल में भी विद्यमान थी जैसा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए कम्पनी बहादुर की उपाधि से पता चलता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित गान के भारत के राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रिटिश राजा जार्ज पंचम को संबोधित 'जनगण मन अधिनायक' में राजनेताओं की विजय की कामना की गयी है। इतिहासकारों ने राजधर्म की व्याख्या शासक, राज्य तथा समाज जैसे घटकों में की है।

**( घ ) उत्तम पुरुष**—हिन्दुत्व में उत्तम पुरुष की अवधारणा एक वैचारिकी के रूप में अति प्राचीन काल से ही पायी जाती है, उसका तात्पर्य है आदर्श पुरुष। प्रो० राधा कमल मुखर्जी ने इसे आदर्श पुरुष कहा है। इसे पूर्ण पुरुष कहना हिन्दू भावना के विपरीत है क्योंकि केवल ईश्वर ही पूर्ण है। उत्तम पुरुष युग द्रष्टा होता है। उपनिषद् का ज्ञानी, योग मार्ग का योगी तथा गीता का स्थित प्रज्ञ कर्मयोगी बौद्धमत का बुद्ध तथा जैन मत का केवलिन प्राचीन भारत के उदाहरण है।

मध्यकाल का उत्तम पुरुष भक्त है। आर्य समाज ने आधुनिक काल में आर्य व्यक्तित्व को बढ़ाया। आर्य सांस्कृतिक परम्परा का समर्थन है और भारतीयों को भेदभाव मिटा कर आर्य बनने के लिए आमंत्रित करता है। गाँधी का 'सत्याग्रही' तथा विनोबा का सर्वोदयी इसका आधुनिक स्वरूप है जो पश्चिमीकरण, वाणिज्यीकरण तथा औद्योगीकरणवाद के विपरीत गाँव आधारित परम्परागत सामाजिक संरचना का विकास करना चाहती है। स्वागदयी से तात्पर्य अपरिग्रह से है।

### हिन्दुत्व के धर्म-आचार संकुल

हिन्दुत्व में जन्म से मृत्यु तक की यात्रा को लोक यात्रा कहा गया है, इसका परिहार संभव नहीं। इसके बिना जीवन की उपलब्धि तथा लोक संग्रह दोनों ही संभव नहीं हैं। यह कर्म आधारित होता है।

कर्म तथा लोक यात्रा गुण श्रम का परिणाम होता है। कर्म तथा धर्म का सम्बन्ध उन्हें आचार से जोड़ता है। आचार का अनुपालन धर्म का प्राथमिक चरण है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि धर्म एक आयामी है। धर्म तथा आचार (धर्माचार) का संबंध व्यक्ति को शास्त्र और लोक/देश से जोड़ता है। यह कुल, वर्ण जाति, गाँव तथा देश में अभिव्यक्त होता है जिसे समाजशास्त्री मानव के सामाजिक अस्तित्व का संरचनात्मक आधार मानते हैं।

आचारवान तथा आचारभ्रष्ट दो विपरीत अवधारणाएँ हैं। इनमें दूसरा विपथित तथा व्यक्तिश: रूप से असंगठित होता है। वह जीवन का अर्थ तथा महत्व खो देता है। किसी भी अन्य पद्धति की भाँति हिन्दुत्व भी विचलन को स्वीकृति प्रदान नहीं करता अपितु यह वैचारिक दृष्टि से अत्याचारी और घातक विपथन जो मनुष्य के सम्यक अस्तित्व के लिए ही खतरा बन जाता है कि विरुद्ध विरोध की अनुमति देता है। महाकाव्यों में कथाएँ इस दृष्टि का समर्थन करती हैं।

आचार आचरण है, व्यवहार है कार्य की शैली है तथा प्रचलन है। इसे प्रथा सम्बन्धी विधि भी कहा जा सकता है। आचार उत्तम व्यवहार है, विहित आचरण। यह लोक व्यापार भी है, करणीय कर्म है। शास्त्र, लोक तथा काल द्वारा निहित व्यवहार का मानक है।

करणीय कर्म में व्यक्ति का स्वार्थ तथा परमार्थ जुड़ा होता है। धर्म के साथ मिलकर आचार जीवन के समस्त क्षेत्रों को आच्छादित किए रहता है। सन्यासी भी सन्यास धर्म के आचार से ऊपर नहीं होता। चूँकि मनुष्य अपने अस्तित्व के अनेक स्तरों और आयामों पर विद्यमान रहता है तथा कार्य करता है, आचार परिस्थिति के स्तर के विशिष्ट होता है। प्रत्येक आश्रम और पुरुषार्थ निश्चित आचारों से जुड़े होते हैं।

**कुलाचार**—यह कुल का आचार होता है। इसमें विवाह, परिवार तथा कुल समाहित है तथा यह नातेदारी और जाति तक विस्तृत है। उदाहरणार्थ माँ के भाई की पुत्री से विवाह उत्तर भारत में निषिद्ध है जबकि दक्षिण तथा फतेह पर्वत (उत्तराखण्ड) में यह आचार का उल्लंघन नहीं है। इसी प्रयोग से किसी स्त्री तथा उसके भाई की पुत्री का एक ही पुरुष से विवाह फतेहपर्वत में स्थानीय कुलाचार का उल्लंघन नहीं है।

कुल तथा गोत्र के बाद वर्ण तथा जाति का स्थान है। इनकी व्याख्या गुण तथा कर्म के आधार पर की जाती है। तथापि हर वर्ण की अपनी आन्तरिक व्यवस्था है जो समाज में विहित कर्म पर आधारित है। विहित कर्म का पालन प्रत्येक वर्ण का आचार होता है। वर्ण का आचार अधिकार, विशेषाधिकार तथा निर्योग्यता से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा होता है।

वर्ण आश्रम तथा पुरुषार्थ का सम्बन्ध प्रत्येक पुरुषार्थ तथा इससे संबंधित आश्रम के रूप में स्थूल आकार ग्रहण करता है। कर्त्तव्या कर्त्तव्य के रूप में आचार का संकुल छात्रों, गृहस्थों तथा सन्यासियों के लिए विहित होता है। विशेषत: गृहस्थ को कुल, गोत्र, वर्ण, जाति तथा लोक-शास्त्र का ध्यान रखना होता है।

जाति अभी हाल तक और व्यापक रूप से ग्रामीण जनजीवन में व्यक्ति के जीवन को परिसीमित करता है। सांस्कृतिक रूप से जाति आचारों का संकुल है। यह अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, खानपान के नियम, पवित्रता-अपवित्रता सामाजिक रूप से गृहीत व्यवसाय तथा समाज सम्मत व्यवहार से जुड़ी होती हैं। धर्म का पालन प्रयत्नपूर्वक किया जाता है।

### मानवीय विकास में हिन्दू धर्म का योगदान
### (Contribution of Hinduism in human development)

समाज में धर्म का अर्थ रिलीजन (Religion) से भिन्न है। डॉ० राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ''यह 'धृ' धातु से निर्मित हुआ है। जिसका अर्थ बनाये रखना, धारण करना और पुष्ट करना है।'' वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है।

वैशेषिक सूत्रों के अनुसार ''जिससे आनन्द (अभ्युदय) और परमानन्द (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो वह धर्म है।'' वस्तुतः धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का सम्पूर्ण कर्त्तव्य है।

मानव जीवन और मानवीय मूल्यों का क्रमिक जन्म—

श्रीमद् भागवत् 7/11/8-12 ने धर्म का दिग्दर्शन इस प्रकार किया गया है—

धर्म के तीस लक्षण शास्त्रों में कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच (पवित्रता), तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम (निरोध), इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, महात्माओं की सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगों से उपरति, मानव के अभिमानपूर्ण प्रयत्नों का फल उल्टा ही होता है—''ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों को अन्नादि का यथोचित विभाजन, सभी प्राणियों तथा विशेषतः मनुष्यों में अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव, भगवान श्रीकृष्ण के नाम,

गुण, लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य सख्य और आत्मसमर्पण—ये तीस प्रकार के आचरण सभी मनुष्यों के परम धर्म हैं। इसके पालन से सर्वात्मा प्रभु प्रसन्न होते हैं।''

हिन्दू धर्म केवल अलौकिक शक्ति में विश्वास ही नहीं करता, बल्कि उसका वास्तविक धर्म है व्यावहारिक जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करना। इसका सम्बन्ध ज्ञान मार्ग से है। इस ज्ञान का मूल्य स्रोत वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतियाँ और स्वयं मनुष्य का अनुभव रहा है।

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार, ''हिन्दुओं के लिए धर्म अनुभव या एक मनोवृत्ति है यह एक विचार नहीं वरन् एक शक्ति है। एक बौद्धिक धारणा न होकर जीवन का विकास है। धर्म अन्तिम वास्तविकता की चेतनता है न कि ईश्वर का सिद्धान्त मात्र है।''

**हिन्दू धर्म की विशेषतायें**

(1) वेद द्वारा निर्देशित कार्य धर्म है और उसके विपरीत अधर्म।

(2) धर्म सभी धर्मों का आदर करता है।

(3) धर्म अलौकिक शक्ति में आस्था एवं विश्वास रखता है।

(4) धर्म व्यक्ति के आचरण को शुद्ध करता है।

(5) धर्म परोपकारी एवं कल्याणकारी होता है।

(6) धार्मिक स्थान पवित्र माने जाते हैं।

(7) धर्म विविध अनुष्ठानों द्वारा व्यक्त होता है।

(8) अपना धर्म ही श्रेष्ठ है, उसे ही मानना चाहिए।

(9) धर्म का फल स्वर्ग में प्राप्त होता है।

(10) धर्म का मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है।

**मनुस्मृति के अनुसार हिन्दू धर्म के दस लक्षण**

**(1) धृति–**सुख-दुःख में चित्त को स्थिर रखना।

**(2) क्षमा–**शक्तिवान् होने पर भी अपराधी का अपकार न करना।

**(3) दम–**विषयों के संसर्ग में भी मन को विकृत न होने देना।

**(4) अस्तेय–**धोखा देकर किसी वस्तु को प्राप्त न करना।

**(5) शौच ( पवित्रता )–**मन, जीवात्मा तथा बुद्धि को पवित्र रखना।

**(6) इन्द्रिय-निग्रह–**इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना।

**(7) धी ( बुद्धि )–**बुद्धि का उचित विकास।

**(8) विद्या–**ज्ञान की प्राप्ति तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ पर विजय।

**(9) सत्य–**यथार्थ कथन एवं व्यवहार ही वास्तविक धर्म है।

**(10) अक्रोध–**क्रोध के दमन की सामर्थ्य होना।

उपरोक्त सभी लक्षण व्यक्ति को एक निश्चित तरीके से कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। यह प्रेरणा है मन और मस्तिष्क से पवित्र होकर ज्ञान की प्राप्ति करना, क्योंकि बगैर उचित ज्ञान के कोई व्यक्ति न तो जितेन्द्रिय हो सकता है और न अपने कर्त्तव्यों का पालन ही संयत होकर कर सकता है। इसलिये विद्या का हिन्दू धर्म में विशेष स्थान है।

विद्या का तात्पर्य है शिक्षा के ग्रहण करने से अर्थात सम्पूर्ण समाज को शिक्षित होना अनिवार्य माना गया है। यही कारण है कि वर्तमान समस्तशास्त्री एवं राजनीति में निपुण नेता इस बात पर जोर दे रहे हैं कि शिक्षा को

## ● मंदिर (Temple)

हम ठीक से नहीं जानते कि भारत में पूजा स्थल के रूप में मंदिर का निर्माण कब शुरू हुआ और उस समय मंदिर का उपयोग क्या था। मंदिर देवी-देवताओं की पूजा करने और ऐसी धार्मिक क्रियाएँ संपन्न करने के लिए भी बनाए गए होंगे, जो पूजा कार्य से जुड़ी होती हैं। फिर आगे चलकर मंदिर महत्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं के रूप में बढ़ने लगे, जैसा कि अनेक शिलालेखों के साक्ष्यों से पता चलता है। इन शिलालेखों पर राजाओं द्वारा दिए गए बड़े-बड़े धर्मदायों का उल्लेख मिलता है। ऐसे मन्दिरों में कालांतर में आवश्यकताओं के अनुसार अनेक मंडप जैसे कि अर्द्धमंडप, महामंडप, नाट्य या रंग मंडप आदि जोड़ दिए गए। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी तक आते-आते भू-प्रशासन में मंदिर की भूमिका काफी अहम हो गई थी।

### प्राचीन मंदिर

जहाँ एक ओर स्तूप और उनका निर्माण कार्य जारी रहा, वहीं दूसरी ओर सनातन/हिन्दू धर्म के मंदिर और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी बनने लगीं। अक्सर मंदिरों को संबंधित देवी-देवताओं की मूर्तियों से सजाया जाता था। पुराणों में उल्लिखित कथाएँ सनातन धर्म की आख्यान-प्रस्तुतियों का हिस्सा बन गईं। हर मंदिर में एक प्रधान या अधिष्ठाता देवता की प्रतिमा होती थी। मंदिरों के पूजा गृह तीन प्रकार के होते हैं—(i) संधर किस्म (जिसमें प्रदक्षिणा पथ होता है); (ii) निरंधर किस्म (जिसमें प्रदक्षिणा पथ नहीं होता है); और (iii) सर्वतोभद्र (जिसमें सब तरफ से प्रवेश किया जा सकता है)। कुछ महत्वपूर्ण मंदिर उत्तर प्रदेश में देवगढ़ तथा मध्य प्रदेश में एरण व नचना-कुठार और विदिशा के पास उदयगिरी में पाए जाते हैं। ये मंदिर साधारण श्रेणी के हैं जिनमें बरामदा, बड़ा कक्ष/मंडल और पीछे पूजा गृह है।

### हिन्दू मंदिर का मूल रूप

हिन्दू मंदिर निम्न भागों से निर्मित होता है—

(1) गर्भगृह, जो प्रारंभिक मंदिरों में एक छोटा-सा प्रकोष्ठ होता था। उसमें प्रवेश के लिए एक छोटा-सा द्वारा होता था लेकिन समय के साथ-साथ इस प्रकोष्ठ का आकार बढ़ता गया। गर्भगृह में मंदिर के मुख्य अधिष्ठाता देवता की मूर्ति को स्थापित किया जाता है और यही अधिकांश पूजा-पाठ या धार्मिक क्रियाओं का केन्द्र बिन्दु होता है;

(2) मंडप, अर्थात् मंदिर का प्रवेश कक्ष, जोकि काफी बड़ा होता है। इसमें काफी बड़ी संख्या में भक्तगण इकट्ठा हो सकते हैं। इस मंडप की छत आमतौर पर खंभों पर टिकी होती है;

(3) पूर्वोत्तर काल में इन पर शिखर बनाए जाने लगे जिसे उत्तर भारत में शिखर और दक्षिण भारत में विमान कहा जाने लगा;

(4) वाहन, अर्थात् मंदिर के अधिष्ठाता देवता की सवारी। वाहन को एक स्तंभ या ध्वज के साथ गर्भगृह के साथ कुछ दूरी पर रखा जाने लगा।

भारत में मंदिरों की दो श्रेणियों को जाना जाता है—उत्तर भारत की 'नागर' शैली और दक्षिण भारत की 'द्रविड़' शैली। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'वेसर' शैली भी एक स्वतंत्र शैली है जिसमें नागर और द्रविड़ दोनों शैलियों की कुछ चुनी हुई विशेषताओं का मिश्रण पाया जाता है। इन परंपरागत प्रमुख श्रेणियों के अंतर्गत और भी कई उप-शैलियाँ आती हैं। हम आगे इस अध्याय में इन उपशैलियों पर चर्चा करेंगे। आगे चलकर मंदिरों के भवनों के निर्माण में ज्यों-ज्यों जटिलता बढ़ती गई, उनमें तरह-तरह की प्रतिमाओं की स्थापना के लिए आले-दिवाले जोड़े जाते रहे, मगर मंदिर की आधारभूत योजना (नक्शा) पहले जैसी ही बनी रहीं।

### मूर्तिकला, मूर्तिविद्या और अलंकरण

देवी-देवताओं की मूर्तियों का अध्ययन, कला इतिहास की एक अलग शाखा के अंतर्गत आता है जिसे मूर्तिविद्या (iconography) कहा जाता है। मूर्तिविद्या (जिसे प्रतिमाविद्या भी कहा जाता है) के अंतर्गत कतिपय प्रतीकों तथा पुराण कथाओं के आधार पर मूर्ति की पहचान की जाती है। अक्सर कई बार ऐसा भी होता है कि देवता की आधारभूत कथा और अर्थ तो सदियों तक एक जैसा ही बना रहता है किन्तु स्थान और समय के सामाजिक, राजनीतिक या भौगोलिक संदर्भ में उसका उपयोग कुछ बदल जाता है।

प्रत्येक क्षेत्र और काल में प्रतिमाओं की शैली सदा एक जैसी नहीं रही, प्रतिमाविद्या में अनेक स्थानीय परिवर्तन आते रहे। मूर्तिकला तथा अलंकरण शैली में भी व्यापकता आती गई और देवी-देवताओं के रूप में उनकी कथाओं के अनुसार बनते-बदलते गए। मंदिर में मूर्ति की स्थापना की योजना बड़ी सूझ-बूझ के साथ बनाई जाती रही। उदाहरण के लिए, नागर शैली के मंदिरों में, गंगा और यमुना जैसी नदी देवियों को गर्भगृह के प्रवेश द्वार के पास रखा जाता है जबकि द्रविड़ मंदिरों के द्वारपालों को आमतौर पर मंदिर के मुख्य द्वार यानी गोपुरम् पर रखा जाता है। इसी प्रकार मिथुनों नवग्रहों (नौ मांगलिक ग्रहों) और यक्षों को द्वार रक्षा के लिए प्रवेश द्वार पर रखा जाता है। मुख्य देवता यानी मंदिर के अधिष्ठाता देवता के विभिन्न रूपों या पक्षों को गर्भगृह की बाहरी दीवारों पर दर्शाया जाता है। आठ दिशाओं के स्वामी यानी अष्टदिग्पालों को गर्भगृह की बाहरी दीवारों और मंदिर की बाहरी दीवारों पर अपनी-अपनी दिशा की ओर अभिमुख दिखाया जाता है। मुख्य देवालयों की चारों दिशाओं में छोटे देवालय होते हैं, जिनमें मुख्य देवता के परिवार या अवतारों की मूर्तियों को स्थापित किया जाता है। देवी-देवताओं के भिन्न-भिन्न रूपों की मूर्तियों को देखने से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न पंथों या संप्रदायों के बीच दार्शनिक वाद-विवाद और प्रतियोगिताएँ चलती थीं जिनके कारण उनके रूपों के प्रस्तुतीकरण में भी विविधता आ गई। अंतत: अलंकरण के विविध रूपों, जैसे गवाक्ष, व्याल/याली, कल्प-लता, आमलक, कलश आदि का भी प्रयोग मंदिर में विविध स्थानों तथा तरीकों से किया गया।

## ● इस्लाम धर्म (Islam)

इस्लाम शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से उन लोगों के लिए किया जाता है जिन्हें यह विश्वास है कि कुरान अल्लाह (ईश्वर) के शब्द हैं जो मानव मात्र तक उसके दूत पैगम्बर मोहम्मद साहब के माध्यम से ईश्वरीय ज्ञान के रूप में आया है। पहले इस शब्द का प्रयोग अल्प रूप से आत्मसमर्पण के लिए देखने को मिलता है जो आमतौर पर आस्था इमाम के साथ बंधा हुआ है। इस मत में आस्था रखने वाले को मुस्लिम कहा जाता है। तथापि, 'इस्लामिक' शब्द से इस धर्म की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं तथा मुस्लिम धर्मदर्शन तथा इस्लामिक कानून का पता चलता है।

इस्लाम एक ऐतिहासिक प्रघटना के रूप में अरब में सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में अभिव्यक्त हुआ। इस्लाम की उत्पत्ति के संबंध में, धार्मिक पृष्ठभूमि में दो केन्द्रीय तत्वों जो विशुद्ध रूप से अरब पृष्ठभमि और ईसाईयत तथा यहूदीवाद के परस्पर मिश्रित तत्व हैं, को एक-दूसरे से अलग रखा जाए।

दक्षिण-पश्चिम अरब की समृद्ध अर्थव्यवस्था में एक सभ्यता विद्यमान थी (सेबियन युग) आरंभ में, त्रिरूपेश्वरवादी तारा सम्प्रदाय था जिसका चौथी शताब्दी में स्थान एकेश्वरवादी सम्प्रदाय अल रहमान जिसका अर्थ दयालुता होता है, ने ले लिया। तथापि, समय के साथ छठी शताब्दी में अल रहमान द्वारा यहूदीवाद तथा ईसाईयत के तत्व स्वीकार किए गए। इस पर भी अनुकूलन की यह परम्परा दीर्घकाल तक नहीं चल सकी क्योंकि मक्कावासियों ने उनके साथ कभी भी यहूदी-ईसाई विचारों के कारण अच्छा व्यवहार नहीं किया।

कुरान के प्रकटीकरण के दौरान यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस्लाम की प्राथमिक पृष्ठभूमि यहूदी-ईसाई होने की अपेक्षा इस्लाम है। इस पर भी इनका इस्लाम पर सशक्त प्रभाव था।

पैगम्बर मोहम्मद साहब के निधन के पश्चात् उत्तराधिकार के आधार पर इस्लाम में सम्प्रदायवादी विभाजन देखा जा सकता है। वह सम्प्रदाय जो यह मानता है कि उत्तराधिकारी पैगम्बर का अपना कबीला कुरायाश है वह सुन्नी है। जो यह मानते हैं कि उत्तराधिकारी इमाम है वह शिया है। हालांकि, सुन्नी खलीफा और शिया इमामों ने कभी भी एक-दूसरे का एकाधिकार स्वीकार नहीं किया। सत्ता और विशेषाधिकार के इस विभाजन के अलावा इस्लाम में कोई केन्द्रीय संगठित धार्मिक प्राधिकार नहीं है। संभवत: यही एक कारक है कि इस्लामी समाज का सामाजिक संगठन एक समाज से दूसरे समाज में काफी अलग है और उनमें क्लासिकल तथा स्थानीय दोनों तत्व हैं। उदाहरण के लिए, अफ्रीका और सुदूर पूर्व के स्थानों में इस्लाम ने देवपूजा और भारत में जाति व्यवस्था के तत्वों को आत्मसात् कर लिया है जो कि क्लासिकल तथा स्थानीय तत्वों की मिश्रित विशेषता को निरूपित करता है।

**इस्लाम धर्म की शिक्षाएँ**

इस्लाम धर्म के प्रारंभिक धार्मिक कर्त्तव्यों को 'इस्लाम का स्तंभ' कहा गया है। वे प्रत्येक इस्लाम मतावलम्बी के लिए अनिवार्य हैं—

(1) शहादत का सबूत देना; अल्लाह (ईश्वर) के अलावा कोई अन्य ईश्वर नहीं है और मोहम्मद साहब ईश्वर के दूत हैं, किसी व्यक्ति के पूर्ण रूप से मुसलमान होने के लिए इतना ही प्रमाण पर्याप्त है।

(2) अनुष्ठानिक प्रार्थना नमाज सालत; मक्का की ओर मुँह करके एक निश्चित अंतराल पर (प्रात:, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, सूर्यास्त तथा रात में) एक दिन में पाँच बार किया जाता है। नमाज एक व्यक्तिगत कर्त्तव्य है जो कि कहीं भी किया जा सकता है। हालांकि प्रत्येक शुक्रवार को मध्याह्न में मस्जिद में ऐसा करना आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है कि वह मस्जिद में सार्वजनिक सेवाओं में भाग ले। इसलिए शुक्रवार को सामूहिक नमाज वांछनीय है।

(3) दान-पुण्य जकात एक निश्चित प्रतिशत होता है जो कि किसी व्यक्ति के पास मौजूद धन की प्रकृति तथा मूल्य के अनुसार और विभिन्न इस्लामी सम्प्रदायों द्वारा यथानिर्धारित अलग-अलग हो सकता है।

(4) रमजान के महीने में एक महीने का उपवास।

(5) एक व्यक्ति द्वारा अपने जीवनकाल में कम-से-कम एक बार मक्का की तीर्थयात्रा अर्थात् हज करना। यह उन लोगों के लिए आवश्यक है जो आर्थिक और शारीरिक रूप से सक्षम हैं।

**इस्लाम धर्म की अवधारणा और कानून**

इनके अतिरिक्त, इस्लाम यहूदीवाद तथा ईसाईयत की बुनियादी प्रामाणिकता को मानता है तथा मोहम्मद साहब को पैगम्बर का प्रतीक मानता है। इस उपर्युक्त मान्यता से ही कुरान की शिक्षाओं की अनुरूपता का पता चल जाता है क्योंकि पैगम्बर मोहम्मद साहब को भी लगभग वैसा ही संदेश लेकर भेजा गया था जो अब्राहम, मोजेज, जॉन द बैपटिस्ट तथा जीसस (जो ईश्वर रसूल के दूत ही थे) लेकर आए थे जिससे कि जो संदेश पहले आया था और जिसमें विकृति आ गई थी और नई बातें प्रवेश कर गई थीं, की पुन:पुष्टि की जा सके और अंतिम तथा पूर्ण रूप से अनिवार्य संदेश पहुँचाया जा सके। चूँकि इस्लाम में सबसे अधिक बल कुरान और पैगम्बर पर दिया गया है, इसलिए इस्लाम में यहूदीवाद और ईसाई धर्म के धार्मिक ग्रंथों की तुलना में कुरान को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है। कट्टरपंथी मुसलमान इसे 'शब्दश:' और अज्ञात 'ईश्वर की वाणी' मानता है। चूँकि एकदम आरंभ से ही इसकी भाषा अत्यंत ही भावबोधक समादेश वाली है, इसे एक विशिष्ट चमत्कार माना जाता है जो पैगम्बर मोहम्मद साहब के मिशन, उपदेश और शिक्षाओं को दैवीय उत्पत्ति को मानता है। उनके प्रामाणिक सिद्धान्त उल्लेखनीय रूप से कुरान के पाठ से लगे हुए हैं तथा उसका पाठ लोकप्रिय भक्ति का सबसे सामान्य स्वरूप है। यद्यपि धर्म से संबंधित सभी बातें स्पष्ट रूप से कुरान में बताई

नहीं गई हैं फिर भी पैगम्बर को स्रोत तथा आदर्श माना जाता है। उसके कार्य तथा वचन व्यक्तियों तथा समुदाय के लिए प्रतिमान हैं और संदर्भ हैं तथा इन दोनों को मिलकार सुन्ना बना है जो कि परम्पराओं का लिखित रूप हदीस है। यद्यपि उन्हें दृढ़तापूर्वक इलहाम नहीं माना जाता है फिर भी इस्लामिक धर्म पर इसका धार्मिक प्राधिकार है। कुल मिलाकर इस्लाम में औपचारिक धार्मिक कानून कुरान और सुन्ना पर आधारित हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस्लामी समाज में कानून की प्रकृति ईश्वरीय कृति मानवीय आवयकताओं और राजनीतिक इष्टसिद्धि के नियम पर आधारित है। सभ्य जीवन की ऐसी विकासवादी प्रक्रिया में मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और सामाजिक न्याय के भाव गौण प्रतीत होते हैं। इस्लामी समाज ईश्वर के शब्दों पर आधारित है, जबकि रीति-रिवाजों की इमारत इस अर्थ में मानवीय ज्ञान तथा विवेक पर आधारित है कि 'फिक्ह' (Figh) मानकुल (Manqul) (प्रकट भावों) जो कि कुरान और सुन्ना (इज्मा और कियास के रूप में मानवीय तर्क की रचना है सुन्ना) है पर आधारित है। इस स्थिति से यह पता चलता है कि कानून का स्रोत तथा इसका उद्देश्य भिन्न है। इस्लामी समाज का चरम उद्देश्य है ईश्वरीय सत्ता (कुर्बा) की निकटता प्राप्त करना और इसके लिए उसके नियमों का अनुकरण करना होता है, क्योंकि यह इस्लाम के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का सिद्धान्त है। सुस्थापित तथ्य यह है कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी स्वीकार नहीं करना है। इस प्रवृत्ति को इस भाव से और अधिक बल मिलता है कि सद्कर्म के बिना मुक्ति अर्थात् ईश्वरीय अनुग्रह के लिए अल्लाह की अनुमति प्राप्त करना संभव नहीं है।

### मानवीय विकास में इस्लाम धर्म का योगदान
### (Contribution of Islam Religion in Human Development)

अरबी में इस्लाम का अर्थ है प्रार्थना, आज्ञा पालन या शान्ति। इसका आशय है—संसार में शान्ति की प्राप्ति के लिये भगवान की आज्ञा का पालन करना और उसकी अधीनता स्वीकार करना। इस्लाम धर्म के मानने वाले मुस्लिम कहलाते हैं। मुस्लिम एक ईश्वर में और उसके फरिश्तों में विश्वास करते हैं। वे कुरान में विश्वास करते हैं जिसे वे ईश्वर की वाणी मानते हैं। ऐसा मत है कि फरिश्ता ग्रबरील ने पैगम्बर मोहम्मद को कुरान का ज्ञान दिया था तथा मौहम्मद साहब ईश्वर के अन्तिम दूत थे। कुछ लोग इस्लाम को मोहम्मद का धर्म कहते हैं। उनका विश्वास है कि मोहम्मद साहब को खुदा ने ईश्वर के उपदेशों का प्रचार करने के लिये ही पैगम्बर बनाया था।

इस्लाम सम्प्रदाय नियमबद्ध जीवनशैली में विश्वास करता है। इस्लाम के एकेश्वरवाद में भाव की क्रीड़ा के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रतिदिन पाँच बार और शुक्रवार को दोपहर के समय जुमे की नमाज अदा करनी होती है। उन्हें अपनी वार्षिक शुद्ध आय या पूरे कारोबार की कुल मालियत, (खर्च और कर्ज निकालकर) का कम से कम ढाई प्रतिशत दान ''जकात'' सुपात्रों को देना होता है। इस्लामी नवें महीने रमजान में धूम्रपान के बिना सुबह से शाम तक उपवास (रोजा) रहना होता है। उन्हें दुलहज महीने (बारहवें महीने) के दूसरे सप्ताह में सऊदी अरब में मक्का में धार्मिक समारोह में भाग लेना होता है। मक्का में काबा की यह तीर्थयात्रा आर्थिक व शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ प्रत्येक मुसलमान स्त्री या पुरुष के लिए अनिवार्य मानी गयी है।

मुस्लिम सम्वत् 622 ई० से आरम्भ होता है, जब मोहम्मद साहब को मक्का छोड़कर मदीना जाना पड़ा था। मुस्लिम पंचांग चाँद पर आधारित होता है। इसका निर्णय चाँद के दर्शन से होता है। कुरान में मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए कुछ नियम बनाए गए ताकि व्यक्ति की जीवनशैली नियमबद्ध रूप में रहे और उसका सामाजिक सामन्जस्य बना रहे।

कुछ नियम जो कुरान मजीद में दिए गए, वह इस प्रकार हैं—

(1) जमीन और आसमान की समस्त वस्तुओं का मालिक अल्लाह है। इसलिए मनुष्य को उसी के आगे अपना सर झुकाना चाहिए और अपने जीवन में उसी के आदेशों का पालन करना चाहिए।

(2) हर एक को अपने किए का फल पाना है। जो नेकी कमायेगा उसका फल उसी के लिए और जो बुराई समेटेगा उसका बुरा नतीजा उसी को भुगतना होगा।

(3) मुसलमान शब्द मौल्लिम इमान से बना है जिसका अर्थ है—सच्चा ईमान।

(4) सभी कार्य अल्लाह के नाम शुरू होने चाहिए।

(5) पड़ोसी का हक बहुत बड़ा है। अगर पड़ोसी बुराई करता है तब भी उससे भलाई करो।

(6) सच बोलने पर ज्यादा बल दिया है, चाहे जितनी भी मुश्किल आए इंसान को हमेशा सच बोलना चाहिए।

(7) बुराई का तोड़ भलाई से करो।

(8) समाज में शान्ति बनाए रखने के लिए और लोगों को प्राण रक्षा के लिए किसास (खून का बदला) का हुक्म दिया गया।

(9) अन्त में सबको प्रभु के पास उपस्थित होना है।

(10) मुसलमानों में खुदा के बाद पति का महत्व बहुत बड़ा है, इस्लाम में सिर्फ अल्लाह के आगे सिर झुकाने की अनुमति दी है। कुरान में आया है कि अगर अल्लाह के अलावा किसी और के सामने सिर झुकाने या सिजदा करने की अनुमति दी जाए, तो वह अधिकार एक पति का होगा।

(11) मुस्लिम स्त्रियों को धार्मिक अधिकार भी प्रदान किये गए हैं, वह कुरान पढ़ सकती हैं। विवाह में भी स्त्री की स्वीकृति ली जाती है।

(12) पारिवारिक सम्पत्ति में भी मुस्लिम स्त्रियों को हिस्सा दिया गया है और वे अपने हिस्से का चाहे जिस प्रकार से उपयोग कर सकती हैं। मेहर एवं दहेज पर भी स्त्री का अधिकार है।

(13) विवाह के परिणामस्वरूप मुस्लिम स्त्री को मेहर का अधिकार प्राप्त होता है। मेहर वह धन या सम्पत्ति है जो पति-पत्नी के सम्मान में देता है। इसे कन्या मूल्य नहीं कह सकते क्योंकि सम्पत्ति पर कन्या के पिता का नहीं वरन् कन्या का ही अधिकार होता है।

(14) मुस्लिम परिवार में संस्कारों की भी प्रधानता है। मुसलमान अनेक धार्मिक संस्कार सम्पन्न करते हैं, जैसे सतवां, अकीका, चिल्ला, बिसमिल्ला, खतना, निकाह और मैयत आदि।

(15) कुरान मुसलमानों का धार्मिक ग्रन्थ है। कुरान के आदेशों के पालन करने वाला अल्लाह का प्यारा होता है क्योंकि वह अल्लाह की इच्छा का पालन करता है। ऐसे मनुष्यों को ही परमानन्द प्राप्त होता है। उन लोगों को जो खुदा के सन्देश में विश्वास नहीं करते और उसकी इच्छा को भुला देते हैं, दण्ड प्राप्त होता है।

(16) मुसलमानों में स्त्रियों को पुरुषों से पृथक रखने के लिये पर्दा-प्रथा का प्रचलन है।

(17) इस्लाम धर्म के अनुसार परिवार में छोटी आयु के सदस्यों की तुलना में बड़ी आयु के सदस्यों को अधिक आदर एवं अधिकार प्राप्त हैं।

(18) मुसलमानों में पाँच चीजें फर्ज हैं—

(i) कलमा पढ़ना (कुरान में लिखा हुआ)

(ii) नमाज (पाँच वक्त की)

(iii) रोजा

(iv) जकात

(v) हज

(19) अल्लाह किसी व्यक्ति पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ नहीं डालता है।

## ● मस्जिद (Mosque)

मस्जिद इस्लाम धर्म का प्रार्थना स्थल है। पूजा के किसी भी कार्य को, जो प्रार्थना के इस्लामी नियमों का पालन करता है, मस्जिद बनाने के लिए कहा जा सकता है, चाहे वह किसी विशेष इमारत में हो या न हो। अनौपचारिक और खुली हवा के पूजा स्थलों को मुसल्ला कहा जाता है, जबकि शुक्रवार को सांप्रदायिक प्रार्थना के लिए इस्तेमाल की जाने वाली मस्जिदों को जामी कहा जाता है। मस्जिद की इमारतों में आमतौर पर एक सजावटी आला (मिहराब) होता है जो दीवार में स्थापित होती है जो मक्का (किबला) की दिशा को इंगित करती है, वशीकरण सुविधाओं और मीनारों से जिसमें प्रार्थनाएँ जारी की जाती हैं। मंच (Minbar), जिसमें से शुक्रवार (जुमा) धर्मोपदेश (Khutba) वितरित किया जाता है, पहले के समय केन्द्रीय शहर मस्जिद की विशेषता में था, लेकिन जब से छोटे मस्जिदों में बन गया है तो आम है। मस्जिदों में आमतौर पर पुरुषों और महिलाओं के लिए रिक्त स्थान होते हैं। संगठन के इस मूल स्वरूप ने क्षेत्र, अवधि और संप्रदाय के आधार पर विभिन्न रूपों को ग्रहण किया है।

मस्जिदें आमतौर पर प्रार्थना, रमजान विगल्स, अंतिम संस्कार सेवाओं, सूफी समारोहों, शादी और व्यापार समझौतों, भिक्षा संग्रह और वितरण के साथ-साथ बेघर आश्रयों के लिए स्थानों के रूप में काम करती हैं।

ऐतिहासिक रूप से, मस्जिदें प्रारंभिक शिक्षा और धार्मिक विज्ञान में उन्नत प्रशिक्षण के महत्वपूर्ण केन्द्र भी थे। आधुनिक समय में, उन्होंने धार्मिक निर्देश और बहस के स्थानों के रूप में अपनी भूमिका को संरक्षित रखा है, लेकिन उच्च शिक्षा अब आम तौर पर विशेष संस्थानों में होती है। विशेष महत्व मक्का की महान मस्जिद (हज्ज के केन्द्र) को माना जाता है, पैगंबर की मस्जिद में मदीना (के दफन जगह मुहम्मद) और अल अक्सा मस्जिद में यरूशलेम। अतीत में, मुस्लिम दुनिया में कई मस्जिदों का निर्माण सूफी संतों और अन्य वंदनीय स्थानों पर किया गया था, जिसने उन्हें लोकप्रिय तीर्थ स्थलों में बदल दिया।

इस्लाम के प्रसार के साथ, मस्जिदों ने इस्लाम का दुनिया भर में गुणगान किया। कभी-कभी चर्च और मंदिर, मस्जिदों में परिवर्तित हो जाते थे, जो इस्लामी स्थापत्य शैली को प्रभावित करते थे। जबकि अधिकांश पूर्व-आधुनिक मस्जिदों को धर्मार्थ समर्थन द्वारा वित्त पोषित किया गया था, मुस्लिम दुनिया के आधुनिक राज्यों ने मस्जिदों को सरकारी नियंत्रण में लाने का प्रयास किया है। बड़ी मस्जिदों के सरकारी नियमन को विभिन्न संबद्धता और विचारधाराओं को निजी रूप से वित्त पोषित मस्जिदों के उदय से गिना गया है, जिनमें से कई विभिन्न इस्लामी पुनरुत्थानवादी धाराओं और सामाजिक सक्रियता के लिए आधार के रूप में काम करते हैं। मस्जिदों ने कई राजनीतिक भूमिकाएँ निभाई हैं। मस्जिद की उपस्थिति की दर क्षेत्र के आधार पर व्यापक रूप से भिन्न होती है।

शुरुआती समय में, मस्जिदें कई सार्वजनिक कार्यों के लिए इस्तेमाल की जाने लगीं। जैसे-सैन्य, राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक। स्कूलों और पुस्तकालयों को अक्सर मध्यकालीन मस्जिदों (जैसे, काहिरा में अल-अजहर मस्जिद) से जोड़ा जाता था। आधुनिक समय में कई इस्लामिक देशों में धर्मनिरपेक्ष कानून लागू होने तक मस्जिद भी न्याय की अदालत के रूप में काम करती थी। जबकि आधुनिक समय में मस्जिद के कई सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक कार्यों को अन्य संस्थानों ने संभाल लिया है, यह काफी प्रभाव का केन्द्र बना हुआ है। कुछ मामलों में मकतब (प्राथमिक विद्यालय) एक मस्जिद से जुड़ा हुआ है, मुख्य रूप से कुरान की शिक्षा के लिए, कानून और सिद्धान्त में अनौपचारिक कक्षाएँ आसपास के पड़ोस में लोगों के लिए दी गई हैं।

मस्जिद एक चर्च से कई मामलों में अलग है। विवाह और जन्म से जुड़े समारोहों और सेवाओं को आमतौर पर मस्जिदों में नहीं किया जाता है, और संस्कार जो कई चर्चों का एक महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग हैं,

जैसे कि स्वीकारोक्ति, तपस्या और पुष्टि, वहाँ मौजूद नहीं हैं। प्रार्थना धनुष और साष्टांग द्वारा की जाती है, जिसमें किसी भी प्रकार की कुर्सियाँ या सीटें नहीं होती हैं। पुरुष पंक्तियों में खड़े होते हैं, नंगे पाँव, इमाम के पीछे और उसकी चाल का अनुसरण करें। अमीर और गरीब, प्रमुख और सामान्य लोग, सभी एक ही पंक्तियों में एक साथ खड़े और झुकते हैं। महिलाएँ प्रार्थना में भाग ले सकती हैं, लेकिन उन्हें मस्जिद में एक अलग स्थान या कक्ष पर कब्जा करना चाहिए। मस्जिद में कोई प्रतिमा, अनुष्ठान की वस्तुएँ या चित्र का उपयोग नहीं किया जाता है; अनुमति दी गई एकमात्र सजावट कुरान की आयतों और मुहम्मद और उनके साथियों के नाम हैं। पेशेवर मंत्र (कुरआ) विशेष स्कूलों में सिखाई गई निर्धारित प्रणालियों के अनुसार कुरान का जाप कर सकते हैं, लेकिन संगीत या गायन की अनुमति नहीं है।

## ● सिक्ख समुदाय (Sikh)

भारत में सिक्खों की जनसंख्या दो प्रतिशत से कुछ कम है। यद्यपि ये पूरे भारत में फैले हुए हैं परन्तु पंजाब में ये सर्वाधिक हैं। यद्यपि भारत भूमि पर सिक्ख धर्म का विकास हुआ है परन्तु ये पूरी दुनिया में फैले हुए हैं जैसे—कनाडा, यू०एस०ए० तथा कुछ यूरोपीय देशों में तथापि, सिक्खों और पंजाब जहाँ कि इसका उद्‌गम है, इन दोनों के बीच महत्वपूर्ण रिश्ता है। इन दोनों के बीच इतना मजबूत रिश्ता है कि कभी-कभी सिक्ख लोगों को पंजाबी भी बोल दिया जाता है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि लगभग प्रत्येक सिक्ख अपनी मातृभाषा के रूप में पंजाबी बोलता है। वास्तव में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों से सम्बन्ध होने के बावजूद इन्होंने अपनी पंजाबियत को नहीं खोया है। इसी प्रकार प्रत्येक सिक्ख अपने गुरुओं, गुरुग्रन्थ साहिब तथा अकालतख्त की शिक्षाओं का ही सहारा लेता है।

'पगड़ी' पहने किसी व्यक्ति या 'सलवार कुर्त्ता' पहने किसी महिला को हम लोग सिक्ख मान लेते हैं, लेकिन कुछ और भी पहचान है जो कि हमारी मदद करते हैं जैसे—सिक्ख अपनी कलाई में कड़ा अवश्य पहनते हैं। यद्यपि यह भौतिक/बाहरी महत्वपूर्ण पहचान है परन्तु यहाँ हमारा सरोकार कुछ अन्य मौलिक प्रश्नों से है। कुछ अन्य महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय प्रश्न हो सकते हैं। सिक्ख कौन हैं? दूसरे शब्दों में यहाँ हमें इन बातों का ध्यान रखना है कि सिक्ख समुदाय की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान है। हम लोग इन प्रश्नों का विस्तार से परीक्षण करेंगे और सम्भवत: ऐसे प्रश्नों का सबसे महत्वपूर्ण उत्तर धार्मिक ग्रंथों में मिल सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण विद्वानों द्वारा किए गये अध्ययनों के निष्कर्ष भी उपयोगी साबित होंगे।

इस तरह की व्याख्या की जड़ें सिक्ख परम्परा में ही हैं जो गुरु नानक देव के दिनों से इतनी पुरानी हैं। गुरु नानक देव जी ने आदिग्रन्थ में 'नाम', 'दान' तथा 'इन्सान' की महत्ता का वर्णन किया है। नाम का आशय 'दैवीय नाम' से है जो कि 'अकाल पूरख' या भगवान है। जब कोई व्यक्ति अपने अर्जित धन में से दूसरों के लिये हिस्सा रखता है या दान करता है तो वह अपने को 'नाम' या 'भगवान' से जोड़ता है यह उसके इन्सान बनने की प्रक्रिया है।

सिक्ख धर्म एक स्वस्थ सांप्रदायिक जीवन के लिए मजबूत समर्थन प्रदान करता है, और एक सिक्ख को सभी योग्य परियोजनाओं का समर्थन करना चाहिए जो बड़े समुदाय को लाभान्वित करें और सिक्ख सिद्धान्तों को बढ़ावा दें। अंतर-विश्वास संवाद को महत्व दिया जाता है, गरीबों और कमजोरों के लिए समर्थन; बेहतर सामुदायिक समझ और सहयोग।

**परिचय**

- पंजाबी भाषा में **'सिक्ख'** शब्द का अर्थ **'शिष्य'** होता है। सिक्ख ईश्वर के वे शिष्य हैं जो दस सिक्ख गुरुओं के लेखन और शिक्षाओं का पालन करते हैं।

- सिक्ख एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, उनका मानना है कि उन्हें अपने प्रत्येक काम में ईश्वर को याद करना चाहिये इसे **सिमरन ( सुमिरण )** कहा जाता है।
- विश्व भर में 25 मिलियन से अधिक सिक्ख आबादी है जिनमें से अधिकांश भारतीय राज्य पंजाब में निवास करते हैं।
- सिक्ख अपने पंथ को **गुरुमत ( गुरु का मार्ग–The Way of the Guru )** कहते हैं। सिक्ख परंपरा के अनुसार, सिक्ख धर्म की स्थापना **गुरु नानक (1469-1539)** द्वारा की गई थी और बाद में नौ अन्य गुरुओं ने इसका नेतृत्व किया।
- सिक्ख मानते हैं कि सभी 10 मानव गुरुओं में एक ही आत्मा का वास था। **10वें गुरु गोबिन्द सिंह (1666-1708)** की मृत्यु के बाद अनंत गुरु की आत्मा ने स्वयं को सिक्ख धर्म के पवित्र ग्रंथ **गुरु ग्रंथ साहिब** (जिसे **आदि ग्रन्थ** भी कहा जाता है) में स्थानांतरित कर लिया और इसके उपरांत गुरु ग्रंथ साहिब को ही एकमात्र गुरु माना गया।
- पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव के समय तक सिक्ख धर्म स्थापित हो चुका था। गुरु अर्जुन देव ने **अमृतसर** को सिक्खों की राजधानी के रूप में स्थापित किया और सिक्ख पवित्र लेखों की पहली प्रमाणिक पुस्तक के रूप में **आदि ग्रंथ का संकलन** किया।

**दर्शन और मत**

- **एक ओंकार** अर्थात् ईश्वर एक है और सभी धर्मों के सभी लोगों के लिये वही एक ईश्वर है।
- आत्मा मानव रूप को प्राप्त करने से पहले **जरा** और **मरण** के चक्र से गुजरती है। हमारे जीवन का लक्ष्य एक अनुकरणीय अस्तित्व का निर्वहन करना है ताकि ईश्वर के साथ समागम हो सके।
- सिक्खों को हर समय ईश्वर का सुमिरण करना चाहिये और अपने आध्यात्मिक एवं लौकिक दायित्वों के बीच संतुलन बनाए रखते हुए सदाचारी एवं सत्यनिष्ठ जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिये।
- मोक्ष प्राप्त करने और ईश्वर के साथ समागम करने का सच्चा मार्ग संसार से विरक्ति या ब्रह्मचर्य के पालन में नहीं है बल्कि एक गृहस्थ का जीवन जीने, ईमानदारी से आजीविका कमाने और सांसारिक प्रलोभनों एवं पापों से बचने में है।
- सिक्ख धर्म उपवास, तीर्थ यात्रा, अंधविश्वासों का पालन, मृतकों की पूजा, मूर्ति पूजा जैसे अनुष्ठानों की निन्दा करता है।
- सिक्ख धर्म का उपदेश है कि विभिन्न नस्ल, धर्म या लिंग के लोग ईश्वर की दृष्टि में एक समान हैं। यह पुरुषों और महिलाओं में समानता की शिक्षा देता है। सिक्ख महिलाएँ किसी भी धार्मिक समारोह में भाग ले सकती हैं या कोई भी अनुष्ठान कर सकती हैं या प्रार्थना में मंडली का नेतृत्व कर सकती हैं।

**इतिहास और धार्मिक आचरण**

- गुरु नानक जी ने प्रेम और ज्ञान का संदेश दिया तथा हिन्दू एवं मुस्लिम धर्म में व्याप्त कुरीतियों की निंदा की। इस नए धर्म का प्रबुद्ध नेतृत्व गुरु नानक से लेकर गुरु गोबिंद सिंह तक दस गुरुओं ने किया।
- **प्रभाव**—सिक्ख धर्म का उद्भव एवं प्रसार भक्ति आन्दोलन और हिन्दू धर्म के वैष्णव मत से प्रभावित था। हालाँकि सिक्ख धर्म केवल भक्ति आंदोलन का ही विस्तार नहीं था। सिक्ख धर्म का प्रसार तब हुआ जब इस क्षेत्र पर मुगल साम्राज्य का शासन था। दो सिक्ख गुरुओं—**गुरु अर्जुन देव और गुरु तेग बहादुर** द्वारा इस्लामिक धर्मांतरण से मना करने पर मुगल शासकों द्वारा उन्हें प्रताड़ित किया गया और मार डाला गया। इस्लामिक युग में सिक्खों के उत्पीड़न ने **खालसा** की स्थापना को प्रेरित किया जो **अंतरात्मा और धर्म की स्वतंत्रता** का पंथ है।
- अंतिम गुरु, गुरु गोबिंद सिंह ने **खालसा** (जिसका अर्थ है '**शुद्ध**') **पंथ** की स्थापना की जो **सैनिक-संतों का विशिष्ट समूह** था। खालसा प्रतिबद्धता, समर्पण और सामाजिक चेतना से सर्वोच्च सिक्ख गुणों को उजागर करता है।
- खालसा ऐसे पुरुष और महिलाएँ हैं जिन्होंने **सिक्ख बपतिस्मा समारोह** में भाग लिया हो और जो सिक्ख आचार संहिता एवं परंपराओं का सख्ती से पालन करते हैं तथा पंथ के पाँच निर्धारित भौतिक वस्तुओं—केश, कंघा, कड़ा, मच्छा और कृपाण धारण करते हैं।

- सिक्ख धर्म में पुजारी या पुरोहित वर्ग नहीं होता है, इस प्रथा को गुरु गोबिन्द सिंह ने समाप्त कर दिया था। गुरु गोबिन्द सिंह मानते थे कि पुरोहित वर्ग भ्रष्ट एवं अहंकारी होता है।
- सिक्ख धर्म में केवल गुरु ग्रन्थ साहिब का एक संरक्षक होता है जिसे **'ग्रन्थी'** कहते हैं और कोई भी सिक्ख गुरुद्वारा में या अपने घर में गुरु ग्रन्थ साहिब के पाठ के लिये स्वतंत्र है। सभी धर्मों के लोग गुरुद्वारा जा सकते हैं। प्राय: प्रत्येक गुरुद्वारें में एक नि:शुल्क **सामुदायिक रसोई** होती है जहाँ सभी धर्मों के लोगों को भोजन परोसा जाता है। गुरु नानक ने पहली बार इस संस्था की शुरुआत की थी जो सिक्ख धर्म के मूल सिद्धान्तों सेवा, विनम्रता और समानता को रेखांकित करती है।
- **चार अनुष्ठान–**सिखों के कर्त्तव्यों को निर्दिष्ट करने वाली पुस्तिका **''सिक्ख रहत मर्यादा''** चार अनुष्ठानों का प्रावधान करती है जिन्हें संस्कार मार्ग कहा जाता है—
  (i) पहला अनुष्ठान जन्म और गुरुद्वारे में आयोजित नामकरण समारोह है।
  (ii) दूसरा अनुष्ठान आनंद करज (आनंदमय मिलन) या विवाह समारोह है।
  (iii) तीसरा अनुष्ठान जिसे सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, अमृत संस्कार है जो खालसा में दीक्षा के लिये होने वाला समारोह है।
  (iv) चौथा अनुष्ठान मृत्योपरांत होने वाला अंतिम संस्कार समारोह है।
- तीन कर्त्तव्य जिनका पालन सिक्खों द्वारा किया जाना चाहिये–प्रार्थना, कृत्य या कार्य और दान।
  **(i) नाम जपना**—हमेशा ईश्वर का सुमिरन करना।
  **(ii) कीरत करना**—ईमानदारी से आजीविका अर्जित करना। चूँकि ईश्वर सत्य है, एक सिक्ख ईमानदारी से जीवन जीना चाहता है। इसका अर्थ केवल अपराध से दूर रहना नहीं है बल्कि जुए, भीख, शराब व तम्बाकू उद्योग में काम करने से भी बचना है।
  **(iii) वंड छकना**—शाब्दिक रूप से इसका अर्थ है दूसरों के साथ अपनी कमाई साझा करना अर्थात् दूसरों को दान देना और उनकी देखभाल करना।
- **पाँच दोष**—सिक्ख उन पाँच दोषों से बचने की कोशिश करते हैं जो लोगों को आत्म-केन्द्रित बनाते हैं और उनके जीवन के ईश्वरीय मार्ग में बाधाँए पैदा करते हैं। ये हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार।

**मानवीय विकास में सिक्ख धर्म का योगदान**

सिक्ख धर्म की स्थापना गुरु नानक साहब ने की थी। वह पंजाब में सन् 1469-1538 तक रहे। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सिक्खों के प्रथम धर्म ग्रन्थ 'आदि ग्रन्थ' का संकलन किया। गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म दीक्षा विधि 'पादुल' की स्थापना की। जो लोग धर्म की दीक्षा लेते थे उन्हें 'खालसा' कहा जाता था।

गुरु नानक उपदेश देते हुए कहते हैं—''हे नानक! सभी एक समान हैं। न कोई उत्तम है न कोई अधम, न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा, न कोई स्पृश्य है और न कोई अस्पृश्य। श्रेष्ठ जाति उसी की है जो श्रेष्ठ कर्म करता है। पुण्यात्मक कहलाने का अधिकारी वही है जिसके घर में ईश्वर का नाम बसता है। हे नानक! सारा संसार दुखी है, सुखी केवल वही है जो परमात्मा का होकर रहता है। वह सभी दुःखों, सारे क्लेशों से छुटकारा पा जाता है। हे मनुष्य! तेरा मन झूठा, काया झूठी, जबान झूठी, मुँह झूठा, बातचीत झूठी, फिर तू सच्चा, शुद्ध, पवित्र, साफ-सुथरा क्यों कर हो सकता है? मोह, माया, कपट, अहंकार, झूठ इत्यादि सभी मन से दूर कर डाल।''

गुरु नानक का विचार है कि ईश्वर की भक्ति तीन वस्तुओं के द्वारा की जा सकती है—

(अ) नाम जपना, (ब) कीर्तन करना,

(स) परिश्रम से मजदूरी कमाना और उसे बाँटकर खाना।

गुरु नानक की शिक्षाएं प्रायः सभी धर्मों में पायी जाती हैं। गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं ने निर्गुण भक्ति पर जोर दिया। सिक्ख सम्प्रदाय कभी भी सकारोपासना (सगुण भक्ति) का विरोधी नहीं हुआ।

## ● गुरुद्वारा (Gurudwara)

**गुरुद्वारा**, जिसका शाब्दिक अर्थ गुरु का द्वार है सिक्खों के भक्ति स्थल हैं जहाँ वे अपने धार्मिक अनुष्ठान भी करते हैं। अमृतसर का हरमिन्दर साहिब गुरुद्वारा, जिसे स्वर्ण मंदिर के नाम से भी जाना जाता है, उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध गुरुद्वारा है।

एक गुरुद्वारा/सिक्ख मंदिर (गुरुद्वारा; जिसका अर्थ है ''गुरु का द्वार'') सिक्खों के लिए एक सभा और पूजा स्थल है। सिक्ख गुरुद्वारों को गुरुद्वारा साहिब भी कहते हैं। गुरुद्वारों में सभी धर्मों के लोगों का स्वागत किया जाता है। प्रत्येक गुरुद्वारे में एक दरबार साहिब है जहाँ सिक्खों के वर्तमान और सार्वकालिक गुरु ग्रंथ साहिब को एक प्रमुख केन्द्रीय स्थिति में एक तख्त (एक ऊँचा सिंहासन) पर रखा गया है। मण्डली की उपस्थिति, में रागी (जो राग गाते हैं) गाते हैं, और गुरु ग्रंथ साहिब से छंदों की व्याख्या करते हैं।

सभी गुरुद्वारों में एक लंगर हॉल है, जहाँ लोग गुरुद्वारे में स्वयंसेवकों द्वारा परोसे जाने वाले मुफ्त शाकाहारी भोजन का सेवन कर सकते हैं। उनके पास एक चिकित्सा सुविधा कक्ष, पुस्तकालय, नर्सरी, कक्षा, बैठक कक्ष, खेल का मैदान, एक उपहार की दुकान और अंत में एक मरम्मत की दुकान हो सकती है। एक गुरुद्वारे की पहचान दूर झंडे से की जा सकती है, जो सिक्ख ध्वज, निशान साहिब को प्रभावित करता है।

सबसे प्रसिद्ध गुरुद्वारे अमृतसर, पंजाब में दरबार साहिब, सिक्खों के आध्यात्मिक केन्द्र और सिक्खों के राजनीतिक केन्द्र अकाल तख्त सहित दरबार साहिब में हैं।

### इतिहास

अमृतसर के हरमंदिर साहिब, जिसे अनौपचारिक रूप से स्वर्ण मंदिर के रूप में जाना जाता है, भारत में सिक्खों का सबसे पवित्र गुरुद्वारा है, जो सत्ता की सिक्ख गद्दी है।

पहला गुरुद्वारा साल 1521 में पहले सिक्ख गुरु, गुरु नानक देव द्वारा पंजाब क्षेत्र में रावी नदी के तट पर स्थित करतारपुर में बनाया गया था। यह अब पश्चिम पंजाब (पाकिस्तान) के नरोवाल जिले में स्थित है।

पूजा केन्द्रों को एक जगह के रूप में बनाया गया था, जहाँ सिक्ख गुरु को आध्यात्मिक प्रवचन देने और वाहेगुरु की प्रशंसा में धार्मिक भजन गाने के लिए इकट्ठा कर सकते थे। जैसे-जैसे सिक्ख आबादी बढ़ती गई, गुरु हरगोबिन्द, छठे सिक्ख गुरु ने गुरुद्वारा शब्द की शुरुआत की।

गुरुद्वारा शब्द की व्युत्पत्ति शब्द गुरु (शब्द) (सिक्ख गुरुओं के संदर्भ में) और द्वार (गुरुमुखी में प्रवेश द्वार) से हुई है, जिसका अर्थ है 'द्वार जिसके माध्यम से गुरु तक पहुँचा जा सकता है।' तत्पश्चात्, सभी सिक्ख स्थानों को गुरुद्वारों के रूप में जाना जाने लगा।

### सिक्ख धर्म के महत्वपूर्ण गुरुद्वारे

**पंज तख्त**—ये सिक्खों के पाँच तख्त हैं और ये तख्त पाँच गुरुद्वारे हैं जिनका सिक्ख समुदाय के लिये बहुत महत्व है—

(1) **अकाल तख्त साहिब** का अर्थ है अनंत सिंहासन (Eternal Throne)। यह अमृतसर में स्वर्ण मन्दिर परिसर का एक अंग है। इसकी नींव छठे सिक्ख गुरु, गुरु हरगोबिन्द जी ने रखी थी।

(2) **तख्त श्री केशगढ़ साहिब** आनंदपुर साहिब, पंजाब में स्थित है। यह खालसा का जन्म स्थल है जिसे वर्ष 1699 में गुरु गोबिन्द सिंह जी ने स्थापित किया था।

### पिता के रूप में ईश्वर की विशिष्ट संकल्पना

ईसाई न्यूटेस्टामेंट में जो निर्णायक रूप से नया है वह ईश्वर में आस्था इस तथ्य में है कि यह आस्था व्यक्ति, शिक्षाओं और ईसा मसीह के कार्य से इतना समीप से बंधा है कि धर्मतंत्र और ईसा मसीह के सिद्धान्तों के बीच सीमाएँ खींचना अत्यन्त ही कठिन है। स्वयं जीसस ने हिब्रू धर्माध्यथों (अब्राहम, आइजैक और जैकब) के ईश्वर को अपनाया था किन्तु वह स्वयं को मनुष्य के मसीहा पुत्र के प्रतिज्ञा को पूरा करने वाला भी समझता था जिसने ईश्वर का साम्राज्य कायम किया। धार्मिक अनुभव जो ईसा मसीह की मसीही आत्मबोध के आधार का निर्माण करता है वह इस बात की स्वीकृति है कि मनुष्य का पुत्र–मसीहा ईश्वर का पुत्र है।

ईसा मसीह का ईश्वर के साथ विशेष संबंध को ईश्वर को पिता की पदवी देकर अभिव्यक्त किया है। प्रार्थनाओं में ईसा मसीह ने ईश्वर के लिए अरमाइक शब्द अब्बा (पिता) जोकि अन्यथा यहूदीवाद में धार्मिक प्रवचन में असामान्य है। पिता–पुत्र का यह संबंध ईसाई का अपने ईश्वर के साथ संबंध के लिए आदिरूप बन गया। ईश्वर के पुत्रत्व की अपील ने ईसा मसीहा की मसीही आत्मबोध के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ईसा मसीह की बपतिस्मा के विवरण के अनुसार ईसा मसीह ने अपना पुत्रत्व तब समझा जब स्वर्ग से आई आवाज में यह कहा गया—यह मेरा प्रिय पुत्र है, जिससे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

### मानवीय विकास में ईसाई धर्म का योगदान
### (Contribution of Christianity in Human Development)

ईसा का जन्म यहूदिया के बैतलहम में करीबन दो हजार वर्ष पूर्व मरियम की कोख से हुआ था। ईसा मानवता के आदर्श प्रचारक, सच्चे बन्धु और मार्गदर्शक थे। वे दुर्लभ गुणों के कोश थे। उनका अपरिसीम धैर्य और विनम्रतापूर्वक कष्टों का सहन एक ऐसी अटल अचल शिला है, जिसे हम जीवन के झंझावातों से उखड़ते समय पकड़ सकते हैं। उनकी दरिद्रता ने गरीबों के घर को पवित्र बना दिया है। गिरे और पददलित लोगों के प्रति उनके प्रेम ने सारे संसार को अनगिनत परोपकार और सहानुभूति के कार्यों से भर दिया है। उनकी मृत्यु और पुनर्जीवन हमें उस भवन की ओर आहूत करते हैं, जहाँ वे हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अकथनीय यातनाओं के मध्य उनका अपरिमित धैर्य हमारे दुःखों के प्याले को मधुर बना देता है।

ईसा के उपदेश अत्यन्त उदार थे। वे दूसरों पर कुछ भी उनकी इच्छा के विरुद्ध आरोपित नहीं करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है, "मैं नष्ट करने नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण बनाने के लिए आया हूँ।" वे यह अच्छी तरह जानते थे कि सच्ची आध्यात्मिक प्रगति संकीर्णता में नहीं, अपितु विस्तार में निहित होती है तथा वह समन्वयात्मक होती है, न कि पृथकतावादी। ईसा ने कहा कि जब व्यक्ति का हृदय पवित्र होता है, तब वह ईश्वर को देख सकता है और कोई उसको बाधा नहीं दे सकता। कोई भी चर्च (मतवाद), कोई भी पुरोहित अथवा कोई भी चीज एक पवित्र हृदय को ईश्वर–दर्शन से दूर नहीं रख सकती।

ईसा मसीह की मानवीय समाज को देन उनके निम्नलिखित उपदेशों से प्रकट होती है—

(1) धन्य हैं वे, जो नम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।
(2) धन्य हैं वे, जो धर्म के कारण सताये जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।
(3) धन्य हैं वे, जो मन के दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।
(4) धन्य हैं वे, जो दयावन्त हैं, क्योंकि उन पर दया की जाएगी।
(5) धन्य हैं वे, जो शोक करते हैं, क्योंकि वे शान्ति पाएँगे।
(6) धन्य हैं वे, जो मेल करवाने वाले हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के पुत्र कहलाएँगे।
(7) धन्य हैं वे, जो धर्म के भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किये जाएँगे।
(8) धन्य हैं वे, जिनके मन शुद्ध हैं, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे।

(9) धन्य हो तुम, जो मनुष्य मेरे कारण तुम्हारी निन्दा करें और सताएँ तथा झूठ बोल-बोलकर तुम्हारे विरोध में सब प्रकार की बुरी बात कहें।

(10) तुम पृथ्वी के नमक हो; परन्तु यदि नमक का ही स्वाद बिगड़ जाए, तो फिर वह किस वस्तु से नमकीन किया जा सकेगा? फिर वह किसी काम का नहीं, केवल इसके कि बाहर फेंका जाए और मनुष्यों के पैरों तले रौंदा जाए।

(11) क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जब तक आकाश और पृथ्वी टल न जाएँ, तब तक व्यवस्था से एक मात्रा या एक बिन्दु भी, बिना पूरा हुए, नहीं टलेगा।

(12) यह न समझो कि मैं व्यवस्था या ईशदूतों को नष्ट करने आया हूँ। नष्ट करने नहीं, बल्कि पूरा करने आया हूँ।

(13) आनन्दित और मगन होओ, क्योंकि तुम्हारे लिए स्वर्ग में बड़ा पुरस्कार है, इसलिए कि उन्होंने उन ईशदूतों को, जो तुमसे पहले थे, इसी रीति से सजाया था।

(14) तुम जगत् की ज्योति हो। जो नगर पहाड़ पर बसा हुआ है वह छिप नहीं सकता।

(15) तुम्हारा उजियाला मनुष्यों के सामने ऐसा चमके कि वे तुम्हारे भले कामों को देखकर तुम्हारे पिता की, जो स्वर्ग में हैं, बड़ाई करें।

(16) न ही लोग दिया जलाकर पैमाने के नीचे रखते हैं बल्कि दीवट पर रखते हैं, और तब उससे घर के सब लोगों को प्रकाश पहुँचता है।

## ● चर्च (Church)

चर्च शब्द यूनानी विशेषण का अपभ्रंश है जिसका शाब्दिक अर्थ है ''प्रभु का''। वास्तव में चर्च (और गिरजा भी) दो अर्थों में प्रयुक्त है; एक तो प्रभु का भवन अर्थात् गिरजाघर तथा दूसरा, ईसाइयों का संगठन। चर्च के अतिरिक्त 'कलीसिया' शब्द भी चलता है। यह यूनानी बाइबिल के 'एक्लेसिया' शब्द का विकृत रूप है; बाइबिल में इसका अर्थ है—किसी स्थान विशेष अथवा विश्व भर के ईसाइयों का समुदाय। बाद में यह शब्द गिरजाघर के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। यहाँ पर संस्था के अर्थ में चर्च पर विचार किया जायेगा।

सभी ईसाई प्राय: इस बात से सहमत हैं कि ईसा ने केवल एक ही चर्च की स्थापना की थी, किन्तु अनेक कारणों से ईसाइयों की एकता अक्षुण नहीं रह सकी। फलस्वरूप आजकल उनके बहुत से चर्च अथवा संगठन वर्तमान में हैं जो एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

**(1) रोमन कैथोलिक चर्च**—इसका संगठन सबसे सुदृढ़ है एवं विश्वभर के अधिकांश ईसाई इसके सदस्य हैं।

**(2) प्राच्य चर्च**—पूर्व यूरोप के प्राय: सभी ईसाई जो शताब्दियों पहले रोम से अलग हो गए हैं, अधिकांश आर्थोदोक्स (Orthodox) कहलाते हैं।

**(3) प्रोटेस्टैंट धर्म**—यह 16वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ था।

**(4) ऐंग्लिकन समुदाय**—यद्यपि प्रारंभ ही से ऐंग्लिकन चर्च पर प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रभाव पड़ा, फिर भी अधिकांश ऐंग्लिकन ईसाई अपने को प्रोटेस्टैंट नहीं मानते।

## ● पैगम्बर (Prophet)

पैगम्बर एक व्यक्ति है जो एक धार्मिक सिद्धान्त बनाने या दैवीय आदेश देने के योग्य होते हैं क्योंकि उनमें चमत्कारी गुण होता है। पुजारी तथा पैगम्बर में प्रमुख अन्तर यह है कि पैगम्बर अपने मिशन को एक

व्यक्तिगत आवाहन के रूप में समझते हैं तथा अपनी सत्ता व्यक्तिगत दैवीय मिशन और चमत्कारी या अद्वितीय गुण से प्राप्त करते हैं। पैगम्बर के मिशन का मुख्य लक्षण उसके उन आदेशों या सिद्धान्त को आगे ले जाना है, जिन्हें उसने दैवीय प्रेरणा से प्राप्त किया है।

वैबर के अधिकतर लेख जो पैगम्बरों तथा भविष्यवाणियों से संबन्धित हैं, वे यहूदीवाद तथा इस्राइली समाज से हैं। यह वो स्थान है जहाँ से सामाजिक न्याय के पैगम्बर उत्पन्न हुये थे। इस्राइल में पैगम्बर तुलनात्मक रूप से स्वायत्त श्रेणी के होते हैं। वे कठोर धार्मिक हितों के साथ धार्मिक अन्यासी हैं। वैबर के दृष्टिकोण में पैगम्बरों की जादुई तथा आडम्बरों से भरी प्रतिक्रियाओं के विरोध में लगातार चलने वाले युद्ध का परिणाम तार्किकीकरण है, जो उन्होंने ''याह्व''—यहूदियों का ईश्वर, के लिये अविचलित समर्पण के आधार पर किया।

**नबी ( हजरत मुहम्मद साहब )**

570 ई० में पैगम्बर मोहम्मद साहब का जन्म कुरैश नामक कबीले के एक छोटे से कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम अब्दुल्ला तथा माता का नाम आमिना था। उनके जन्म के दो माह पूर्व ही पिता तथा छ: वर्ष के बाद उनकी माता का देहांत हो गया। इनका पालन पोषण चाचा अबू तालिब और अबू तालिब की पत्नी फातिमा बिन्त असद की देखरेख में हुआ। मोहम्मद साहब के चाचा एक सौदागर थे तथा कारवां का संचालन करते थे। पैगम्बर मोहम्मद साहब ने भी परिवार का परम्परागत व्यवसाय अपना लिया तथा एक सौदागर बन गए। एक युवक के रूप में खदीजा नामक एक समृद्ध महिला ने उन्हें कारवां के माध्यम से अपने व्यापार के संचालन के लिए नौकरी पर रख लिया। हालांकि 25 वर्ष की आयु में मोहम्मद साहब ने उससे विवाह कर लिया और सुखद पारिवारिक जीवन व्यतीत करने लगे। पैगम्बर के जीवन से पता चलता है कि एक सफल व्यापारी और एक सफल पारिवारिक व्यक्ति होते हुए वह पैगम्बर बने।

610 ई० में 40 वर्ष की आयु में वह मक्का के निकटवर्ती पहाड़ी में एक गुफा में बहुधा दिव्यदर्शन करने लगे। वहाँ वह घंटों अल्लाह से बातें करते थे। ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होने से पहले फरिश्ता जिब्रील उनके सम्मुख उपस्थित हुआ और कहा ''तुम जो अपने लिबास में ध्यानमग्न हो, उठो'' और उन्हें यह भी चेतावनी दी, ''अपने ईश्वर को व्यक्त करो, अपने परिधान को साफ करो और सभी प्रकार के प्रदूषण से दूर रहो।''

मोहम्मद साहब इस तरह की अनुभूति से दूर भाग कर स्वयं को छिपाने लगे। किन्तु उनकी पत्नी खदीजा ने उन्हें ईश्वरीय ज्ञान, जो कि उनके पास बहुधा आता था, सुनने के लिए प्रोत्साहित किया। उनकी पत्नी की चचेरी/मौसेरी बहन वारागाह जो कि एक ईसाई थी, ने भी उन्हें काफी प्रोत्साहित किया। अंत में मोहम्मद साहब को यह अनुभव हुआ कि यह संदेश अल्लाह से प्राप्त हो रहे हैं। उन्होंने उसे मक्कावासियों तक पहुँचाना शुरू कर दिया। इस संदेश में इन बातों पर बल दिया गया कि सिर्फ एक ही ईश्वर है और मोहम्मद साहब उनके दूत हैं, कि मूर्तिपूजा और कन्या की हत्या पूर्णतया निषिद्ध है और कि हर व्यक्ति को निर्णय 'कयामत' के लिए तैयार रहना चाहिए।

मुहम्मद साहब ने लोगों को बताया कि ईश्वर एक है, उसकी पूजा करनी चाहिए। उसी ने सबको पैदा किया है। वही सबकी रक्षा करता है। सभी मनुष्य बराबर हैं, कोई ऊँचा नीचा नहीं है। मेहनत की कमाई को उन्होंने सबसे अधिक पवित्र बताया। पड़ोसी को कष्ट देने वाला आदमी कभी स्वर्ग में नहीं जा सकता है।

आरंभ में कुछ लोगों ने उनकी बातें सुनकर मोहम्मद साहब को पैगम्बर के रूप में स्वीकार कर लिया तथा इस्लाम को अपना कर मुसलमान बन गए। जब मोहम्मद साहब ने काबा में मूर्ति पूजा की पीढ़ियों पुरानी प्रथा के विरुद्ध उपदेश देना शुरू किया तो मक्का में अनेक लोगों ने इसका प्रतिरोध किया, और इस प्रकार वे उसके विरोधी बन गए। यहाँ तक कि पैगम्बर ने आर्थिक विषमता की भी भर्त्सना की। उसी समय मक्के वालों

की मार डालने की बात मुहम्मद साहब को पता चल गयी तो वे अपने पास रखी दूसरों की धरोहर अपने चचेरे भाई को सौंपकर अपने मित्र अबुवक्र के साथ मदीने की ओर चले गये। इसके बाद भी मक्के वालों ने उन्हें मारने के लिए बहुत सोचा परन्तु गुफा में छिपे मुहम्मद साहब को न पा सके। मुहम्मद साहब ने मदीने में आकर दो अनाथ बच्चों से जमीन खरीद कर यहीं पहली मस्जिद बनवाई। मुहम्मद साहब के समर्थकों की संख्या बढ़ती चली गयी और उनका यश चारों ओर फैल गया। मुहम्मद साहब ने मक्के वालों से कहा कि तुम डरों नहीं मैं किसी से बदला नहीं लूँगा, मैं सभी को माफ करता हूँ।

मुहम्मद साहब के इस व्यवहार से मक्के वालों पर बड़ा असर हुआ। उन्होंने मुहम्मद साहब से क्षमा माँगी और यहीं रहने की प्रार्थना की। मुहम्मद साहब ने कहा कि मैं आज तुम लोगों से बहुत खुश हूँ। उन्होंने हज करने हर साल मक्का जाने का वायदा किया और मदीने लौटकर वहीं रहने लगे। 632 ई० में तीर्थयात्रा से लौटने के कुछ महीने बाद, मुहम्मद साहब बीमार पड़ गये ओर उनकी मृत्यु हो गयी।

## ● गुरु की भूमिका (Role of Guru)

गुरु का जीवन में होना विशेष मायने रखता है। गुरु हमारे दुर्गुणों को हटाता है। गुरु के बिना हमारा जीवन अंधकारमय होता है। अँधेरे में जैसे हम कोई चीज टटोलते हैं, नहीं मिलती है वैसे गुरु के बिना टटोलने वाली जिन्दगी बन जाती है, जहाँ कुछ भी मिलने वाला नहीं है। जिस व्यक्ति को जीवन में गुरु नहीं मिला उसके जीवन में दु:ख ही दु:ख रहा। वह एक सहजयुक्त जीवन नहीं जी सका। गुरु हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। हमें जीवन जीने का सही रास्ता बताता है जिस रास्ते पर चलकर जीवन को संवारा जा सकता है। एक नई ऊँचाई को छुआ जा सकता है, इसलिये गुरु हमारे लिये किसी मूल्यवान वस्तु से कम नहीं। माता-पिता तो हर किसी के होते हैं लेकिन गुरु का होना जीवन का मार्ग बदलने की तरह होता है।

गुरु इस संसार का सबसे शक्तिशाली अंग होता है। कोई चीज सीखने के लिये बिना गुरु का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। अलग-अलग चीजें सीखने के लिये अलग-अलग गुण के गुरुओं की जरूरत होती है। सिलाई सीखने के लिये सिलाई गुरु का होना जरूरी है। डॉक्टर बनने के लिये डॉक्टर गुरु के पास जाना ही पड़ेगा तभी हम इन कला पर विजय प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा जिन्दगीभर हाथ पाँव चलाते रहिये बिना गुरु के किसी कला को नहीं सीखा जा सकता है। गुरु मिलने मात्र से कुछ नहीं होता है। गुरु के प्रति हृदय में श्रद्धा होनी चाहिये जब हृदय में श्रद्धा होगी तो आप उस कार्य की समस्त बारीकियाँ सीख सकते हैं। गुरु पूर्णरूपेण आपको पारंगत कर देगा।

गुरु बहुत ही सीधा सादा होता है। गुरु भले ही लंगड़ा-लूला या गरीब है लेकिन गुरु-गुरु होता है। वह अपने शिष्य के प्रति कपट व्यवहार नहीं करता है। वह अपने शिष्य को पारंगत कर देना चाहता है। अपने शिष्य को बढ़ते हुये देखना चाहता है। अपने शिष्य का काँट-छाँट करता है, उसकी प्रत्येक कमी को निकालता है। उसे ठोक-ठोककर कुम्हार के घड़े की तरह सुंदर बनाता है। अपने शिष्य को संपूर्ण बनाने में समस्त ज्ञान उसके सामने उड़ेल देता है। यही तो सच्चे गुरु का गुणधर्म होता है। कपटी गुरु का गुण किसी काम का नहीं होता है। वह पूरा ज्ञान अपने शिष्य को नहीं देता है। वह ज्ञान न उसके लिये ही लाभदायक होता है न दूसरे के जीवन को संवार सकता है। गुरु चुनते समय हमें सच्चे गुरु की तलाश करनी चाहिये। कपटी गुरु से हम सच्चे हुनर को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

गुरु को भी कपटी नहीं होना चाहिये यदि शिष्य पूरी तरह से समर्पित रहता है तो उसे सहज होकर जो विद्या ज्ञान लेना चाहता है। उसे देने में पूर्ण तल्लीन होना चाहिये तभी गुरु शिष्य की परंपरा को जिन्दा रखा जा सकता है। गुरु शिष्य की पंरपरा सदियों से चली आ रही है। इस शुद्ध पंरपरा का पालन करने वाला ही सच्चा

गुरु व शिष्य कहलायेगा, तभी जीवन सार्थक हो सकता है, तभी जीवन एक गौरवशाली बन सकता है। गुरु को अपनी मर्यादा पालन करते रहना चाहिये और शिष्य गुरु के प्रति समर्पित होकर शिक्षा लेता है तो वह एक महान लक्ष्य को हासिल कर लेता है। कोई बाधा उन्हें नहीं रोक सकती है।

## ● धार्मिक अल्पसंख्यक (Religious Minority)

धार्मिक अल्पसंख्यक उन लोगों का समूह है जिन्हें समाज में सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक सत्ता का आनुपातिक लाभ नहीं मिल पाता है। यह एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोष में 'अल्पसंख्यक' को कम संख्या या कम भाग के तौर पर परिभाषित किया गया है, जो समग्र के आधे से कम का प्रतिनिधित्व करता है; लोगों का अपेक्षाकृत छोटा समूह, जो अन्य लोगों से नस्ल, धर्म, भाषा या राजनीतिक धारणा में भिन्न है। संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग द्वारा 1946 में नियुक्त अल्पसंख्यक के अधिकारों के संरक्षण की एक विशेष उपसमिति ने 'अल्पसंख्यक' को इस प्रकार परिभाषित किया ''किसी जनसंख्या में गैर-प्रमुख समूह, जो एक स्थिर जातीय, धार्मिक और भाषा संबंधी परंपरा या शेष जनसंख्या से उल्लेखनीय रूप से भिन्न विशेषताएँ रखने की इच्छा रखते हैं।''

वह व्यक्ति जो राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त कोई भी धार्मिक अल्पसंख्यक, जैसे मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, पारसी (जौरास्ट्रियन) और जैन से संबंधित हो। इन समुदायों को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 की धारा 2 के तहत संघ सरकार द्वारा अधिसूचित किया गया है। जैन समुदाय को भी 27 जनवरी 2014 को अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में अधिसूचित किया गया है।

भारत के संविधान में अल्पसंख्यकों को परिभाषित नहीं किया गया है। तथापि इसके अनुच्छेद 29, 30, 350क और 350ख में शब्द 'अल्पसंख्यक' का उपयोग किया गया है। अनुच्छेद 29 में शब्द 'अल्पसंख्यक' की लघु परिभाषा दी गई है और इसमें बताया गया है कि भारत के राज्यक्षेत्र में रहने वाले या इसके किसी भाग में निवास करने वाले नागरिकों का एक वर्ग, जिनकी अपनी एक विशिष्ट भाषा, लिपि या संस्कृति है, उन्हें इनके संरक्षण का अधिकार होगा। अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यकों की दो श्रेणियाँ बताई गई हैं—धार्मिक (धर्म संबंधी) और भाषा संबंधी। अनुच्छेद 350क और 350ख केवल भाषा संबंधी अल्पसंख्यकों से संबंधित है। राष्ट्रीय धार्मिक और भाषायी आयोग की रिपोर्ट दो भागों में विभाजित है।

### भारत में अल्पसंख्यक समूहों के प्रकार और वर्ग
### (Types and Class of Minority in India)

राष्ट्रीय धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यक आयोग की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में अल्पसंख्यकों के दो प्रकारों-धार्मिक अल्पसंख्यकों और भाषा संबंधी अल्पसंख्यकों को मान्यता प्राप्त हैं। वर्तमान में धार्मिक अल्पसंख्यकों के वर्गों में शामिल हैं-मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, पारसी (जौरास्ट्रियन) और जैन। राष्ट्रीय स्तर पर भाषा संबंधी अल्पसंख्यक बहुसंख्या में नहीं हैं। अत: अल्पसंख्यकों के दर्जे पर राज्य/संघ राज्य क्षेत्र के स्तर पर निर्णय लेना अनिवार्य होता है।

## ● अभ्यास-प्रश्न

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

**1.** बौद्ध धर्म बल देता है—

(अ) सत्ता पर (ब) तर्क पर

(स) दोनों सही (द) दोनों गलत

**13.** हिन्दुत्व में जन्म से मृत्यु तक की यात्रा को क्या कहा जाता है—

(अ) जीवन यात्रा (ब) कर्म यात्रा

(स) लोक यात्रा (द) अन्तिम यात्रा

**14.** वह धार्मिक स्थल जो देवी-देवताओं की पूजा करने और ऐसे धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करने के लिए बनाया गया है, जो पूजा के कार्यों से जुड़ी होती हैं—

(अ) चर्च (ब) मन्दिर

(स) घर (द) विद्यालय

**15.** वे तीन प्रमुख कर्त्तव्य जिनका पालन सिक्खों द्वारा किया जाना चाहिए—

(अ) नाम जपना (ब) कीरत करना

(स) वंड छकना (द) ये सभी

**16.** चर्च शब्द यूनानी विशेषण का अपभ्रंश है जिसका शाब्दिक है—

(अ) ईसाइयों का (ब) प्रभु का

(स) संसार का (द) धर्म का

**17.** इस्लाम धर्म का प्रार्थना स्थल है—

(अ) चर्च (ब) मस्जिद

(स) मन्दिर (द) गुरुद्वारा

**18.** मन्दिरों में पूजा गृह तीन प्रकार के होते हैं, जो हैं—

(अ) संधर किस्म (ब) निरंधर किस्म

(स) सर्वतोभद्र (द) ये सभी

**19.** किसके अनुसार, धर्म राजनीतिकरण के अभिकरण के रूप में कार्य करता है—

(अ) दुर्खीम (ब) डॉयसन

(स) ब्रायन विल्सन (द) मैक्समूलर

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

**1.** धार्मिक प्राधिकरणों के संघर्ष का विवेचन कीजिये।

**2.** ग्रंथों की स्वतंत्रता से क्या आशय है?

**3.** 'धार्मिक प्राधिकरण और आधुनिक विचार' पर टिप्पणी लिखिये।

**4.** हिन्दू शब्द का अर्थ समझाइये।

**5.** मानवीय विकास में हिन्दू धर्म का क्या योगदान है?

**6.** हिन्दू धर्म की विशेषतायें लिखिये।

**7.** मनुस्मृति के अनुसार हिन्दू धर्म के दस लक्षण लिखिये।

**8.** इस्लाम धर्म की शिक्षाएँ लिखिये।

**9.** मानवीय विकास में सिक्ख धर्म का स्थान निर्धारित कीजिये।

**10.** सिक्ख धर्म के पाँच महत्वपूर्ण गुरुद्वारों का परिचय दीजिये।

**11.** ईसाई धर्म की प्रमुख विशेषताएँ लिखिये।

**12.** चर्च का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

**13.** गुरु की भूमिका का वर्णन कीजिये।

**14.** अल्पसंख्यक समूहों से क्या तात्पर्य है?

**15.** भारत में संविधान में अल्पसंख्यकों को कैसे परिभाषित किया गया है?

**16.** भारत में अल्पसंख्यक समूहों के कौन-से विभिन्न प्रकार और वर्ग विद्यमान हैं?

**17.** अल्पसंख्यक समूह के अंतर्गत कौन आता है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

**1.** धार्मिक प्राधिकरण से क्या आशय है? धार्मिक प्राधिकरण के प्रकारों का वर्णन कीजिये।

**2.** धार्मिक प्राधिकरण के रूप में सामूहिक स्मृति का वर्णन कीजिये।

**3.** धार्मिक प्राधिकरण के कार्यों का वर्णन कीजिये।

**4.** भारतीय संस्कृति के आधारों का विवेचन कीजिये।

**5.** हिन्दू धर्म का संक्षिप्त परिचय देते हुये मंदिरों की भूमिका का वर्णन कीजिये।

**6.** हिन्दू धर्म में पुरुषार्थ के प्रत्यय को स्पष्ट कीजिये।

**7.** इस्लाम धर्म पर टिप्पणी लिखिये।

**8.** मानवीय विकास में इस्लाम धर्म के योगदान का वर्णन कीजिये।

**9.** 'मस्जिद' पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिये।

**10.** सिक्ख समुदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिये तथा इनके दर्शन और इतिहास का वर्णन कीजिये।

**11.** गुरुद्वारा से क्या आशय है? इसके इतिहास का भी विवेचन कीजिये।

**12.** मानवीय विकास में ईसाई धर्म का स्थान निर्धारित कीजिये।

**उत्तरमाला**

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

**1.** (ब) **2.** (स) **3.** (द) **4.** (स) **5.** (द) **6.** (अ) **7.** (स) **8.** (स) **9.** (द)
**10.** (स) **11.** (ब) **12.** (ब) **13.** (स) **14.** (ब) **15.** (द) **16.** (ब) **17.** (ब) **18.** (द)
**19.** (स)

अध्याय

# 4

# धर्म और शिक्षा
# (RELIGION AND EDUCATION)

## संरचना

- शिक्षा में धर्म (Religion in Education)
- धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा का स्थान (Place of Religious Education in a Secular State)
- भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलन (Religious Reform Movement in India)
- सुधार आन्दोलनों का प्रभाव (Effects of Reform Movements)
- धर्म एवं राजनैतिक व्यवस्था (Religion and Political System)
- धार्मिक रूढ़िवाद (Religious Fundamentalism)
- सांप्रदायिकता (Communalism)
- धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Religion)
- धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन के कारण (Causes of Change in Religious Institutions)
- धर्म का भविष्य अथवा सार्वभौम धर्म (Future of Religion Or Universal Religion)
- कबीरदास (Kabirdas)
- रामकृष्ण परमहंस के उपदेश (Preachings of Ramkrishna Paramhans)
- रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचार (Ideas of Rabindra Nath Thakur)
- महात्मा गाँधी के विचार (Thoughts of Mahatma Gandhi)
- समस्त धर्मों की मूलभूत एकता (Fundamental Unity of All the Religions)
- समाज एवं धर्म में होने वाले परिवर्तन (Changes in Society and Religion)
- अभ्यास-प्रश्न

## ● शिक्षा में धर्म (Religion in Education)

यदि यह मान लिया जाता है कि धर्म की मूल प्रवृत्ति सामान्य हित की प्राप्ति है, तो युवकों की शिक्षा में इसका स्थायी महत्त्व होना आवश्यक है। यदि इसके मार्ग में धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओं के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ न आएँ, तो यह बात समस्त विश्व के लिए भी मान्य हो सकती है। जो लोग किसी विशेष मत, विधि और किसी विशेष धर्म में आस्था रखते हैं, वे अपने धर्म के इस विशेष रूप को अपने अधीन शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने वालों के दिमाग में ठूँस देना चाहते हैं। इस प्रकार भिन्न विचारों वाले स्वत: ही इनके विचारों का विरोध करते हैं। अत: जहाँ अनेक धार्मिक विश्वास होते हैं, वहाँ शिक्षा संस्थाओं में धर्म को निकाल देने की अथवा उसे घटाकर साधारण रूप से रखने की प्रवृत्ति होती है। यहाँ हम इस कठिनाई को सुलझा तो नहीं सकते, पर इसके लिए कुछ निर्देश अवश्य दे सकते हैं।

अपरिपक्व मस्तिष्क वाले बच्चों को किसी विशेष धर्म की शिक्षा देने का प्रयत्न वास्तव में आपत्तिजनक बात है। यदि ऐसा करने में सफलता मिल भी जाती है तो भी धर्म एक सजीव प्रेरणा की अपेक्षा एक मृतप्राय

प्रथा बन जाता है और वह व्यक्तियों की एकता की अपेक्षा उनमें भेद पैदा करता है, उन्हें पृथक् करता है। इस प्रकार वह अपने उद्देश्य में असफल होता है तथा सभी धर्मों के प्रति अरुचि पैदा कर देता है। इतना ही नहीं, इस प्रकार वह सामान्यत: मान्य शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है, जो स्वयं अपने अन्दर से विकसित होते हैं और जिन्हें बाहर से किसी पर थोपा नहीं जा सकता। यह स्पष्ट है कि युवकों को उस धार्मिक (अथवा अधार्मिक) वातावरण के प्रभाव से, जिससे वे घिरे रहते हैं, पूर्णत: बचाना सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में, अन्य बातों की तरह, बच्चे अपने माता-पिता अथवा संरक्षकों तथा अपने से सम्बन्धित धार्मिक संस्थाओं के द्वारा हितकर अथवा हानिकर रूप से अवश्य ही प्रभावित होते हैं। मैं बच्चें की पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जोर दे चुका हूँ, जिन पर माता-पिता का नियन्त्रण एक प्रतिनिधि अधिकारी की तरह होता है। परन्तु इस तरह के धार्मिक प्रभाव को पारिवारिक जीवन में हस्तक्षेप किये बिना नहीं रोका जा सकता। परन्तु यदि ऐसा करना सम्भव हो तो वह लाभ की अपेक्षा अधिक हानिप्रद होगा। स्कूल में भी किसी विशेष अध्यापक द्वारा व्यक्त विचार अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। परन्तु ऐसे प्रभाव अन्य अभावों द्वारा सन्तुलित किये जा सकते हैं। कुछ भी हो, ऐसे प्रभाव उन अनेक प्रकार के प्रभावों में से हैं, जो बच्चे के विकासोन्मुख मस्तिष्क पर उसके अध्यापक के मानवीय वर्गीकरण द्वारा आवश्यक रूप से पड़ते हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि बच्चे में इस प्रकार के अनिवार्य प्रभावों को किसी विशेष प्रकार की धार्मिक शिक्षा से पुष्ट किया जाए अथवा किसी विशेष प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति पैदा की जाए।

यह स्पष्ट है कि कुछ धार्मिक विचारों का शिक्षण दिया जाना चाहिए क्योंकि विभिन्न धार्मिक अवधारणाओं को समझे बिना इतिहास को समझना कठिन होगा। इसी तरह धार्मिक विचारों के मूल्यांकन के बिना साहित्य भी कुछ अर्थों में निरर्थक ही होगा, क्योंकि बहुत से महान् लेखकों के प्रेरणा-स्रोत धार्मिक विचार ही रहे हैं। परन्तु जिन विचारों से लोग प्रभावित हुए हैं, उन्हें जानने और उनका मूल्यांकन करने का अर्थ आवश्यक रूप से उन्हें ग्रहण करना नहीं होता। इसके विपरीत किसी पक्ष को ग्रहण करना स्वाभाविक होता है, और प्राय: वह ठीक भी होता है फिर भी विभिन्न प्रवृत्तियों को जानने और उनके मूल्यांकन का अपना महत्त्व होता है। उदाहरणस्वरूप, ग्रीक लोगों को जानने के लिए विश्व के प्रति उनके दृष्टिकोण से सहानुभूति होनी चाहिए। इसी तरह ऐतिहासिक अभिलेखों और साहित्यिक अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। धार्मिक विचारों और प्रवृत्तियों का इस तरह का अध्ययन मानव-बन्धुत्व के लिए लाभप्रद होगा और इसका हानिकारक प्रभाव न होगा। वर्तमान काल में विभिन्न धार्मिक प्रभावों के ज्ञान और उनके मूल्यांकन के बारे में भी यही कहा जा सकता है। ऐसा करना अब प्रारम्भिक शिक्षा के लिए एक आवश्यक तत्व के रूप में समझा जाने लगा है।

इसके उपरान्त धार्मिक प्रवृत्ति के मूल तत्व को ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। यदि उसे हम सत्यं, शिवं और सुन्दरं के प्रति समर्पण की भावना समझते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उसे अन्य अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञान का अध्ययन विशेषत: सत्यं के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है, कला का अध्ययन सौन्दर्य के प्रति प्रेम जागृत करता है और इतिहास व साहित्य का गम्भीर अध्ययन शुभ के मूल्यांकन तथा अशुभ के प्रति घृणा की ओर स्वत: ही ले जाता है। अच्छाई का वैयक्तिक तथा सामाजिक रूप समझाने के लिए नवयुवकों के सामने इस तरह से खोलकर रख देना चाहिए जिससे उसके प्रति सहानुभूति पैदा हो और वे उसे अपने व्यवहार में लाएँ। परन्तु यह सब कुछ इस ढंग से किया जाए कि ये सब चीजें विश्व के किसी विशेष मत, सिद्धान्त या किसी विशेष विधि पर आधारित न हों, ताकि जिन लोगों के मस्तिष्क अथवा हृदयों पर अपना प्रभाव डालें, वे चाहे अपने से बड़े लोगों के सिद्धान्तों को ग्रहण करें या न करें, परन्तु उन मौलिक शाश्वत

मूल्यों को अवश्य जानें कि मूल रूप से असत्य की अपेक्षा सत्य, असौन्दर्य की अपेक्षा सौन्दर्य, और अशुभ की अपेक्षा शुभ ग्राह्य होते हैं। इस तरह से धार्मिक भावना निरंतर ग्राह्य होती रहेगी भले ही उसका विशेष रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो। यही एक विशेष तत्व है पर इसकी विस्तृत व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती।

**राजनीति, धर्म और शिक्षा (Politics, Religion and Education)**

मौलिकतावादी अधिक स्पष्ट रूप से राजनीति और राज्य से धर्म को अलग करने और इसलिए पंथ-निरपेक्ष राज्य के विचार की कटु आलोचना करते हैं। यदि ईश्वर सर्वत्र सर्वोच्च है तो फिर राजनीतिक शासन भी उसके क्षेत्राधिकार में है और फिर किस तरह से राज्य धार्मिक प्रभाव क्षेत्र से बाहर रह सकता है? वास्तव में राज्य धर्मतंत्र होगा।

इसी प्रकार, मौलिकतावादी शिक्षा पर धार्मिक नियंत्रण की बात करते हैं जिससे कि स्कूलों और कॉलेजों में न सिर्फ सच्चा धर्म पढ़ाया जा सके अपितु इसके विपरीत भी कुछ नहीं पढ़ाया जाए। प्रसिद्ध पोप पत्र, 'माडर्न एरर्स' का पाठ्यक्रम जो 1864 में पोप रियस-नौ द्वारा जारी किया गया था और धार्मिक मौलिकतावाद के पहले आधुनिक वक्तव्यों में एक था, इस विचार की निंदा करने के बाद ''कि सिविल कानून के अनुसार माँ-बाप का अपने बच्चों पर सभी और पूर्ण अधिकार है और सर्वोपरि उन्हें शिक्षा देने और अनुदेश देने का अधिकार है।'' उन ''अधिकतर मिथ्या शिक्षकों'' की भर्त्सना करता है जो युवकों के अनुदेश और शिक्षा पर से कैथोलिक चर्च की स्वागत योग्य शिक्षाओं तथा प्रभाव को समाप्त करने का प्रयास करता है तथा प्रत्येक अनिष्टकारी भूल तथा दुराचरण द्वारा युवकों के कोमल और सहृदय मस्तिष्क को बुरी तरह से दूषित तथा भ्रष्ट कर देता है।'' अतएव मौलिकतावादी आधुनिक सरकार द्वारा संचालित या सरकार समर्थित स्कूलों के बहिष्कार तथा उनके स्थान पर उन स्कूलों का पक्ष समर्थन करते हैं जहाँ शिक्षा की परम्परागत धार्मिक पद्धति का अनुसरण किया जाता है, का पक्ष समर्थन करते हैं। कुछ लोग तो यह भी दलील देते हैं कि उतनी ही शिक्षा आवश्यक है जितना कि धार्मिक ग्रंथों को पढ़ने तथा उनका अनुसरण करने तथा सांसारिक कार्यों की दृष्टि से व्यावहारिक तथा वास्तविक जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त है।

विशेष रूप से सभी कानूनों को प्राचीनतम अथवा संस्थापक ग्रंथों से प्राप्त करना है। विशेष रूप से मुस्लिम मौलिकतावादियों की माँग रहती है कि सभी कानून कुरान और सुन्ना से प्राप्त किये जाएँ। यहाँ भी मौलिकतावादियों की प्रवृत्ति कठोर प्राचीन दंड संहिता पर जोर देने की होती है जैसे हाथ और पाँव काट देना, अपराधी को पत्थर से मारना, सार्वजनिक रूप से कोड़े मारना और अनेक अपराधों और मामूली अपराधों के लिए भी मृत्युदंड देना। उदाहरण के लिए, कुछ अमेरिकी मौलिकतावादी ओल्ड टेस्टामेंट में प्रभु के कानूनों के आधार पर निम्नलिखित अपराधों के लिए मृत्युदंड देने का पक्ष समर्थन करते हैं; ''हत्या, व्यभिचार, असंचत्ता, पशुगामिता, समलैंगिकता, बलात्कार, अगभ्यागमन, कुमारी संभोग, बालकों में असुधार्यता, सैबथ दिवस भंग करना, अपरहण, धर्म त्याग, मूर्ति पूजा, धर्म निंदा, मिथ्या प्रभु को आत्मसमर्पण, मिथ्या सिद्धान्तों का प्रचार, पैगम्बरी का मिथ्या आडम्बर, जादू-टोना और जंतर-मंतर।''

## ● धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा का स्थान (Place of Religious Education in a Secular State)

धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा का क्या स्थान होना चाहिए, इसे निम्न विवरण के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्वतन्त्र भारत का नया संविधान तैयार एवं लागू किया गया। संविधान के अनुसार भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। भारतीय संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्य की ओर से धार्मिक मामलों में कोई पक्षपात नहीं किया जायेगा। वेंकटरमण के शब्दों में, *''राज्य न तो धार्मिक है और न अधार्मिक, न ही धर्म के विरुद्ध है बल्कि धार्मिक सिद्धान्त और कार्यों से तटस्थ है और इस प्रकार धार्मिक मामलों में निरपेक्ष है।''* धर्म-निरपेक्ष राज्य होने के कारण भारत राज्य का धार्मिक-शिक्षा के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण होना आवश्यक है। इस दशा में दो मुख्य प्रश्न सामने आते हैं—पहला यह कि क्या भारत जैसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में बालकों को धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए? तथा द्वितीय यह कि यदि धार्मिक शिक्षा दी जाये तो उसका स्वरूप क्या होना चाहिए? इस विषय में कोई अन्तिम निर्णय लेने के लिए भारत सरकार ने समय-समय पर विभिन्न आयोग गठित किये हैं तथा इन आयोगों ने विस्तृत अध्ययन के आधार पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं तथा महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये हैं। इन आयोगों के धार्मिक-शिक्षा सम्बन्धी सुझावों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

### मुदालियर आयोग के विचार ( सुझाव )
### (Suggestions of Mudaliar Commission)

शिक्षा के विषय में विभिन्न प्रकार के सर्वेक्षण एवं अध्ययन करने के लिए मुदालियर आयोग स्थापित किया गया था। इसे माध्यमिक शिक्षा आयोग भी कहा जाता है। इस आयोग ने धार्मिक शिक्षा के विषय में अपने विचाार प्रस्तुत किये हैं। इस आयोग ने स्वीकार किया है कि मूल रूप से भारत एक धर्मप्रधान देश है अत: यहाँ पर धार्मिक शिक्षा के प्रति लगाव एवं सम्मान होना स्वाभाविक ही है, लेकिन अब विभिन्न कारणों से अनेक लोग धार्मिक शिक्षा को उचित नहीं मानते तथा इसका विरोध भी करते हैं। इसका एक प्रमुख कारण भारत में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों का होना है तथा दूसरा कारण है संवैधानिक रूप से भारत का एक धर्म-निरपेक्ष राज्य होना। इसका एक प्रमुख कारण वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकसित होना भी है।

परन्तु मुदालियर आयोग ने धर्म-निरपेक्षता के तथ्य को ध्यान में रखते हुए अपने विचार इन शब्दों में प्रस्तुत किये हैं, ''क्योंकि भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है, इसलिए इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य में धर्म का कोई स्थान ही नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि राज्य को किसी धर्म-विशेष को समर्थन, सहायता या स्वीकृति नहीं देनी चाहिए। यह बात लोगों के ऊपर छोड़ देनी चाहिए कि वे अपनी इच्छा, परम्परा, संस्कृति और पैतृक प्रभाव के अनुसार किसी भी धर्म को मानें।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र में धार्मिक-शिक्षा की बाध्यता नहीं हो सकती। यह धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मुदालियर आयोग ने धार्मिक शिक्षा के सन्दर्भ में अपना निष्कर्ष इन शब्दों में प्रस्तुत किया है, ''संविधान के अनुसार विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती है। वे केवल ऐच्छिक आधार पर विद्यालय की पढ़ाई के घण्टों के अलावा धार्मिक शिक्षा दे सकते हैं। ऐसी शिक्षा विशेष धर्म के बच्चों को ही, और अभिभावकों तथा विद्यालय प्रबन्धकों की इच्छा से दी जानी चाहिए।'' इसी आयोग की रिपोर्ट के अनुसार भारतीय विद्यालयों में अर्थात् धर्म-निरपेक्ष राज्य के विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य रूप से नहीं प्रदान की जा सकती है। धार्मिक शिक्षा केवल ऐच्छिक रूप से प्रदान की जा सकती है।

### कोठारी आयोग के सुझाव
### (Suggestions of Kothari Commission)

कोठारी आयोग ने भी शिक्षा के क्षेत्र में धार्मिक-शिक्षा के समावेश के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इस आयोग ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है और यहाँ विभिन्न धर्मों के अनुयायी

रहते हैं। इस स्थिति में किसी एक धर्म की शिक्षा विद्यालयों में दी जानी अनुचित है। चूँकि भारत एक धर्मप्रधान देश है अत: विभिन्न धर्मानुयायियों के बीच सौहार्द बनाये रखने के लिए और पारस्परिक सहिष्णुता को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न धर्मों का ज्ञान होना आवश्यक है।

विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों के ज्ञान के अभाव में लोकतान्त्रिक मान्यताओं को भी स्थापित कर पाना प्राय: कठिन ही है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कोठारी आयोग ने सुझाव दिया है कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में धार्मिक ज्ञान का समावेश अवश्य होना चाहिए। इसके लिए पाठ्यक्रम में विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों के सामान्य विवरण का समावेश होना चाहिए। कोठारी आयोग ने न केवल धार्मिक शिक्षा को अपनाने का सुझाव ही दिया है वरन् साथ-साथ उन विधियों का भी परिचय प्रस्तुत किया है जिनके माध्यम से सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। आयोग ने दो प्रकार की विधियों का वर्णन किया है जिनका सामान्य परिचय निम्नलिखित है—

(A) **नैतिक मूल्यों की अप्रत्यक्ष विधि से शिक्षा**—नैतिक मूल्यों की शिक्षा के लिए कुछ अप्रत्यक्ष उपायों को भी अपनाना चाहिए। आयोग ने मुख्य रूप से निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये हैं—

(1) विद्यालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए जो नैतिक मूल्यों की वृद्धि में सहायक हो।

(2) विद्यालय के समस्त शिक्षकों का अपना व्यक्तित्व, आचरण तथा चरित्र नैतिक मूल्यों के विकास के लिए प्रेरणादायक हो।

(3) विद्यालय के समस्त कार्य-कलाप नैतिक भावना से अनुप्रेरित होने चाहिएँ।

(4) विद्यालय में विभिन्न नैतिक सद्गुणों जैसे कि सहकारिता, पारस्परिक सम्मान, ईमानदारी, सच्चाई, अनुशासन तथा सामाजिक दायित्व आदि के विकास के लिए विद्यायल में छात्रों की सभा, पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ, कार्य-अनुभव, सामूहिक खेल-कूद, विषय-क्लब तथा सामाजिक सेवा कार्यक्रमों को संचालित किया जाना चाहिए।

(B) **नैतिक मूल्यों की प्रत्यक्ष विधि से शिक्षा–**अप्रत्यक्ष विधि के अलावा आयोग ने प्रत्यक्ष विधि से भी पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा के समावेश का सुझाव दिया है। इसके लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित उपाय सुझाये गये हैं—

(1) विद्यालय के समय में प्रति सप्ताह एक या दो घण्टे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा के लिए निर्धारित कर देने चाहिए।

(2) शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर नैतिक मूल्यों की शिक्षा रोचक कहानियों के माध्यम से ही प्रदान की जानी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए विश्व के महान धर्मों से महत्वपूर्ण कहानियों का चुनाव करना चाहिए।

(3) चाहे किसी भी शिक्षण विधि को अपनाया जाये, परन्तु नैतिक शिक्षा न तो शेष पाठ्यक्रम से कटकर अलग बढ़ जानी चाहिए और न एक ही घण्टे में सीमित रह जानी चाहिए।

(4) माध्यमिक स्तर पर जिन नैतिक मूल्यों की शिक्षा देनी हो उन पर शिक्षक और छात्रों में बार-बार चर्चा होनी चाहिए।

### धार्मिक शिक्षा के विषय में राधाकृष्णन आयोग के सुझाव
### (Suggestions of Radhakrishnan, Commission About Religous Education)

राधाकृष्णन आयोग ने भी धार्मिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया है। इस आयोग ने स्पष्ट किया है कि भारत में हिन्दू तथा मुस्लिम काल में धार्मिक शिक्षा का पर्याप्त बोलबाला था। अंग्रेजी शासनकाल में धार्मिक

तटस्थता की नीति को अपनाया गया तथा इस काल में शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को किसी प्रकार का स्थान प्रदान नहीं किया गया। परन्तु आयोग ने वर्तमान परिस्थितियों में आध्यात्मिक विकास के लिए धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य स्वीकार किया है। इस आयोग ने किसी एक सम्प्रदाय के धर्म को संकीर्ण रूप में स्वीकार करने का सुझाव नहीं दिया बल्कि विस्तृत रूप में धर्म को स्वीकार किया है।

राधाकृष्णन आयोग ने धार्मिक शिक्षा के स्वरूप पर भी अपने सुझाव दिये हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(1) प्रत्येक शिक्षा-संस्था में दैनिक कार्य प्रारम्भ करने से पहले कुछ मिनट का मौन ध्यान अवश्य करना चाहिए।

(2) बी० ए० के प्रथम वर्ष में बुद्ध, कन्फ्यूशियस, जरथ्रुस्त्र, सुकरात, ईसा, शंकराचार्य, रामानुज, माधवाचार्य, मुहम्मद साहब, कबीर, नानक तथा गाँधी आदि महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियाँ पढ़ाई जानी चाहिएँ।

(3) दूसरे वर्ष में संसार की धार्मिक पुस्तकों में कुछ मानवतावादी चरित्रों के आदर्श कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

(4) तीसरे वर्ष में धर्म के दर्शन की मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राधाकृष्णन आयोग शिक्षा में धार्मिक शिक्षा के समावेश के पक्ष में है।

## ● भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलन (Religious Reform Movement in India)

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय समाज जातिपाँति व भेदभाव से जकड़ा हुआ था, कट्टरपंथी और कठोर था इसमें कुछ ऐसी प्रथाएँ अपनाई जा रही थीं जो मानवता की भावनाओं या मूल्यों पर आधारित नहीं थीं बल्कि केवल धर्म के नाम पर अनुपालित की जा रही थीं। अत: समाज में परिवर्तन आवश्यक था। जब अंग्रेज भारत में आए, तो उन्होंने अंग्रेजी भाषा और साथ ही कुछ नए विचारों का भी प्रचार किया। ये विचार थे स्वतन्त्रता के, सामाजिक और आर्थिक समानता के, मातृत्व के, प्रजातन्त्रवाद के और न्याय के जिनका भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। हमारे देश के सौभाग्य से यहाँ कुछ ऐसे प्रबुद्ध भारतीय थे जैसे राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती एवं कई अन्य जो इन कुरीतियों से लड़ने और समाज को सुधारने के लिए कटिबद्ध थे जिससे भारत भी पश्चिम का मुकाबला कर सके।

### धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों की समान विशेषताएँ (Equality in Religious and Social Reform Movement)

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से कई भारतीय और यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारत के इतिहास, दर्शन, विज्ञान, धर्म और साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया। भारत की अतीत की शानदार उपलब्धियों ने भारतीयों में अपनी सभ्यता के प्रति गर्व की भावना का विकास किया। इस ज्ञान से सुधारकों को अमानवीय प्रथाओं अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए धार्मिक और सामाजिक सुधार कार्य करने में सहायता प्राप्त हुई। क्योंकि अब वे धार्मिक विश्वासों से परिचित हो चुके थे, अत: सामाजिक सुधार के अधिकांश आन्दोलन धार्मिक प्रकृति के थे। ये सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन सभी भारतीय समुदायों में प्रचलित हो गए। उन्होंने धार्मिक कट्टरता, अन्धविश्वासों और पुरोहित वर्ग के आधिपत्य का जमकर विरोध किया। उन्होंने जाति भेद और अस्पृश्यता, पर्दा प्रथा, सती प्रथा, बालविवाह, सामाजिक भेदभाव और निरक्षरता के विरुद्ध कार्य करना प्रारम्भ

कर दिया। कुछ सुधारकों का साथ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज अधिकारी भी दे रहे थे और कुछ सुधारक अंग्रेजी सरकार द्वारा कुछ सुधार कार्यों के पक्ष में बनाए गए अधिनियमों का भी समर्थन कर रहे थे।

### ब्रह्मसमाज और राजा राममोहन राय
### (Brahmo Samaj and Raja Ram Mohan Roy)

आज स्त्री और पुरुष कुछ अधिकारों और स्वतन्त्रता का उपयोग कर रहे हैं। पर क्या आप जानते हैं कि ये सब हमें कुछ सुधारकों के अनथक प्रयत्नों के द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। इस अवधि के महान सुधारकों में राजाराम मोहन राय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम का एक सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया। एक महान साहित्यिक प्रतिभा से युक्त और भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ होते हुए भी उन्होंने ईसाई और इस्लाम धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया जिससे कि हम दोनों धर्मों को भलीभाँति समझ सकें। वह कुछ प्रथाओं के कट्टर विरोधी थे जो उस समय धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त कर चुकी थी।

उनका प्रमुख ध्यान इस ओर था कि हिन्दू धर्म का मूर्ति पूजा, यज्ञादि कर्मकाण्ड और अन्य निरर्थक धार्मिक कृत्यों से कैसे पीछा छुड़ाया जाये। वे पुरोहित वर्ग को इन प्रथाओं को प्रोत्साहित करने के लिए दोषी ठहराते थे। उनकी राय थी कि सभी प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ एकेश्वरवाद अर्थात् एक ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हैं। धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी 1828 ई० में ब्रह्म समाज की स्थापना। ब्रह्म समाज सामाजिक सुधारों का एक महत्वपूर्ण संगठन था। ब्रह्म समाज ने मूर्तिपूजा का विरोध किया और निरर्थक रीति-रिवाजों की निन्दा की। इस समाज ने अपने सदस्यों को किसी भी धर्म का विरोध करने के लिए मना किया। इसके विपरीत यह सभी धर्मों की एकता में विश्वास करता था। राजा राममोहन राय विश्वास करते थे कि मनुष्य को सत्य और परोपकार का मार्ग अपनाना चाहिए और झूठ और अन्धविश्वासों पर आधारित प्रथाओं को छोड़ देना चाहिए।

राजा राममोहन राय केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे बल्कि सामाजिक सुधारक भी थे। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी, 1929 ई० में सती प्रथा को दूर करवाना। राजा राममोहन राय ने अनुभव किया कि हिन्दु महिलाओं की समाज में बहुत ही निम्न स्थिति थी। अत: वे महिलाओं के अधिकारों के प्रबल समर्थक के रूप में कार्य करने लगे। वे कई वर्षों तक सती प्रथा को बन्द करने के लिए कठिन परिश्रम करते रहे। 1818 ई० के प्रारम्भ में वह 'सती' विषय पर जनता में जागृति लाने के लिए निकल पड़ें। एक ओर वे प्राचीन पवित्र ग्रन्थों से उद्धरणों द्वारा ये सिद्ध करने पर जुटे हुए थे कि हिन्दु धर्म सती प्रथा के विरुद्ध है और दूसरी ओर वे लोगों से दया, तर्क और मानवता के आधार पर आग्रह करते थे। उन्होंने कलकत्ता में विधवाओं के रिश्तेदारों को उन्हें स्वयं को जलाने की योजना के विरुद्ध समझाने के लिए जलते हुए श्मशान घाटों का भी दौरा किया। उनके सती प्रथा के विरुद्ध अभियान ने कट्टपंथी हिन्दुओं को नाराज कर दिया जो हर प्रकार से उन पर आक्रमण करने लगे।

**राजा राममोहन राय** भारतीय समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था के भी सख्त विरोधी थे। हृदय की गहराइयों से एक मानवतावादी और प्रजातान्त्रिक विचारों के होने के कारण उन्होंने जाति व्यवस्था के विरोध में लिखना और भाषण देना प्रारंभ किया। एक अन्य महत्वपूर्ण विषय जो उनकी चिन्ता का विषय बना हुआ था, वह था हिन्दु बहुदेवतावाद। और उपनिषदों के अध्ययन से उन्हें यह कहने का बल मिला कि प्राचीन हिन्दु धर्म एकेश्वरवाद में विश्वास करता है इसलिए वे बहुदेववाद और मूर्तिपूजा के विरुद्ध हैं। वास्तव में वह कोई नया धर्म नहीं प्रारम्भ करना चाहते थे बल्कि वैदिक धर्म को रूढ़िवादी अज्ञानतापूर्ण अन्धविश्वासों से मुक्त करवाना चाहते थे। उन्होंने घोषणा की कि सभी धर्मों और सम्पूर्ण मानवता के लिए भी एक ही भगवान है। उन्होंने बंगाली

और अंग्रेजी में लिखा। वह अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। वह फारसी भाषा में भी प्रवीण थे और प्रारम्भ में उनके कुछ बहुत अधिक उदार और तर्कपूर्ण विचार उस भाषा में ही प्रकाशित हुए।

उन्होंने बहुविवाह (एक व्यक्ति का कई पत्नियाँ रखना) तथा बालविवाह का भी विरोध किया। वे महिलाओं की शिक्षा पर भी बल देते थे और उनके जायदाद में उत्तराधिकार का भी समर्थन करते थे। वे महिलाओं की पराधीनता के भी सख्त विरोधी थे और इस बात का भी पूर्ण खण्डन करते थे कि स्त्रियाँ बुद्धि में या नैतिकता में किसी भी प्रकार से कम हैं। उन्होंने विधवा विवाह का भी पूर्ण समर्थन किया।

अपने विचारों को क्रियान्वित करने के लिए राजा राममोहन राय ने 1828 ई० में ब्रह्म सभा की नींव डाली जो बाद में ब्रह्म समाज के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके द्वार सभी के लिए खुले थे चाहे वे किसी भी वर्ण के, विश्वास के, जाति के, राष्ट्रीयता या धर्म के ही क्यों न हो। वे मानवता के सम्मान पर बल देते थे, मूर्ति पूजा का विरोध करते थे और सती प्रथा जैसी कुरीतियों का जमकर विरोध करते थे। यह कोई अलग धर्म का प्रचार करने के लिए नहीं बनी थी बल्कि एक ऐसा स्थान था जहाँ एक ईश्वर में विश्वास रखने वाले लोग मिल सकें और प्रार्थना कर सकें। यहाँ कोई मूर्ति नहीं होती थी और न ही किसी प्रकार के यज्ञ या पूजा पाठ का विधान था।

द्वारकानाथ टैगोर के सुपुत्र देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817-1905) (ब्रह्मसमाज के संस्थापक सदस्य) ने राजा राममोहन राय के बाद ब्रह्मसमाज का नेतृत्व संभाला और राजा राममोहन राय के विचारों का समर्थन करते हुए ब्रह्मसमाज में नवजीवन का संचार किया। केशवचन्द्र सेन (1838-1884) ने टैगोर से समाज का नेतृत्व प्राप्त किया। ब्रह्मसमाज के आदर्श थे–व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय एकता, दृढ़ विश्वास तथा सहयोग और सभी सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक संबंधों का लोकतान्त्रिकरण। इस प्रकार यह पहली सुसंगठित संस्था बन गई जो राष्ट्रीय जागृति को प्रोत्साहित कर रही थी और भारतीयों के लिए एक नये युग का सूत्रपात कर रही थी। लेकिन फिर आन्तरिक मतभेद के कारण यह संस्था कमजोर पड़ गई और इसका प्रभाव केवल शहर में रहने वाले पढ़े लिखे वर्ग तक ही सीमित रहा परन्तु इसने बंगाल के बौद्धिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ा।

### प्रार्थना समाज और राणाडे
### (Prarthana Samaj and Ranade)

प्रार्थना समाज की स्थापना सन् 1876 ई० में बम्बई में डा० आत्माराम पाण्डुरंग (1825 ई०–2898 ई०) द्वारा की गई थी। इसका उद्देश्य था विवेकपूर्ण पूजा आराधना और समाज सुधार का कार्य करना इसके दो प्रमुख सदस्य थे श्री आर० सी० मजुमदार, और न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द राणाडे। इन्होंने अन्तर्जातीय भोज, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा पुनर्विवाह और महिलाओं तथा दलित वर्ग के उद्धार जैसे समाज सुधार के कार्यों में अपना जीवन लगा दिया।

महादेव गोविन्द राणाडे (1842 ई०–1901 ई०) ने अपना समस्त जीवन प्रार्थना समाज को ही समर्पित कर दिया था। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह ऐसोसिएशन (1861) तथा दक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की। उन्होंने पूना सार्वजनिक सभा को भी स्थापित किया। राणाडे के लिए धर्म सुधार और समाज सुधार में कोई अन्तर नहीं था। उनका यह भी विश्वास था कि यदि धार्मिक विचार कट्टरपंथी होंगे तो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकेगी।

यद्यपि प्रार्थना समाज पर ब्रह्मसमाज में सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव था फिर भी इसने मूर्तिपूजा और जातिप्रथा का इतना गहरा विरोध नहीं किया। ये वेद को भी अन्तिम वाक्य नहीं समझते थे, ये पुनर्जन्म और

अवतारवाद के सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं करते थे। इसका एकमात्र केन्द्रीय विचार था 'एकेश्वरवाद में विश्वास करना।'

### डेरोजियो और युवा बंगाल आन्दोलन
### (Derozio and Young Bengal Movement)

हेनरी लुई विवियन डेरोजियों ने कलकत्ता के हिन्दू कॉलेज में एक प्राध्यापक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। वह स्काटलैण्ड से कलकत्ते में घड़ियाँ बेचने के लिए आए थे लेकिन बाद में उन्होंने बंगाल में आधुनिक शिक्षा के प्रसार को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। डेरोजियों ने अपने अध्यापन के माध्यम से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया और उन्होंने साहित्य दर्शन, इतिहास और विज्ञान पर वाद-विवाद एवं चर्चा करने के लिए एक संघ की भी स्थापना की। उन्होंने अपने अनुयायियों और विद्यार्थियों को सभी सत्ताओं को चुनौती देने के लिए प्रेरणा दी। डेरोजियों और उसके प्रसिद्ध अनुयायी जिन्हें लोग डोरोजियन और युवा बंगाल के नाम से बुलाते थे, आग उगलने वाले देशभक्त माने जाते थे। वे फ्रेंच विद्रोह (1789 ई०) के आदर्शों और ब्रिटेन के उदार विचारों का सम्मान करते थे। डेरोजियो मात्र 22 वर्ष की उम्र में हैजे से मृत्यु को प्राप्त हुए। डेरोजियों की सेवामुक्ति और अचानक देहान्त के बाद भी युवा बंगाल आन्दोलन जारी रहा। नेतृत्व का अभाव हो जाने पर भी इस वर्ग के सदस्यों ने अपने क्रान्तिकारी विचारों को अध्यापन और पत्रकारिता के माध्यम से जारी रखा।

### ईश्वर चन्द्र विद्यासागर
### (Ishwar Chandra Vidyasagar)

बंगाल के एक अन्य प्रसिद्ध सुधारक थे ईश्वर चन्द्र विद्यासागर (1820 ई०-1891 ई०) मूर्धन्य विद्वान होते हुए उन्होंने महिलाओं की मुक्ति के विषय में अपने जीवन को समर्पित कर दिया। उन्हीं के ही अशक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप विधवाओं के विवाह के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ 1856 के एक कानून के द्वारा दूर हो सकीं। उन्होंने बालिकाओं की शिक्षा को बढ़ाने में अहम भूमिका निभाई और स्वयं लड़कियों के कई स्कूल खोले और खुलवाए। विद्यासागर ने धार्मिक प्रश्नों के विषय में अधिक चिन्ता नहीं दिखाई। फिर भी वे उन लोगों के विरुद्ध थे जो धर्म के नाम पर सुधारों का विरोध करते थे।

### सुधार आन्दोलनों का पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्रसार
### (Spread of Reform Movement in Western and South India)

बंगाल के बाद जो सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र जहाँ सुधार आन्दोलन फैला वह था पश्चिमी भारत। **बाल शास्त्री बाम्बेकर** बम्बई में प्रारम्भिक सुधारकों में से एक थे। उन्होंने ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता पर आक्रमण किया और हिन्दु धर्म का सुधार करने का प्रयत्न किया।

1849 में **परमहंस मण्डली** पूना, सतारा और महाराष्ट्र के अन्य नगरों में स्थापित की गई। इनके अनुयायी एक ईश्वर में विश्वास करते थे और जाति प्रथा का विरोध करते थे। इनकी बैठकों में इनके सदस्य निम्न जाति के लोगों द्वारा बनाया हुआ भोजन करते थे। वे महिलाओं की शिक्षा का समर्थन करते थे और विधवा विवाह में पक्ष में थे। **महादेव राणाडे** सोचते थे कि सामाजिक सुधारों के बिना राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी किसी प्रकार की उन्नति कर पाना सम्भव नहीं है। वह हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे।

पश्चिमी भारत के दो अन्य महान सुधारक थे **गोपाल हरि देशमुख लोकहितवादी,** और **ज्योतिराव गोविन्दराव फुले** जिन्हें **ज्योतिबा** फूले के नाम से जाना जाता है। उन्होंने नारियों के उद्धार के लिए कार्य किये, महिलाओं और दलितों के हितों का बीड़ा उठाया। ज्योतिबा फूले ने अपनी पत्नी के साथ 1857 ई० में पूना में

एक बालिका विद्यालय खोला। उन्होंने दलितों के बच्चों के लिए भी एक स्कूल प्रारम्भ किया। ज्योतिबा फूले महाराष्ट्र में विधवा विवाह आन्दोलन के अग्रणी सेनानी बने। उन्होंने ब्राह्मणों के आधिपत्य को चुनौती दी और जनसामान्य को संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने किसानों के हितों की भी वकालत की और महाराष्ट्र में ग्रामीण विकास के क्षेत्र में सक्रिय योगदान किया। ज्योतिबा को उनके **दीन दुःखियों** के उद्धार कार्य के लिए 'महात्मा' की उपाधि दी गई। 1873 ई० में उन्होंने अपने आन्दोलन को सशक्त और लोकप्रिय बनाने के लिए 'सत्यशोधक संस्था' की स्थापना की।

देश के दक्षिणी भाग में **कन्दुकुरी वीरेसलिंगम** (1848 ई०–1919 ई०) ने आन्ध्र में विधवा विवाह और बालिकाओं की शिक्षा के समर्थन में आन्दोलन का नेतृत्व किया। मद्रास में 1864 ई० में स्थापित 'वेद समाज' ने जातिगत भेदभाव का खण्डन किया और विधवा विवाह तथा नारी शिक्षा के लिए सक्रिय योगदान किया। इस समाज ने रूढ़िवादी हिन्दूधर्म के अन्ध विश्वासों और रीति-रिवाजों की निन्दा की और एक सर्वोच्च परमात्मा की शक्ति में विश्वास का प्रचार किया। चेम्बेटी श्रीधरालु नायडू वेद समाज के सबसे लोकप्रिय नेता थे। उन्होंने 'वेद समाज' के ग्रन्थों को तमिल और तेलुगु में अनूदित किया।

तथाकथित दलितवर्ग और भारतीय समाज के उत्पीड़ित वर्गों के उत्थान के लिए विशेषरूप से प्रयत्नशील एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन **नारायण गुरू द्वारा** केरल में (1854 ई०–1928 ई०) में प्रारम्भ किया गया। 1903 में उन्होंने 'श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्' नामक संस्था सामाजिक सुधार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए स्थापित की। श्री नारायण गुरू जाति के आधार पर भेदभाव को निरर्थक समझते थे और वे अपने प्रसिद्ध विचार–एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर' का प्रतिपादन करते थे।

### स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज
### (Swami Dayananda Saraswati and Arya Samaj)

आप किसी दिन आर्य समाज के सत्संग में जाकर देखिए। आप वहाँ अनेक लोगों को सत्संग में भाग लेते देखेंगे। वे यज्ञ करते हुये और वेदपाठ करते हुये भी दिखाई देंगे। यह मूलशंकर के मौलिक योगदान का ही कमाल है जो गुजरात से धार्मिक सुधार आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि थे। बाद में वे दयानन्द सरस्वती (1824 ई०–1883 ई०) जाने गए। उन्होंने 1875 ई० में आर्यसमाज की स्थापना की। उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सबसे प्रभावशाली धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन का नेतृत्व किया। उनका मानना था कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने वेद रूपी ज्ञान मानव मात्र के लिए दिया और आधुनिक विज्ञान के सभी मूल तत्त्व वेदों में खोजे जा सकते हैं। वे मूर्ति पूजा के विरोधी थे, कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद, विशेष रूप से प्रचलित जातिपांति के दुर्व्यवहार और ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित हिन्दू धर्म की कट्टरता की निन्दा करते थे। उन्होंने पश्चिमी विज्ञान के अध्ययन का समर्थन किया। इन्हीं सिद्धान्तों के प्रचार हेतु उन्होंने पूरे देश में भ्रमण किया और 1875 ई० में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की।

उनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' है। उनके लेख और प्रवचन हिन्दी भाषा में होने के कारण सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रचलित हो गए। आर्यसमाज के सदस्य बालविवाह का विरोध करते थे और विधवा विवाह का समर्थन। यह आर्य समाज उत्तर प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में तीव्रता से लोकप्रिय होता चला गया।

समूचे उत्तरी भारत में शिक्षा के प्रचार और प्रसार कार्य के लिए बालकों और बालिकाओं के विद्यालयों और महाविद्यालयों का जाल बिछा दिया गया। लाहौर दयानन्द एंग्लो-वैदिक स्कूल शीघ्र ही पंजाब के एक प्रसिद्ध कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। इन विद्यालयों में आधुनिक विधियों से हिन्दी और अंग्रेजी के माध्यम

से पढ़ाई करवाई जाती थी। लाला हंसराज ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1902 में स्वामीश्रद्धानन्द ने हरिद्वार में शिक्षा के पारम्परिक शास्त्रों के अध्ययन के लिए गुरूकुल की स्थापना की। यह प्राचीन आश्रमों की परिपाटी पर बनाया गया था।

आर्य समाज ने भारत की जनता में स्वाभिमान और आत्मविश्वास की भावना को भरने का प्रयत्न किया। इससे राष्ट्रीयता का विकास हुआ। इसी के साथ-साथ इसका एक प्रमुख उद्देश्य था हिन्दुओं के अन्य धर्मों में परिवर्तन को रोकना। जो हिन्दू मुस्लिम या ईसाई बन गए थे उनको वापिस हिन्दू धर्म में लाने के लिए शुद्धि संस्कार का भी विधान दिया गया।

### रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द (Ramakrishna Mission and Swami Vivekanand)

**गदाधर चट्टोपाध्याय** (1836 ई०-1886 ई०) एक निर्धन ब्राह्मण पुजारी थे, जो बाद में रामकृष्ण परमहंस के नाम से जाने गये। उनकी शिक्षा प्रारम्भिक स्तर से आगे न बढ़ पाई। उन्होंने दर्शन तथा शास्त्रों में कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की। उन्होंने अपना जीवन ईश्वर को समर्पित कर दिया था। उनका विश्वास था कि परमात्मा तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं और मानव सेवा ही ईश्वर की सेवा है, क्योंकि मानव ईश्वर का ही मूर्त रूप है। उनकी शिक्षाओं में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान न था। मानवता में ही दिव्यता दिखाई देती थी और मानवता की सेवा को ही वे मोक्ष का साधन मानते थे।

नरेन्द्र नाथ दत्त (1863 ई०-1902 ई०) रामकृष्ण परमहंस के सबसे प्रिय शिष्य थे जो बाद में **विवेकानन्द** के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने गुरु रामकृष्ण के सन्देश को पूरे संसार में, विशेष रूप से, अमेरिका और यूरोप में प्रसारित करने का प्रयत्न किया। विवेकानन्द स्वयं भारत की आध्यात्मिक विरासत पर गर्व का अनुभव करते थे परन्तु उनका विश्वास था कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र दूसरों की संगति के बिना अलग-थलग रह कर जीवित नहीं रह सकता है। वे जाति प्रथा, कठोर कर्मकाण्ड तथा सदियों पुराने अन्धविश्वासों के सख्त विरोधी थे और स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र चिन्तन और समानता के पक्षपाती थे।

विवेकानन्द हृदय की गहराइयों से सच्चे देशभक्त थे। उन्हें भारतीय संस्कृति के विकास में अगाध विश्वास था। भारतीय संस्कृति के महत्त्व और गौरव को पुनर्जीवित करने का अदम्य उत्साह था। उन्होंने भारतीय संस्कृति के उत्थान में हर सम्भव प्रकार से अपना योगदान किया।

स्वामी विवेकानन्द ने सभी धर्मों में एकता के रामकृष्ण जी की शिक्षा का प्रचार करने में स्वयं को लगा दिया। उन्होंने वेदान्त दर्शन का प्रचार किया जिसे वे सबसे अधिक विवेकपूर्ण दर्शन मानते थे।

जनसाधारण के उत्थान पर अत्यधिक बल देना ही विवेकानन्द के सामाजिक दर्शन का मुख्य लक्षण था। उनके अनुसार निर्धन और दलित लोगों की सेवा ही सर्वोत्तम धर्म है। इसी सेवा को संगठित करने के लिए उन्होंने 1897 ई० में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। आज तक इस मिशन ने राष्ट्रीय आपदाओं के समय समाज सेवा जैसे बाढ़, अकाल और महामारी के समय करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इसके द्वारा अनेक विद्यालय, अस्पताल और अनाथालय चलाए जा रहे हैं।

1893 ई० में उन्होंने अमेरिका में शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन (धर्मों की संसद) में भाग लिया। उन्होंने सिद्ध किया कि वेदान्त सभी लोगों से ही सम्बद्ध है न कि केवल हिन्दुओं से उनके भाषण का अन्य देशों के लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा, और इस तरह विश्व की दृष्टि में भारतीय संस्कृति के महत्व और गौरव में भी आशातीत वृद्धि हुई। यद्यपि उनका मिशन केवल धार्मिक प्रकृति का ही था लेकिन स्वामी

विवेकानन्द राष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षों में सुधार करने में रूचि रखते थे। वह लोगों की निर्धनता और दयनीय दशा को सुधारने के लिए बहुत चिन्तित रहते थे और कहते थे कि जन साधारण की परवाह न करना एक पाप है। वह स्पष्ट रूप से कहते थे हम स्वयं अपनी दु:खी और गिरी हुई स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। ''वे लोगों का अपने मोक्ष के लिए स्वयं प्रयत्नशील होने की सलाह देते थे। इसी उद्देश्य से इस कार्य के लिए पूरी निष्ठा से जुड़े हुए कार्यकर्त्ताओं की टोलियों को रामकृष्ण मिशन की ओर से प्रशिक्षित किया गया। इस प्रकार विवेकानन्द ने सामाजिक अच्छाई या समाज सेवा पर बल दिया।

### थियोसोफिकल सोसाइटी और एनी बेसेन्ट
### (Theosophical Society and Annie Besant)

आधुनिक भारतीय संस्कृति समाज, और धर्म के इतिहास में थियोसोफिकल सोसायटी ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसकी स्थापना अमेरिका मे एक रशियन अध्यात्मज्ञानी मैडम एच०पी० ब्लेवेत्स्की और एक अमेरिकन कर्नल एच०एस० आलकॉट ने 1875 ई० में की। इसका मुख्य उद्देश्य था प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान का अध्ययन, मानव में अन्तर्निहित शक्तियों का विकास और एक सर्वव्यापी विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करना।

भारत में इस सोसायटी का आरम्भ सन् 1879 ई० में किया गया और इसका मुख्यालय 1886 ई० में मद्रास के समीप अडयार में स्थापित किया गया था। 1893 ई० में एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में इसका प्रभाव बढ़ता गया। एनी बेसेन्ट ने देश के स्वतन्त्रता संग्राम में अहम भूमिका का निर्वाह किया था। उन्होंने तथा उनके साथियों ने हिन्दुओं के प्राचीन धर्म, जोरास्ट्रियनिज्म और बौद्ध धर्म के पुनरोद्धार और विकास के कार्य में अपने आपको समर्पित कर दिया। उन्होंने आत्मा के शरीर बदलने (पुनर्जन्म) के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया। उन्होंने साथ ही सार्वभौमिक भ्रातृत्व भावना पर भी बल दिया। उन्होंने शिक्षित भारतीयों को अपने देश के प्रति गर्व अनुभव करने को प्रोत्साहित किया। एनी बेसेन्ट का आन्दोलन ऐसे पाश्चात्य देशों के लोगों द्वारा चलाया जा रहा था जो भारत की धार्मिक और आध्यात्मिक परम्पराओं को बहुत महत्त्व देते थे। इससे भारतीयों को पुन: आत्म विश्वास प्राप्त करने में सहायता मिली।

वस्तुत: एनी बेसेन्ट द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किए गए कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू महाविद्यालय की स्थापना की जिसको बाद में मदन मोहन मालवीय जी को सौंप दिया। मालवीय जी ने इस महाविद्यालय को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया। यद्यपि थियोसोफिकल सोसायटी बहुत अधिक जन साधारण में लोकप्रिय नहीं हो पाई, परन्तु एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में भारतीयों को जगाने के लिए जो कार्य किया गया वह उल्लेखनीय था। उन्होंने भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने के लिए बहुत कार्य किया। थियोसोफिकल सोसायटी का अड्यार में मुख्यालय ज्ञान का एक प्रमुख केन्द्र बन गया जिसके पुस्तकालय में संस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध थे।

इस सोसायटी ने अस्पृश्यता और महिलाओं के उद्धार के लिए बहुत संघर्ष किया। एनी बेसेन्ट ने अपना सम्पूर्ण जीवन भारतीय समाज की सेवा में लगा दिया। उन्होंने अपने मिशन का इन शब्दों में वर्णन किया—''भारत के प्राचीन धर्मों को पुनर्जीवित करना और सुदृढ़ करना ही प्रथम उद्देश्य है। इससे नया आत्म सम्मान अतीत के प्रति गौरव, और भविष्य में विश्वास उत्पन्न होगा जिसके फलस्वरूप देश प्रेम की भावना विकसित होगी और राष्ट्र के पुनर्निर्माण को बल मिलेगा।''

भारत में एनी बेसेंट की अनेक सफलताओं में से एक सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना है। एनी बेसेंट ने भारत को अपना स्थायी निवास बनाया और भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लिया। वे कहती थीं।''—भारत की कई अन्य आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता है–राष्ट्रीय भावना का विकास और एक ऐसी शिक्षा जो भारतीय विचारों पर आधारित हो और पश्चिमी संस्कृति और विचारों से मुक्त होनी चाहिए।'' उन्होंने सदा भारतीयों के लिए स्वशासन (Home rule) का समर्थन किया और स्वशासन के संदेश के प्रसार के लिए होमरूल लीग की स्थापना की। पूरे भारत में थियोसोफिकल सोसायटी की शाखाएँ स्थापित की गईं। उन्होंने एक पत्रिका थियोसोफिस्ट भी निकाली जिसका व्यापक प्रसार था। सोसायटी ने विशेषत: दक्षिणी भारत में सामाजिक और धार्मिक सुधारों में बहुत योगदान कियां इसके अधिकांश कार्य श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा ही प्रभावित थे।

### अलीगढ़ आन्दोलन और सैय्यद अहमद खाँ (Aligarh Movement and Sir Syed Ahmed Khan)

अभी आपने हिन्दूधर्म की प्रथाओं और सामाजिक संस्थाओं में सुधार के विषय में पढ़ा। ऐसा ही एक सुधारवादी आन्दोलन इस्लाम धर्म में भी शुरू हुआ था। उच्च वर्गीय मुसलमान पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के सम्पर्क में आने से बचते रहे और सन् 1857 ई० के विद्रोह के बाद ही उनमें धार्मिक सुधार के आधुनिक विचार पनपने प्रारम्भ हुए। इस दिशा में नवाब अब्दुल लतीफ (1828-1893) द्वारा कलकत्ता में 1863 ई० में स्थापित मुहम्मदन लिटरेरी सोसायटी के बाद ही हुआ। इस सोसायटी ने आधुनिक विचारों की रोशनी में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर विचार विमर्श को प्रोत्साहन दिया और साथ ही उच्च और मध्य वर्ग के मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा (अंग्रेजी शिक्षा) अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। मुस्लिम जनता पर चिश्ती सूफी सन्तों के आन्दोलनों का भी प्रभाव पड़ा जिन्होंने न केवल परमात्मा को समर्पण कर देने की शिक्षा दी अपितु संतों की भी पूजा को भी प्रोत्साहित किया। एक अन्य आंदोलन दिल्ली में शाह वली उल्लाह से संबंधित है, जिन्होंने कट्टर धार्मिक प्रथाओं का विरोध किया और शिया सम्प्रदाय को तथा एकेश्वरवाद को पुनर्जीवित किया। लखनऊ में फिरंगीमहल की दार्शनिक और ज्ञानमयी परम्परा को नये शैक्षिक पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया और सम्पूर्ण भारत में 18वीं और 19वीं शताब्दी में इसका प्रचार भी किया गया।

मुस्लिम सुधारकों में सबसे ज्यादा उल्लेखनीय नाम उत्तर प्रदेश में रायबरेली के सैय्यद अहमद का था। उन्होंने बुनकरी उद्योग नगरी इलाहाबाद और पटना में उद्योग की गिरती स्थिति के कारण मुस्लिम कलाकारों को आकर्षित किया और उन्हें सामाजिक अस्थिरता के वातावरण में एक दृढ़ विश्वास के साथ सम्मान प्राप्त करने की सलाह दी। उन्होंने अनुभव किया कि जब एक मुस्लिम ब्रिटिश राज्य के परिवर्तित वातावरण के अनुसार अपने को न ढालेंगे, तब तक वे सम्मान और सम्पन्नता के नये अवसरों से वंचित ही रहेंगे। वे आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से बहुत अधिक प्रभावित थे और सारे जीवन इस्लाम के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करने के लिए काम करते रहे। उन्होंने कुरान की व्याख्या बुद्धिवाद और विज्ञान की रोशनी में की। उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे आलोचनात्मक दृष्टिकोण और विचारों की स्वतन्त्रता को अपनाएँ। उन्होंने धर्मान्धता, संकीर्णता और अलग–थलग रहने की प्रवृत्ति के विरूद्ध भी लोगों को सावधान किया। उन्होंने लोगों को उदारवृत्ति वाला और सहनशील बनने का उपदेश दिया। 1883 ई० में उन्होंने कहा ''अब हम दोनों ही (हिन्दू और मुस्लिम) भारत की हवा में ही सांस लेते हैं, गंगा या यमुना का पवित्र जल पीते हैं, और यहीं की पैदावार खाकर जीवित हैं। हम एक राष्ट्र हैं और देश की प्रगति और भलाई हमारी एकता, पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम पर निर्भर है जबकि पारस्परिक असहमति जिद और विरोध तथा पारस्परिक दुर्भावनाएँ निश्चय ही हमारा सर्वनाश कर देंगी।''

सैय्यद अहमद खाँ का सही विश्वास था कि अकेलेपन की प्रवृत्ति मुसलमानों को बर्बाद कर देगी और इसको रोकने के लिए उन्होंने बाहरी दुनिया की सांस्कृतिक शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने ब्रिटिश शासकों की मुस्लिमों के प्रति दुर्भावना को भी दूर करने का प्रयत्न किया जिन्हें वे अपना असली शत्रु समझते थे।

उनका विश्वास था कि मुस्लिमों का धार्मिक और सामाजिक जीवन आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान और संस्कृति की सहायता से सुधारा जा सकता है। इसलिए आधुनिक शिक्षा को बढ़ावा देना उनका पहला कार्य था। एक सरकारी अधिकारी होने के कारण उन्होंने कई स्थानों पर विद्यालय खोले। उन्होंने कई पश्चिमी पुस्तकों का उर्दु में अनुवाद करवाया। उन्होंने अलीगढ़ में मुहम्मदन ऐंग्लो-ओरियन्टल कॉलेज की 1875 ई० में स्थापना की। यह कॉलेज पाश्चात्य विज्ञानों और संस्कृति का प्रचार करने के लिए बनाया गया था। बाद में यहीं कॉलेज अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के नाम से विकसित हुआ।

सैय्यद अहमद खाँ द्वारा मुसलमानों के बीच शुरू किया गया उदार सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन अलीगढ़ आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि यह आन्दोलन अलीगढ़ से ही प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन का केन्द्र एंग्लो-ओरियन्टल कॉलेज ही था। यह आन्दोलन मुस्लिमों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार हेतु चलाया गया था यद्यपि इसका उद्देश्य इस्लाम से नाता तोड़ना बिल्कुल भी न था। यह भारतीय मुस्लिमों के लिए एक केन्द्रीय शैक्षिक संस्था बन गया था। इसके बाद मुस्लिमों में जो भी जागृति आई, वह सब अलीगढ़ आन्दोलन के ही कारण थी, देश के विभिन्न भागों में बिखरी हुई मुस्लिम जनता के लिए एक केन्द्रीय स्थल प्रदान किया। इसने उन सब के विचारों को एक सामान्य भावस्थल प्रदान किया और एक समान भाषा उर्दु प्रदान की। उर्दू में ग्रन्थों को सम्पादित करने के लिए एक मुस्लिम प्रेस भी विकसित किया गया। सैय्यद अहमद के प्रयत्नों से सामाजिक वातावरण में भी इसी के साथ विस्तार हुआ। उन्होंने सामाजिक सुधारों के लिए भी कार्य किया। उन्होंने महिलाओं की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया और पर्दा प्रथा के बहिष्कार पर भी बल दिया। वह बहुविवाह के भी विरूद्ध थे।

इसी के साथ अनेक अन्य सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन भी हुए जिन्होंने किसी न किसी रूप में मुस्लिम जनता में राष्ट्रीय जागृति लाने का प्रयत्न किया। मिर्जा गुलाम अहमद ने 1899 ई० में अहमदिया आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश में अनेक विद्यालय और महाविद्यालय खोले गए जो आधुनिक शिक्षा देते थे। धर्म के क्षेत्र में भी इस आन्दोलन के अनुयायी इस्लाम की सार्वभौमिक और मानवतावादी प्रकृति पर बल देते थे। वे हिन्दू और मुस्लिम एकता के भी पक्षपाती थे।

आधुनिक भारत के महान कवियों में से एक मुहम्मद इकबाल (1876 ई०-1938 ई०) ने भी अपनी कविता के माध्यम से मुस्लिम युवा पीढ़ी और हिन्दुओं के दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोण को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने ऐसा गतिशील दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया जो पूरे विश्व को बदल कर रख सकता है। वह मूलत: एक मानवतावादी थे।

### पारसियों में सुधार आन्दोलन
### (Parsi Reform Movement)

पारसियों में धार्मिक सुधार 19वीं शताब्दी के मध्य मुम्बई में प्रारम्भ हुए। 1851 ई० में रहनुमाई मजदायसन सभा अर्थात धार्मिक सुधार संघ की स्थापना नारोजी फरदौनजी, दादाभाई नरोजी, एस०एस०

बंगाली तथा अन्यों द्वारा की गई। उन्होंने रस्त गुफ्तार नामक एक जर्नल भी पारसियों में सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए प्रारम्भ किया। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में गहरी रूढ़िवादिता के विरुद्ध प्रचार किया और लड़कियों की शिक्षा, विवाह और सामान्य रूप में महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार लाने के लिए पारसी सामाजिक रीति-रिवाजों के आधुनिकीकरण का कार्य आरम्भ किया। समय के साथ-साथ, सामाजिक दृष्टि से पारसी भारतीय समाज का सबसे अधिक पश्चिमी सभ्यता में रंगा हुआ वर्ग बन गए।

**सिखों में धार्मिक सुधार**
**(Sikh Reforms)**

सिखों में धार्मिक सुधारों का प्रारम्भ 19वीं शताब्दी के अन्त में अमृतसर में खालसा कॉलेज की स्थापना से हुआ। सिंह सभाओं के प्रयत्नों से (1870 ई०) और ब्रिटिश सहायता से अमृतसर में 1892 ई० में खालसा कॉलेज की स्थापना हुई। इसी प्रकार के प्रयत्नों से गुरूमुखी भाषा, सिख शिक्षाओं और पंजाबी साहित्य का विकास किया।

1920 ई० के बाद, सिखों में जोश आया जब पंजाब अकाली आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। अकालियों का मुख्य उद्देश्य था गुरुद्वारों और सिख संस्थाओं के प्रबन्धन में सुधार करना। ये सब पुरोहितों/महन्तों के अधीन थे जो उन्हें अपनी व्यक्तिगत जागीर समझते थे। 1925 में एक कानून पास हुआ जिसने गुरूद्वारों के प्रबन्ध का अधिकार शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक समिति को सौंप दिया।

## ● सुधार आन्दोलनों का प्रभाव
## (Effects of Reform Movements)

अंग्रेज समाज के रूढ़िवादी उच्च वर्ग को प्रसन्न करना चाहते थे। परिणामत: केवल दो ही आवश्यक कानून बन पाए। महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए भी कुछ कानूनी कदम उठाए गए। उदाहरणतया सती प्रथा को 1829 ई० में गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। भ्रूण हत्या भी गैर कानूनी घोषित कर दी गई। 1856 ई० में विधवा पुनर्विवाह का कानून भी पास हुआ। 1860 ई० में पास किए गए एक कानून के द्वारा लड़कियों की शादी की उम्र 10 तक बढ़ा दी गई। 1872 ई० में पास हुए एक कानून के द्वारा अन्तर्जातीय और अन्त:साम्प्रदायिक विवाहों को भी सहमति प्रदान कर दी गई। 1891 ई० में पास किए गए एक कानून से बालविवाह को निरुत्साहित किया गया। बाल विवाह रोकने के लिए शारदा एक्ट 1929 ई० में पास किया गया। हज कानून के द्वारा 14 साल से कम उम्र की बालिका और 18 साल से कम उम्र के बालक का विवाह गैर कानूनी है। 20वीं शताब्दी में विशेष रूप से 1919 ई० के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन समाज सुधार का प्रभुत्व प्रतिपादक बन गया। धीरे-धीरे सुधारकों ने प्रचार कार्य भारतीय भाषाओं में प्रारम्भ किया जिससे उनकी आवाज जन-जन तक पहुँच सके। उन्होंने उपन्यासों नाटकों, लघु कथाओं, कविताओं और प्रेस को माध्यम बनाया और 1930 ई० से सिनेमा द्वारा भी उनके विचारों का प्रसार किया गया। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी—

(1) सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक सुधार आंदोलनों का एक महत्व यह है कि इसके द्वारा विधवा-पुनर्विवाह के अनुकूल जनमत को विकसित किया जा सकता है और ऐसा हो जाने से भारत में पाई जाने वाली 2.32 करोड़ विधवाओं को जीवन में फिर से घर बसाना संभव होगा और वे भी निश्चित होकर राष्ट्रीय पुनर्निमाण कार्य में अपना योगदान कर सकेंगी।

(2) समाज सुधार आंदोलनों का एक और महत्व यह है कि इसके द्वारा बाल-विवाह प्रथा को रोका या कम किया जा सकता है। काफी कम आयु में विवाह हमारे देश में होत थे। ऐसे विवाहों को सामाजिक आंदोलनों द्वारा रोकने से एक ओर लड़कियों के व्यक्तित्व का उचित विकास संभव होगा और दूसरी ओर, जोकि बहुत ही महत्वपूर्ण है, जनसंख्या की समस्या, जो कि समस्त राष्ट्र को आज अत्यधिक पीड़ित कर रही है, का भी हल हो सकेगा।

(3) समाज सुधार आंदोलन का एक महत्व दहेज-प्रथा को दूर करने से संबंधित है। सुधार आंदोलन के द्वारा ही दहेज के दुष्परिणामों के संबंध में लड़कों के माता-पिता को जागरुक किया जा सकेगा।

(4) जातिवाद राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है। इस घातक अवस्था को दूर करने के क्षेत्र में सुधार-कार्य का अपना महत्व है। इसे दूर करने के लिये जन-शिक्षा या जनमत की जागृति आवश्यक है और यह काम सुधार आंदोलन के द्वारा ही संभव है।

(5) तथाकथित अस्पृश्य जातियों को दयनीय स्थिति भारत में सदियों से बनी रही है उससे तो प्रत्येक भारतवासी परिचित है। आज उनकी अवस्था में काफी सुधार हुआ है और यह संभव हुआ है महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए अस्पृश्यता निवारण संबंधी आंदोलन के फलस्वरूप। भविष्य में भी इस दिशा में हमें जो कुछ भी सफलता प्राप्त होगी उसमें भी समाज सुधार आंदोलन का ही महत्व प्रमाणित होगा।

(6) अंतर्जातीय विवाहों के लिये अधिक अनुकूल वातावरण को विकसित करके राष्ट्रीय एकता व सद्भवना को बढ़ाने के लिये, नशाखोरी के दुष्परिणामों के संबंध में लोगों को शिक्षित करने के लिए तथा धार्मिक संकीर्णता व सांप्रदायिकता के पंजों से देशवासियों को छुड़ाकर नवभारत के निर्माण के लिए हमें सामाजिक आंदोलन के महत्व को स्वीकार करना ही होगा।

अनेक व्यक्तियों, सुधार समाजों और धार्मिक संगठनों ने महिलाओं में शिक्षा के प्रसार के लिए, बाल-विवाहों को रोकने के लिए, पर्दे से नारियों को बाहर लाने के लिए, एक पत्नी धर्म के निर्वाह के लिए और मध्य वर्ग की महिलाओं को रोजगार करने या सरकारी नौकरी करने के लिए प्रचार हेतु बहुत अधिक परिश्रम किया। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय महिलाओं ने देश के स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। फलस्वरूप अनेक अन्ध विश्वास दूर हो गए और कुछ अन्य दूर होने के मार्ग पर ही थे। अब विदेशों में भ्रमण के लिए जाना कोई पाप नहीं समझा जाता है।

## ● धर्म एवं राजनैतिक व्यवस्था (Religion and Political System)

राजनैतिक व्यवस्था सामूहिक जीवन में एक साथ शांतिपूर्ण जीवनयापन की समस्याओं से संबंधित व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य समुदाय में आंतरिक व्यवस्था एवं बाह्य शांति को सुनिश्चित करना होता है। दोनों ही दायित्व ऐसे हैं जिनके सफलतापूर्वक निर्वाहन के लिये किसी-न-किसी रूप में निर्णय लेने एवं आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिये शक्ति का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। विभिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं में ये अधिकार भिन्न-भिन्न स्वरूपों में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों अथवा व्यक्ति को प्राप्त होते है।

धर्म का राजनैतिक व्यवस्था से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं होता। दोनों के वास्तविक तथ्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। धर्म आस्था एवं देवी-देवताओं में विश्वासों का क्षेत्र है जबकि राजनीति सामुदायिक जीवन की वास्तविकताओं, व्यक्ति और व्यक्तियों एवं समूहों के पारस्परिक संबंधों का क्षेत्र है जिनमें कभी-कभी कटुता भी आ जाती है जो पारस्परिक विवादों को जन्म देती है और सामुदायिक जीवन में आंतरिक व्यवस्था के हित में इन विवादों का निर्णय आवश्यक हो जाता है।

जिस व्यक्ति अथवा जिन व्यक्तियों को समाज इस अधिकार के प्रयोग की अनुमति देता है वे कौन व्यक्ति होते हैं तथा उनकी कौन-सी विशेषताएँ उन्हें यह वैधानिक मान्यता प्रदान करती हैं, विभिन्न समाजों में इस निर्णय के भिन्न-भिन्न आधार होते हैं जो सामान्यतया धर्म-निरपेक्ष होते हैं।

सत्ताधिकार मनुष्य की मानसिक दुर्बलताओं में से एक है। कभी-कभी सत्ताधिकार पाने की लालसा में धर्म के गठबंधन से लोगों की आस्था एवं विश्वासों के सहारे कुछ व्यक्ति स्वयं ये अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। धार्मिक विश्वास धर्म से जुड़े व्यक्तियों को सत्ताधिकार की सहमति प्रदान करते हैं। उत्तरी अमेरिका एवं अन्य क्षेत्रों की जनजातियों में भी जादू एवं धार्मिक कर्मकाण्डों से जुड़े व्यक्ति ही अति-सम्माननीय एवं प्रतिष्ठित माने जाते हैं। इसीलिये समाज उन्हें सत्ताधिकार का सुपात्र मानते हुये यह अधिकार प्रदान करता है। ट्रॉब्रियांड द्वीप समूह में जनजाति का सर्वोच्च प्रमुख जादू का विशेषज्ञ होता है। वह अपने जादुयी डंडे को लेकर चलता है।

कुछ समाजों में राजनैतिक व्यवस्था समवयस्क समूहों (Age sets) के द्वारा कार्य करती है। दीक्षा संस्कारों के माध्यम से एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को इन समवयस्क समूहों की सदस्यता प्राप्त होती है। भिन्न-भिन्न आयु समूहों के राजनैतिक दायित्व उनकी आयु क्षमता के अनुरूप भिन्न होते हैं। एक आयु समूह के सभी सदस्य एक ही समय में दीक्षित व्यक्ति होते हैं। पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका की कुछ जनजातियों में लोग औपचारिक रूप से योद्धा प्रास्थिति में प्रवेश करते हैं तथा निश्चित समय में उस प्रास्थिति से निकल जाते हैं। योद्धाओं का दायित्व आक्रामक एवं सुरक्षात्मक लड़ाई लड़ना होता है। पूर्वी अफ्रीका की 'याको' जनजाति में यह व्यवस्था कार्य करती है। अपराधी तत्वों से निपटने का कार्य गुरुजनों के समवयस्क समूह का होता है। योद्धा समूह में काफी समय तक रहने के उपरांत गुरुजनों का समवयस्क समूह होता है जो प्रमुख रूप से विवादों के निर्णय लेने का कार्य करते हैं। टांगानिका की अरूशा जनजाति के संबंध में अपनी पुस्तक 'Social control in an African society (1983)' में पी०एच० गुलिवर (P.H. Gulliver) ने उनमें आयु समूहों की राजनैतिक व्यवस्था का विषद वर्णन प्रस्तुत किया है। इस जनजाति में प्रत्येक समवयस्क आयु वर्ग में राजनैतिक दायित्व के साथ-साथ सामूहिक रूप से धार्मिक कर्मकांडों का आयोजन भी होता है। ये कर्मकांड आयु वर्गों की संगठन शक्ति एवं उनके अभियानों की सफलता को सुनिश्चित करते हैं।

संभवत: विकसित अर्थव्यवस्था एवं बड़े समूहों की राजनैतिक व्यवस्थाओं में धर्म का वर्चस्व अधिक हो जाता है। जिन समाजों में केन्द्रीयकृत सत्ता होती है उनमें पूर्णकालिक रूप से धार्मिक कर्मकाण्डों के जानकार विशेषज्ञ भी होते हैं। पुजारियों को सामान्य जन सर्वाधिक सम्मान देते हैं। आस्था और विश्वासों से जुड़े होने के कारण वे अति प्रतिष्ठित माने जाते हैं। ऐसे समाजों में अक्सर राजनैतिक सत्ताधिकारी लोगों के द्वारा सम्मानित होने की लालसा में इन पुजारियों से घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लेते हैं। धर्म राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं का पोषक बन जाता है। 'राजा' की आनुवांशिक परम्परा वाले समाजों में (Kingdoms) में राज्याभिषेक एक अत्यंत महत्वपूर्ण अवसर होता है, की उपस्थिति एवं वृहद् स्तर पर धार्मिक कर्मकाण्डों का आयोजन किया जाता है।

एक योद्धा की 'तलवार' तथा जादूगर का 'डंडा' दोनों ही एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के उपकरण हैं। फिर भी कभी-कभी कुछ संस्कृतियों में किसी व्यक्ति को एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में जादू का डंडा लेकर व्यक्तियों को कार्य करने की अनुमति होती है। ऐसे शासक अपारशक्ति के केन्द्र बन जाते हैं। जनजातीय समाजों में 'शमन' तथा पुजारी दोनों विशेषज्ञ होते हैं जो दैविक शक्तियों को नियंत्रित करते हैं। किन्तु 'प्रमुख' एवं राजा समुदाय के व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं। किन्तु अक्सर ये 'शासक' 'पुजारियों' के समर्थन से अपनी राजनैतिक शक्ति का संवर्धन करते हैं। साथ ही पुजारी लोग भी शासकों के

सानिध्य एवं समर्थन से राजनैतिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। आदिम समाजों की अपेक्षा आधुनिक समाजों में ऐसी स्थितियाँ अधिक पाई जाती हैं। आदिम समाजों में धर्म का प्रभाव इतना व्यापक होता है कि धर्म किसी-न-किसी सीमा तक सभी समूहों को प्रभावित करता है। किन्तु आधुनिक समाजों में धर्म का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं होता। राजनीति का प्रयोग धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये तथा धार्मिक विश्वासों आदि का प्रयोग राजनैतिक हितों की दृष्टि से किया जाना होता है। आधुनिक समुदायों में एक सामान्य स्थिति पायी जाती है। प्रजातंत्रात्मक राजनैतिक व्यवस्थाओं में 'वोट' की राजनीति ने 'वोट बैंकों' के विचार को जन्म दिया है। ये वोट बैंक अक्सर लोगों के धार्मिक उन्मादों के आधार पर चुनाव प्रणाली में कारगर सिद्ध होते हैं।

यूरोप में आधुनिक राष्ट्र राज्यों की स्थापना से पूर्व 'चर्च' एवं 'राज्य' सत्ता की प्रतिद्वन्द्वी रहे हैं। चर्च के सर्वोच्च पद पर आसीन पोप की सत्ता राज्य के सामंती शासकों की शक्ति की तुलना में कहीं अधिक थी। किन्तु सर्वप्रथम यूरोप में राष्ट्र राज्यों की स्थापना में राष्ट्रीयता राजनैतिक समुदायों के संगठन का प्रमुख आधार बन गई। धर्म के द्वारा संगठन शक्ति का स्थान राष्ट्रवादिता ने ग्रहण किया। 'धर्म' में संगठन शक्ति होती है। राष्ट्रीयता में भी अपार संगठन शक्ति होती है। अक्सर धर्म शक्ति राष्ट्रीयता का विघटन कर देती है।

वर्तमान में पाकिस्तान एवं बांग्लादेश दो ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ धर्म एवं राजनीति का गठबंधन पाया जाता है। दोनों ही राष्ट्र स्थायी रूप से राष्ट्र राज्यों में परिणित नहीं हो सके हैं। किन्तु वहीं इण्डोनेशिया में साम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रीयता का गठबंधन उस देश में विघटनकारी एवं अलगाववादी आन्दोलनों को दबाने में सफल हुआ है। आज प्रजातंत्र एवं धर्म को भिन्न प्रकार के तत्त्वों में सम्मिलित किया जाता है। यूरोप में चर्च की शक्ति का विघटन धर्मनिरपेक्षता के द्वारा किया जा सका। अधिकांश आधुनिक प्रजातांत्रिक प्रणालियाँ धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को महत्व प्रदान करते हुये धर्म को राजनीति से अलग रखने का प्रयास करती है। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्थाएँ ईश्वर केन्द्रित न होकर मानव केन्द्रित होती हैं। उनका कार्यक्षेत्र आध्यात्मिक जगत न होकर समकालिक मानवीय परिक्षेत्र होता है। धर्म आधरित एवं धर्म-निरपेक्ष राजनीति के प्रतिद्वन्द्व के संदर्भ में आधुनिकीकरण एक आधारभूत प्रश्न बन जाता है। गत 19वीं शताब्दी में राजनैतिक संगठनात्मक शक्ति के रूप में धर्म की निर्थकता सिद्ध की जा चुकी है। तीसरी दुनिया के नव राष्ट्रों में, आधुनिकीकरण के द्वारा परम्परागत धर्म तंत्र से मुक्ति पाकर ही वे आधुनिक राष्ट्र राज्य की स्थापना के सपने साकार कर सकेंगे।

## ● धार्मिक रूढ़िवाद (Religious Fundamentalism)

रूढ़िवाद की सैद्धांतिक व्याख्या **मोंटगोमेरी वाट** (Montgomery Wat) ने अपनी पुस्तक **इस्लामिक फंडामेंटेलिजम एण्ड मोडरनिटी** (Islamic Fundamentalism and Modernity 1983) में कट्टरवाद की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि वास्तव में यह अवधारणा भ्रामक है। इसके स्थान पर **कट्टरवाद या मतांधता** (Fanaticism) पद का प्रयोग होना चाहिए। जब किसी धर्म विशेष के मतावलंबी सारी दुनिया को अपने धर्म के संदर्भ में ही देखते हैं तो यह रूढ़िवाद है। वास्तव में रूढ़िवाद और कुछ न होकर कट्टरपन का अधिकतम स्वरूप है। रूढ़िवादी न केवल अपने धर्म को वरन् संपूर्ण समाज को रूढ़िवादिता की दृष्टि से देखते हैं। इसमें वे मसले भी आ जाते हैं जो गैर-धार्मिक हैं। **मोंटगोमेरी वाट** का तो कहना है कि रूढ़िवादिता अपने आप में एक **धर्म जागरण** (Revivalism) है जिसके द्वारा धर्म के अतीत के विश्वासों, धर्म विधियों और कार्य-पद्धतियों को नया जीवन दिया जाता है। इस भाँति **भारत और पश्चिमी एशिया में रूढ़िवाद का जो अर्थ लिया जाता है, वह कट्टरपन, मतांधता तथा पुनर्जागरण है।** हमारे यहाँ रूढ़िवाद का अर्थ हिन्दू-मुस्लिम रूढ़िवाद से है।

जब भारतीय रूढ़िवाद का दृष्टान्त दिया जाता है तब अयोध्या में 6 दिसम्बर, 1992 का उल्लेख अवश्य किया जाता है। जब हिन्दु रूढ़िवादियों ने बाबरी मस्जिद को गिरा दिया। जिन लोगों ने इस मस्जिद को गिराया वे हिन्दुत्व विचारधारा को मानने वाले थे। मुस्लिम रूढ़िवाद का दृष्टांत अफगानिस्तान में तालिबान ग्रुप द्वारा चलाए जा रहे जिहाद से है। जबकि मूल रूप में अफगानिस्तान सरकार का ढाँचा लोकतांत्रिक हैं। हिन्दू मंचों का ईसाइयों के धर्म प्रचार पर आक्रमण, रूढ़िवाद का दूसरा दृष्टांत है। रूढ़िवाद तर्क पर काम नहीं करता। वह आँख बंद करके धार्मिक असहिष्णुता को औजार बनाता है।

जब हिन्दू रूढ़िवादी अपनी विचारधारा को अमल में लाते हैं तब कहते हैं कि वे अपनी पंरपराओं को जीवित रखना चाहते हैं। हिन्दू या मुस्लिम रूढ़िवाद, दोनों ही राष्ट्र के निर्माण में घातक हैं। रूढ़िवाद कहीं भी हो, राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को पीछे धकेल देता है और भारत जैसे देश में तो जहाँ संस्कृतियों का अनेकत्व है, रूढ़िवाद संपूर्ण संविधान को असफल बना देता है। यह अवधारणा हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये घातक है।

## ● धर्म, सांप्रदायिकता और राजनीति

आइए, अब अलग प्रकार के सामाजिक विभाजन की चर्चा करें यानी धार्मिक अंतरों पर आधारित विभाजन की। यह विभाजन लैंगिक विभाजन जैसा सार्वभौम तो नहीं है पर विश्व में धार्मिक विभिन्नता आज बड़ी व्यापक हो चली है। भारत समेत अनेक देशों में अलग-अलग धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं पर, जैसा कि हमने उत्तरी आयरलैंड के मामले में देखा, यदि लोग एक धर्म को मानें लेकिन उनकी पूजा-पद्धति और मान्यताएँ अलग-अलग हों तब भी गंभीर मतभेद पैदा हो जाते हैं। लैंगिक विभाजन के विपरीत धार्मिक विभाजन अक्सर राजनीति के मैदान में अभिव्यक्त होता है।

ज़रा इन बातों पर विचार करें—

(1) गांधी जी कहा करते थे कि धर्म को कभी भी राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म से उनका मतलब हिंदू या इस्लाम जैसे धर्म से न होकर नैतिक मूल्यों से था जो सभी धर्मों से जुड़े हैं। उनका मानना था कि राजनीति धर्म द्वारा स्थापित मूल्यों से निर्देशित होनी चाहिए।

(2) अपने देश के मानवाधिकार समूहों का विचार है कि इस देश में सांप्रदायिक दंगों में मरने वाले ज़्यादातर लोग अल्पसंख्यक समुदायों के हैं। उनकी माँग है कि सरकार अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष कदम उठाए।

(3) महिला-आंदोलन का कहना है कि सभी धर्मों में वर्णित पारिवारिक कानून महिलाओं से भेदभाव करते हैं। इस आंदोलन की माँग है कि सरकार को इन कानूनों को समतामूलक बनाने के लिए उनमें बदलाव करने चाहिए।

ये सभी तथ्य धर्म और राजनीति से जुड़े हैं पर ये बहुत गलत या खतरनाक भी नहीं लगते। विभिन्न धर्मों से निकले विचार, आदर्श और मूल्य राजनीति में एक भूमिका निभा सकते हैं। लोगों को एक धार्मिक समुदाय के तौर पर अपनी ज़रूरतों, हितों और माँगों को राजनीति में उठाने का अधिकार होना चाहिए। जो लोग राजनीतिक सत्ता में हों उन्हें धर्म के कामकाज पर नज़र रखनी चाहिए और अगर वह किसी के साथ भेदभाव करता है या किसी के दमन में सहयोगी की भूमिका निभाता है तो इसे रोकना चाहिए। अगर शासन सभी धर्मों के साथ समान बरताव करता है तो उसके ऐसे कामों में कोई बुराई नहीं है।

## ● सांप्रदायिकता (Communalism)

वास्तविक समस्या तब शुरू होती है जब धर्म को राष्ट्र का आधार मान लिया जाता है। पिछले अध्याय का उत्तरी आयरलैंड का उदाहरण राष्ट्रवाद की ऐसी ही अवधारणा से जुड़े खतरों को दिखाता है। यह समस्या तब और विकराल हो जाती है जब राजनीति में धर्म की अभिव्यक्ति एक समुदाय की विशिष्टता के दावे और पक्षपोषण का रूप लेने लगती है तथा इसके अनुयायी दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ़ मोर्चा खोलने लगते हैं। ऐसा तब होता है जब एक धर्म के विचारों को दूसरे धर्म के विचारों से श्रेष्ठ माना जाने लगता है और कोई एक धार्मिक समूह अपनी माँगों को दूसरे समूह के विरोध में खड़ा करने लगता है। इस प्रक्रिया में जब राज्य अपनी सत्ता का इस्तेमाल किसी एक धर्म के पक्ष में करने लगता है तो स्थिति और विकट होने लगती है। राजनीति से धर्म को इस प्रकार जोड़ना ही सांप्रदायिकता है।

सांप्रदायिक राजनीति इस सोच पर आधारित होती है कि धर्म ही सामाजिक समुदाय का निर्माण करता है। इस मान्यता के अनुकूल सोचना सांप्रदायिकता है। इस सोच के अनुसार एक खास धर्म में आस्था रखने वाले लोग एक ही समुदाय के होते हैं। उनके मौलिक हित एक जैसे होते हैं तथा समुदाय के लोगों के आपसी मतभेद सामुदायिक जीवन में कोई अहमियत नहीं रखते। इस सोच में यह बात भी शामिल है कि किसी अलग धर्म को मानने वाले लोग दूसरे सामाजिक समुदाय का हिस्सा नहीं हो सकते; यदि विभिन्न धर्मों के लोगों की सोच में कोई समानता दिखती है तो यह ऊपरी और बेमानी होती है। अलग-अलग धर्मों के लोगों के हित तो अलग-अलग होंगे ही और उनमें टकराव भी होगा। सांप्रदायिक सोच जब ज़्यादा आगे बढ़ती है तो उसमें यह विचार जुड़ने लगता है कि दूसरे धर्मों के अनुयायी एक ही राष्ट्र में समान नागरिक के तौर पर नहीं रह सकते। इस मानसिकता के अनुसार या तो एक समुदाय के लोगों को दूसरे समुदाय के वर्चस्व में रहना होगा या फिर उनके लिए अलग राष्ट्र बनाना होगा। यह मान्यता बुनियादी रूप से गलत है। एक धर्म के लोगों के हित और उनकी आकांक्षाएँ हर मामले में एक जैसी हों—यह संभव नहीं है। हर व्यक्ति कई तरह की भूमिका निभाता है। उसकी हैसियत और पहचान अलग-अलग होती है। हर समुदाय में तरह-तरह के विचार के लोग होते हैं। इन सभी को अपनी बात कहने का अधिकार है इसलिए एक धर्म से जुड़े सभी लोगों को किसी गैर-धार्मिक संदर्भ में एक करके देखना उस समुदाय की विभिन्न आवाज़ों को दबाना है।

राजनीति में सांप्रदायिकता के अनेक रूप हैं—

(1) सांप्रदायिक सोच अक्सर अपने धार्मिक समुदाय का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के फ़िराक में रहती है। जो लोग बहुसंख्यक समुदाय के होते हैं उनकी यह कोशिश बहुसंख्यकवाद का रूप ले लेती है। जो अल्पसंख्यक समुदाय के होते हैं उनमें यह विश्वास अलग राजनीतिक इकाई बनाने की इच्छा का रूप ले लेता है।

(2) सांप्रदायिकता की सबसे आम अभिव्यक्ति दैनंदिन जीवन में ही दिखती है। इनमें धार्मिक पूर्वाग्रह, धार्मिक समुदायों के बारे में बनी बनाई धारणाएँ और एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ मानने की मान्यताएँ शामिल हैं। ये चीज़ें इतनी आम हैं कि अक्सर हम उन पर ध्यान तक नहीं देते जबकि ये हमारे अंदर ही बैठी होती हैं।

(3) कई बार सांप्रदायिकता सबसे गंदा रूप लेकर संप्रदाय के आधार पर हिंसा, दंगा और नरसंहार कराती है। विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान में भयावह सांप्रदायिक दंगे हुए थे। आज़ादी के बाद भी बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक हिंसा हुई है।

(4) सांप्रदायिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी सांप्रदायिकता का दूसरा रूप है। इसमें धर्म के पवित्र प्रतीकों, धर्मगुरुओं, भावनात्मक अपील और अपने ही लोगों के मन में डर बैठाने जैसे तरीकों का उपयोग बहुत आम है। चुनावी राजनीति में एक धर्म के मतदाताओं की भावनाओं या हितों की बात उठाने जैसे तरीके अक्सर अपनाए जाते हैं।

### धर्मनिरपेक्ष शासन (Secular State)

सांप्रदायिकता का विष बीज हमारे देश के लोकतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती बनकर फैल रहा है। हमारे संविधान निर्माता इस चुनौती के प्रति सचेत थे। इसी कारण उन्होंने धर्मनिरपेक्ष शासन का मॉडल चुना और इसी आधार पर संविधान में अनेक प्रावधान किए गए।

(1) भारतीय राज्य ने किसी भी धर्म को राजकीय धर्म के रूप में अंगीकार नहीं किया है। श्रीलंका में बौद्ध धर्म, पाकिस्तान में इस्लाम और इंग्लैंड में ईसाई धर्म का जो दर्जा रहा है उसके विपरीत भारत का संविधान किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं देता।

(2) संविधान धर्म के आधार पर किए जाने वाले किसी तरह के भेदभाव को अवैधानिक घोषित करता है।

(3) संविधान सभी नागरिकों और समुदायों को किसी भी धर्म का पालन करने और प्रचार करने की आज़ादी देता है।

(4) इसके साथ ही संविधान धार्मिक समुदायों में समानता सुनिश्चित करने के लिए शासन को धार्मिक मामलों में दखल देने का अधिकार देता है। जैसे, यह छुआछूत की इजाज़त नहीं देता।

इस प्रकार देखें तो धर्मनिरपेक्षता कुछ पार्टियों या व्यक्तियों की एक विचाराधारा भर नहीं है। यह विचार हमारे संविधान की बुनियाद है। सांप्रदायिकता भारत में केवल कुछ लोगों के लिए ही एक खतरा नहीं है। यह भारत की बुनियादी अवधारणा के लिए एक चुनौती है, एक खतरा है। हमारी तरह का धर्मनिरपेक्ष संविधान ज़रूरी चीज़ है पर अकेले इसी के बूते सांप्रदायिकता का मुकाबला नहीं किया जा सकता। हमें अपने दैनंदिन जीवन में सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों और दुष्प्रचारों का मुकाबला करना होगा तथा धर्म पर आधारित गोलबंदी का मुकाबला राजनीति के दायरे में करने की ज़रूरत है।

## ● धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Religion)

यद्यपि धर्म रूढ़िवादी प्रकृति का तथा वस्तु-स्थिति बनाए रखने का समर्थक है, परंतु आधुनिक समाज की बदलती हुई द्रुतगामी परिस्थितियों के परिवेश में यह अपने आप को बचा नहीं पाया। फलस्वरूप धर्म में नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं।

**(1) धार्मिक कट्टरता का कम होना** (Lessening of Religious Rigidity)—बदलते परिवेश में धार्मिक कट्टरता में कमी आई है क्योंकि नवीन परिस्थितियों में धार्मिक नियमों का पहले जितनी कठोरता से पालन करना अब संभव नहीं है, इसीलिए समाज में चली आ रही कुरीतियों में कमी आई है। अब समाज में छूआछूत व भेदभाव जैसी धारणाओं में कमी आई है। हरिजनों की जहाँ परछाई भी देखना बुरा था वहाँ अब वे सार्वजनिक स्थलों में बेरोकटोक आ-जा सकते हैं। इसी प्रकार से बाल-विवाह व सती-प्रथा की भी समाप्ति हुई है तथा विधवा पुनर्विवाह तथा अंतर्जातीय विवाह का प्रचलन हुआ है।

**(2) धार्मिक कर्मकांडों का सरलीकरण** (Simplification of Religious Rites)—औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप मानव जीवन का मशीनीकरण हो गया है। ऐसे व्यस्त जीवन में मानव द्वारा जटिल व आडंबरपूर्ण कर्मकांडों को करते रहना संभव नहीं है। अत: अब धर्म सरलीकरण की प्रक्रिया के दौर से गुजर रहा है। जहाँ विवाह से संबंधित धार्मिक कमंकांडों में पहले अत्यधिक समय लगता था वहाँ अब तीन-चार घंटों में ही सब कुछ संपन्न हो जाता है।

**(3) धार्मिक संकीर्णता में कमी** (Lessening of Narrowness)—प्राचीन समय में धर्म की प्रकृति अत्यंत संकीर्ण थी। सभी अपने धर्मों को श्रेष्ठ समझते तथा अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते थे। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप कभी भी दो धर्मों का आपस में मेल नहीं हुआ, परंतु वर्तमान समय में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं तथा सब धर्म अब एक-दूसरे को समान दृष्टि से देखने लगे हैं। यही आज के समाज की सबसे महान् उपलब्धि है।

**(4) मानवतावादी धर्म का विकास** (Development of Humanitarian Religion)—मानवतावादी धर्म की कल्पना समाजशास्त्र के जन्मदाता ऑगस्ट कॉम्ट ने अपने 'मानवता के धर्म' के अंतर्गत की थी। कॉम्ट के अनुसार दूसरों की सेवा के लिए अधिक-से-अधिक समर्थ होना और उसके लिए शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति करना मानवता के धर्म का उद्देश्य है। यह धर्म हिंसात्मक कार्यों का बहिष्कार करता है। प्रेम इसका सिद्धान्त है, सुव्यवस्था इसका आधार और प्रगति इसका ध्येय है। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के होते हुए समस्त मानव समाज के लिए एक सामान्य धर्म की प्रतिस्थापना धार्मिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। गाँधीजी ने भी ऐसे धर्म की कल्पना की थी।

**(5) धर्म का व्यवसायीकरण** (Commercialization of Religion)—आज धर्म आजीविका का एक साधन बन गया है। आज धर्म के ठेकेदार पण्डे-पुजारी अब उतनी निष्ठापूर्वक धार्मिक क्रियाओं को संपन्न नहीं करवाते हैं जितनी पहले कराते थे। आज इनका एकमात्र ध्येय येन-केन प्रकारेण अपने जजमानों से खूब पैसा प्राप्त करना होता है। अब छोटे-से-छोटे धार्मिक कार्य के लिए अधिकाधिक दक्षिणा देना आवश्यक है। पैसा देकर कोई भी व्यक्ति उलटी-सीधी जन्म-पत्री इनसे मिलवाकर योग्य वर अथवा वधू प्राप्त कर सकता है। हम समाचार-पत्रों में नित्य ही ऐसे समाचार पढ़ सकते हैं जिसमें संतान प्राप्ति अथवा धन दुगना कमाने या नक्षत्रों की शांति हेतु लोभ देकर कई लोगों को विशेषकर औरतों को लूटा जाता है। अधिक दान-दक्षिणा देने वालों को अधिक सुविधाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार धर्म का यह व्यवसायीकरण हमें सभी धर्मों में देखने को मिलेगा।

**(6) धर्म में लौकिकीकरण** (Secularization in Religion)—**डा० श्रीनिवास** ने लौकिकीकरण की अवधारणा दी। उनके अनुसार लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत पहले हम जिस चीज को धार्मिक मानते थे, उसे अब हम धार्मिक नहीं मानते तथा साथ ही प्रत्येक स्थिति को हम तर्क के द्वारा समझने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार जिन अनुष्ठानों, व्रतों, यात्राओं, दान-दक्षिणा आदि को पहले धार्मिक निष्ठा व स्वर्ग प्राप्ति के कारण संपन्न किया जाता था, वे अब केवल धार्मिक निष्ठा के आधार पर ही संपन्न नहीं कर दिए जाते हैं, वरन् उनके पीछे कोई तर्क अवश्य होता है, जैसे सप्ताह में एक व्रत रखना पाचन शक्ति के लिए अच्छा होता है, इसीलिए कई लोग सप्ताह में एक व्रत रखते हैं। लौकिकीकरण की धारणा के कारण ही वर्तमान में कई धार्मिक अनुष्ठानों व कर्मकांडों का प्रभाव क्षीण होता जा रहा है।

**(7) धार्मिक कार्यों का अन्य संस्थाओं को हस्तांतरण** (Transfer of many Religious Functions to other Agencies)—**डेविस** के विचारानुसार संस्कृति के जटिल होने के साथ-साथ धार्मिक कार्यों का विभाजन अन्य संस्थाओं में हो जाता है। आज राज्य भी अनेक धार्मिक कार्यों में रुचि लेता है व कानून बनाकर उन पर नियंत्रण रखता है। राज्य के अतिरिक्त अन्य कई संस्थाओं ने कई धार्मिक कार्यों को करना प्रारंभ कर दिया है। इस प्रकार धार्मिक कार्य अब केवल धार्मिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं रह गए हैं। राजनीति भी अब धर्म में लिप्त है। हिन्दू महासभा, जमायते इस्लामी तथा अकाली दल इसके अच्छे व प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

**(8) धर्म तथा धार्मिक नेताओं का प्रभुत्व क्षीण होना** (Lessening of Importance of Religion and Religious Leaders)—विज्ञान की प्रगति धर्म तथा धार्मिक नेताओं की अवनति का कारण बनती जा रही है। पहले जहाँ हमारे सामाजिक जीवन व प्रतिष्ठा का आधार केवल धर्म व धार्मिक नेता थे, अब उनका स्थान दूसरों ने ले लिया है। अब धर्म के आधार पर ही केवल उच्च स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती है, वरन् इसके लिए वैयक्तिक गुण, धन, शिक्षा, उच्च व्यवसाय आदि भी आवश्यक हैं। इसीलिए धर्म परिवर्तन की मनोवृत्ति समाज में अधिक परिलक्षित हो रही है। इतिहास साक्षी है कि राज-पुरोहितों का सम्मान राजा से अधिक था। सम्राट भी राज-पुरोहित के सम्मान में अपना सिंहासन छोड़ देता था, परंतु अब ये समाज के अन्य सदस्यों की भाँति ही सामान्य सदस्य हैं।

**(9) धर्म मनोरंजन के साधन के रूप में** (Religion as a Means of Recreation)—आज अलौकिक शक्ति में निष्ठा की प्रवृत्ति का ह्रास होता जा रहा है। आज तीर्थ-स्थलों की यात्रा उस दिव्य शक्ति से प्रेरित होकर नहीं, वरन् मनोरंजन व चिकित्सक की सलाह पर हवा बदलने के लिए की जाती है। धार्मिक उत्सवों पर भजन-कीर्तन, भोज का आयोजन केवल मनोरंजन, एक-दूसरे से मिलने-जुलने, खुशियाँ मनाने आदि के लिए किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि धर्म का एक अलौकिक व अभूतपूर्व शक्ति के रूप में महत्व क्षीण होता जा रहा है।

**प्रो० डेविस** ने आधुनिक सभ्यता में धर्म की पाँच प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जिन्हें वे धर्मनिरपेक्षता का अंग मानते हैं—

(i) धर्म का क्षेत्र अनेक वर्ग, जातियों एवं स्थानों में विस्तृत हो रहा है, अत: देवता स्थानीय भावनाओं से धीरे-धीरे दूर होते जा रहे हैं। अब वे किसी एक स्थान के वृक्षों, पहाड़ियों, नदियों अथवा एक कस्बे या किसी एक ही जाति की प्रथाओं व आदतों तक ही सीमित नहीं हैं। वर्तमान में देवगण स्थानीय दृश्यों से क्रमश: दूर होते जा रहे हैं।

(ii) धर्म में सगुणवाद के स्थान पर निर्गुणवाद पनप रहा है। देवताओं व भूत-प्रेतों के बारे में यह धारणा कि वे किसी विशिष्ट स्थान पर रहते हैं। खाते-पीते हैं, सोते हैं या किसी विशिष्ट पवित्र वस्तु के सम्पर्क में रहते हैं, लुप्त हो रही है तथा उसके स्थान पर उनके बारे में अमूर्त और सामान्य संकल्पना का विकास हो रहा है।

(iii) धर्म दैनिक व्यवहारों से क्रमश: दूर होता जा रहा है। अशिक्षितों एवं ग्रामीणों का प्रत्येक कार्य, चाहे वह औद्योगिक हो या आर्थिक या राजनैतिक, धर्म से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था। नगरों में यह व्यवहार समाप्त हो रहा है, वहाँ धर्म एवं कर्मकाण्डों में निष्ठा कम हुई है।

(iv) विभिन्न समूहों एवं संस्कृतियों के साथ-साथ रहने से धर्म में सहनशीलता पनपी है। धार्मिक अन्धविश्वास निर्बल हुए हैं तथा संशयवाद नास्तिकतावाद एवं उदासीनता विकसित हुई है।

(v) धर्म में विभिन्न शाखाओं का उदय हुआ है। धर्म और राज्य में संघर्ष बढ़ा है।

## ● धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन के कारण (Causes of Change in Religious Institutions)

उपरोक्त विवेचन से एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वे कौन-से कारक हैं जो धर्म में इस नयी प्रवृत्ति तथा धर्म के ह्रास के लिए उत्तरदायी हैं। वे कारक इस प्रकार हैं—

**(1) वैज्ञानिक प्रगति**—धर्म में होने वाले परिवर्तनों का मुख्य कारण यह है कि विज्ञान का आधार तर्क, प्रयोग व निरीक्षण है। विज्ञान के क्षेत्र में काल्पनिक तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं है। अर्थात् विज्ञान कल्पना से

(1) विचारकों के एक वर्ग ने धार्मिक भेदभावों को मिटाकर एक विश्व धर्म की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया है।

(2) उपरोक्त मत के विपरीत विचारकों का एक वर्ग अपने-अपने धर्म को विश्व धर्म का अधिकारी मानता है। विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्मों पर बल देते हैं।

### विश्व धर्म का औचित्य
### (Justification of Universal Religion)

उपरोक्त मत विभिन्नता के परिणामस्वरूप संसार के सभी लोगों में विश्व धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में मैतक्य नहीं हो सकता। न ही यह सहमति आवश्यक है अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उचित है। इसका कारण यह है कि धर्म का लक्ष्य मानव की कतिपय मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। ये आवश्यकतायें व्यक्ति की व्यक्तिगत आवश्यकतायें हैं, अतएव व्यक्ति को अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ढंग से कर सके। **विलियम जेम्स** ने कहा है कि, ''हममें से प्रत्येक को स्वयं अपने लिये धर्म का प्रचार तथा सन्तपन के परिणाम का पता लगाना है जो कि इसके सबसे अधिक अनुरूप हो, जिसको कि वह अपनी शक्ति मानता हो और अपना सच्चा लक्ष्य तथा कार्य समझता हो।''

### धर्म के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण
### (Harmonious Approach towards Religion)

विश्व में विभिन्न धर्मों का अस्तित्व न केवल अपरिहार्य है वरन् वांछनीय भी है। इन धर्मों की विविधता के परिणामस्वरूप संघर्ष होने अवश्यम्भावी हैं। इन संघर्षों से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि समन्वयात्मक दृष्टिकोण ग्रहण किया जाये।

**(1) समन्वय का अर्थ** (Meaning of Harmony)—समन्वय का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि धर्म विशिष्ट देशकाल की परिस्थिति में विशिष्ट समाज तथा व्यक्ति के लिये उपयुक्त है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज को अपने धर्म का पालन करने में पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

**(2) समन्वय के परिणाम** (Results of Harmony)—समन्वयात्मक दृष्टिकोण का सर्वप्रमुख परिणाम धार्मिक सहिष्णुता के रूप में स्पष्ट होगा।

**(3) समन्वयवादी दृष्टिकोण का महत्व** (Significance of Harmonious Approach)—समन्वयवादी दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि भिन्न-भिन्न मार्ग उसी एक परम लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। अतएव समन्वयवादी दृष्टिकोण के लिये प्रत्येक धर्म उतना ही अच्छा है जितना कि दूसरे के लिये उसका धर्म। प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिये। इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिये कि किसी व्यक्ति को भी अपने धर्म के पालन में कोई भी कठिनाई न हो। विविध धर्म एक ही धर्म के विभिन्न रूप हैं। लगभग समस्त धर्मों के सन्त-महात्माओं ने अनेकता में एकता के समन्वयवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। ईसा मसीह, मौहम्मद, गुरु नानक देव, महात्मा बुद्ध, महावीर, कबीर ने तथा वर्तमान समय में रामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी आदि सभी ने धर्म की समन्वयवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

## ● कबीरदास
## (Kabirdas)

इस दिशा में प्रमुख नाम कबीरदास का है। उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धर्मों की झूठी पृथकता का खण्डन किया है। उन्होंने कहा कि धार्मिक भेदभाव अर्थहीन हैं। वास्तविक मानवता सदैव एक-सी है। उन्होंने

ब्राह्मणों और मौलवियों को मूर्ख, अन्धविश्वासों, अहंकारी, सत्य-भ्रष्ट आदि कहकर उनकी निन्दा की। उन्होंने कहा कि ब्राह्मण तथा मौलवी जिन धार्मिक कृत्यों को प्रतिदिन करते हैं, उनसे उनको मोक्ष नहीं मिलता, वरन् भेदभाव बढ़ता है।

वस्तुत: कबीर की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे मार्ग की खोज करना था, जिनको स्वीकार करके उत्तरी भारत की विभिन्न जातियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित हो सके। वे उन लोगों में सामाजिक तथा धार्मिक शान्ति स्थापित करना चाहते थे जो साथ-साथ रहते थे पर जो धर्म के द्वारा एक-दूसरे से पृथक् थे।

## ● रामकृष्ण परमहंस के उपदेश (Preachings of Ramkrishna Paramhans)

रामकृष्ण परमहंस के प्रमुख उपदेश निम्न प्रकार हैं—

**(1) ईश्वर एक पर उसके रूप अनेक** (God is One but has Different Forms)—रामकृष्ण परमहंस वेदान्त के अनुयायी थे। वेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ता है, पर वह वस्तुत: एक है। जिस प्रकार जल को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे अल्लाह, हरि, खुदा आदि। इस सम्बन्ध में रामकृष्ण परमहंस के कतिपय उपदेश उद्धृत किये जा सकते हैं—

**(i) गिरगिट का उदाहरण**—दो व्यक्ति एक गिरगिट के रंग के विषय में लड़ रहे थे। एक ने कहा उस ताड़ के पेड़ पर बैठा हुआ गिरगिट सुन्दर लाल रंग का है। दूसरे ने कहा गिरगिट लाल रंग का नहीं है, वरन् नीला है। वे दोनों व्यक्ति उस व्यक्ति के पास पहुँचे जो सदैव उस वृक्ष के नीचे रहा करता था। उसने गिरगिट को उसके रंग के समस्त पक्षों में देखा था। उसने दोनों के उत्तर को सही ठहराया,इस प्रकार सच्चिदानन्द के अनेक रूप हैं। भक्त ने उसको जिस रूप में देखा है वह उसी को जानता है। परन्तु जिसने उसको अनेक रूपों में देखा है वह यह कहने की स्थिति में है कि, ''सब रूप एक ही ईश्वर के हैं, क्योंकि ईश्वर बहुरूपी है। उसके रूप हैं और नहीं भी हैं और उसके रूप बहुत-से हैं जिनको कोई नहीं जानता।''

**(ii) अनेक रूप व नाम**—''बहुत-से हैं ईश्वर के रूप और असीम हैं वे रूप जो हमें उस तक ले जाते हैं। तुम चाहे जिस नाम या रूप से पुकाना चाहो उसी रूप और नाम में तुम उसे देखोगे।''

**(2) ईश्वर के विभिन्न रूपों का कारण** (Causes Responsible for Different Forms of the God)—जिस प्रकार स्वर्ण के अनेक आभूषण बनाये जाते हैं, जिनके भिन्न-भिन्न रूप और नाम होते हैं, उसी तरह एक ईश्वर विभिन्न नामों तथा रूपों में पूजा जाता है।

ईश्वर एक है, परन्तु उसके पक्ष अनेक हैं—जैसे कि घर का मालिक एक का पिता, दूसरे का भाई, तीसरे का पति और विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा इन विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसी प्रकार एक ईश्वर विशिष्ट भक्त को जिस पक्ष में दिखायी पड़ता है, उसके अनुसार विभिन्न प्रकार से वर्णन किया जाता है और पुकारा जाता है।

**मिट्टी के बर्तनों का उदाहरण**—''कुम्हार की दुकान में धड़े, सकोरे, तश्तरियाँ आदि विविध आधार और रूप के बहुत-से बर्तन होते हैं, परन्तु ये सभी एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। इस प्रकार ईश्वर एक है, परन्तु विभिन्न युगों में विभिन्न नामों और रूपों में पूजा जाता है।''

**(3) घृणा तथा भेदभाव दूर करो** (Remove Hatred and Discrimination)—श्री रामकृष्ण परमहंस ने विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों में परस्पर घृणा तथा भेदभाव दूर करने का उपदेश दिया है।

**(4) संकीर्णता का विरोध** (Opposition of Narrow Mindedness)—श्री रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में, ''कुएँ के मेंढक की भाँति मत बनो। कुएँ का मेंढक अपने कुएँ से अधिक विशाल किसी क्षेत्र को नहीं जानता। इसी प्रकार सभी धर्मान्ध व्यक्ति हैं वे अपने सम्प्रदायों से बाहर कुछ नहीं देखते।''

**(5) सच्चे धार्मिक व्यक्ति का कर्त्तव्य** (Duties of True Religious Person)—''एक सच्चे धार्मिक व्यक्ति को यह चाहिये कि अन्य धर्म भी सत्य की ओर ले जाने के मार्ग हैं। हमें सदैव अन्य धर्मों के प्रति सम्मान की अभिवृत्ति बनाने रखनी चाहिये।''

**(6) सम्प्रदायों में भेदभाव व्यर्थ** (Discrimination Among Communities Useless)—''आधुनिक बाह्य सम्प्रदाय तथा हिन्दुत्व में अन्तर किसी एक राग और सम्पूर्ण संगीत में अन्तर है। आधुनिक बाह्य ब्रह्म के एक अकेले स्वर से सन्तुष्ट है जब कि हिन्दू धर्म अनेक स्वरों का बना हुआ है जो कि एक मीठी और समन्वित रागिनी उत्पन्न करता है।''

**(7) दलवाद की अनुपयुक्तता** (Inappropriateness of Factionalism)—''क्या दल उत्पन्न करना अच्छा है? दल बहते हुए पानी में उत्पन्न नहीं हो सकता, वह केवल छोटे तालाबों के रुके हुये पानी में विकसित होता है। वह व्यक्ति जिसका हृदय ईश्वर के प्रति उन्मुख है, किसी अन्य बात के लिये समय नहीं पाता। वह जो कि यश और सम्मान चाहता है, ''दल बनाता है।'' (इस सन्दर्भ में दल शब्द को समूह तथा सम्प्रदाय दोनों अर्थों में लिया गया है)।

**महत्व** (Significance)—रामकृष्ण के उपरोक्त उपदेशों के दृष्टिगत **रोमेन रोलैण्ड** ने उनके सम्बन्ध में लिखा है, ''देश और काल का भेद रखते हुए रामकृष्ण हमारे ईसा को छोटा भाई है।''

## ● रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचार (Ideas of Rabindra Nath Thakur)

रवीन्द्र नाथ टैगोर के प्रमुख धार्मिक विचार निम्न प्रकार हैं—

**(1) मानव धर्म समस्त धर्मों का मूल** (Religion of Humanity is the Root of All the Religions)—रवीन्द्र नाथ टैगोर ने एकेश्वरवाद का समर्थन किया तथा विभिन्न सम्प्रदायों की ओर समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने समस्त धर्मों को एक मूल मानव धर्म के विभिन्न रूप माना है। मानव धर्म विभिन्न नाम और रूपों में प्रत्येक धर्म के हृदय में निवास करता है।

उनके शब्दों में, ''धर्म असीम की ओर एक तीव्र पिपासा है, असीम का एक आनन्दमय साक्षात्कार है।'' वास्तविक महत्व मन्दिर अथवा गिरजा अथवा विभिन्न धर्मों की पूजा विधियों तथा कर्मकाण्डों का नहीं है। वास्तविक महत्व तो आन्तरिक विकास तथा आन्तरिक परिवर्तन का है।

**(2) समन्वयात्मक दृष्टिकोण** (Harmonious Approach)—रवीन्द्रनाथ ने इंग्लैण्ड में विविध धर्मों की ओर संकेत करते हुये अपने भाषण में कहा, ''ये धर्म विस्तार में और बहुधा नैतिक महत्व में भिन्न हैं, परन्तु इन सब में एक सामान्य प्रवृत्ति है। इनमें मनुष्य स्वयं अपना परम मूल्य खोजते हैं, जिसको कि वे ईश्वर कहते हैं, यह मानवीय चरित्र के किसी व्यक्ति में खोजा जाता है।'' मनुष्य का उद्देश्य पूर्णता प्राप्त करना है, तथा विभिन्न महान् धर्म इस दिशा में क्रान्ति का परिणाम हैं।

**(3) पैगम्बरों में समानतायें** (Similarities in Prophets)—समस्त महान् धर्मों का ऐतिहासिक उद्‌गम उन व्यक्तियों से हुआ जो अत्यधिक मानवीय तथा उच्च शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे। इन पैगम्बरों ने निम्नलिखित कार्य किये—

**(i) रक्षा**—धर्म को समस्त बाहरी शक्तियों से बचाया तथा उसे आधारभूत तत्वों पर आधारित किया।

**(ii) मुक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान**—इन महान् व्यक्तियों ने उस महामानव ईश्वर के दूत की भाँति भिन्न-भिन्न देशों में अवतार लेकर उस मुक्ति के सम्बन्ध बतलाया जिससे मनुष्य उस अनन्त मानव, उस दैवी मानव ईश्वर के साथ पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना कर सकता है।

**(iii) उपयुक्त कार्य**—इन्होंने स्थानीय देश काल की परम्पराओं के माध्यम से कार्य किया।

**(iv) स्थानीय भाषा**—अपने उपदेश स्थानीय भाषा में दिये ।

**(v) सेवा**—उनका मुख्य उपदेश सेवा तथा प्रेम था।

**(vi) आत्मा की स्वतन्त्रता**—उन्होंने आत्मा की स्वतन्त्रता का साक्षात्कार किया।

**(vii) एकता का प्रचार**—भिन्न-भिन्न जातियों, प्रजातियों, देशों तथा राष्ट्रों के व्यक्तियों में एकता का प्रचार किया।

**(viii) मूल मानव धर्म का प्रचार**—यह मत प्रस्तुत किया कि संसार के समस्त धर्म एक मूल मानव धर्म को भिन्न-भिन्न भाषाओं तथा भिन्न-भिन्न पूजा विधियों आदि के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

**(ix) महामानव ईश्वर की प्राप्ति पर बल**—प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करते हुये महामानव ईश्वर की प्राप्ति करने हेतु प्रयत्न करना चाहिये।

## ● महात्मा गाँधी के विचार (Thoughts of Mahatma Gandhi)

धर्म के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी के प्रमुख विचार निम्न प्रकार हैं—

**(1) समन्वयात्मक दृष्टिकोण** (Harmonius Approach)—गाँधी जी समस्त धर्मों को सत्य या समान मानते थे। उनका सुझाव है कि व्यक्ति को संसार का निर्णायक नहीं बनाना चाहिये। इस संसार में भेद होते रहे हैं तथा होते रहेंगे। ईश्वर सर्वशक्तिमान है। ईश्वर की अभिव्यक्ति अनेक रूपों तथा चेहरों में होती है। यदि खोज की जाये तब हम उतने ही धर्म पा सकते हैं जितने कि मनुष्य हैं। ईश्वर, सर्वशक्तिमान, हममें से हर एक में रहता है, हम अपूर्ण माध्यम हैं। हम सब भिन्न हैं। कोई भी दो शरीर बिल्कुल एक समान नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रकाश के अनुसार ईश्वर की प्रार्थना करता है। मैं कौन हूँ जो कि यह निर्णय करूँ और कहूँ कि मैं तुमसे अधिक अच्छी प्रकार प्रार्थना करता हूँ? मैं मुस्लिम, पारसी, ईसाई तथा यहूदी का निर्णय नहीं करता।'' सभी धर्म सत्य तथा समान हैं।

**(2) समस्त धर्मों में सत्यता** (Truth in every Religion)—गाँधी जी ने विभिन्न धर्मों की सत्यता प्रकट करते हुए कहा है कि, ''मैं हिन्दुत्व को सत्य का धर्म मानता हूँ, परन्तु इस्लाम तथा ईसाइयत भी सत्य के धर्म हैं।''

**(3) समस्त धर्मों में मूलभूत एकता** (Fundamental Unity in all the Religions)—गाँधी जी ने समस्त धर्मों में मूलभूत एकता पर बल देते हुये कहा है कि, मैं संसार के सभी महान् धर्मों के मूलभूत सत्य में आस्था रखता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे सब ईश्वर के दिये हुये हैं।

**(4) धर्म परस्पर पूरक** (Religions are Supplement to one another)—गाँधी जी ने 14 मई, 1938 को 'हरिजन' नामक पत्र में लिखा था, ''कोई धर्म पूरी तरह पूर्ण नहीं है। सभा समान रूप से अपूर्ण अथवा न्यूनाधिक पूर्ण हैं।''

**(5) विवाद आधारहीन** (Conflicts are Baseless)—सोफिया वाडिया की एक पुस्तक का प्रक्कथन लिखते हुये गाँधी जी ने अपने विचार स्पष्ट किये कि, ''पृथ्वी पर उपस्थित समस्त मुख्य धर्मों में जीवन के मूल तत्वों के सम्बन्ध में एकता है। हम सभी व्यक्ति अनावश्यक बातों के बारे में झगड़ते हैं। यदि हम अन्य धर्म की पुस्तकों का अध्ययन करें तब हमें उनमें भी श्रद्धा उत्पन्न होगी।''

धर्मों के बाह्य रूप में विविधता है, पर उनके मूल में सर्वव्यापी मौलिक एकता है। यह मौलिक एकता के विद्यमान होने पर ऊँच तथा नीच का भेद करने के लिये न कोई स्थान है, न कोई आवश्यकता।

**(6) बलात् धर्म परिवर्तन का विरोध** (Opposition of Forceful Conversion)—गाँधी जी बलात् धर्म परिवर्तन के विरोधी थे। किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह किसी अन्य व्यक्ति को अपने धर्म का परित्याग कर अन्य धर्म मानने के लिये बाध्य करे। विश्व में विभिन्न धर्मों को मिटाकर किसी एक धर्म की स्थापना नहीं की जा सकती। अपने-अपने स्थान पर समस्त धर्म रहने चाहिये तथा रहेंगे। विविधता अथवा अनेकता में जीवन का सत्य है।

गाँधी जी की दैनिक पूजा के साथ-साथ बाइबिल, कुरान तथा ग्रन्थ साहब का भी पाठ होता था। वे न केवल विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों को ही पढ़ते थे वरन् उनके धार्मिक कर्मकाण्ड को भी अपना लेते थे। उन्होंने एक बार दक्षिणी अफ्रीका में पूरे माह का रोजा रखा।

## ● समस्त धर्मों की मूलभूत एकता (Fundamental Unity of All the Religions)

स्वामी रामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा महात्मा गाँधी के उपरोक्त विचारों का अध्ययन कर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मों में विभिन्नता बाह्य है, मूल रूप से समस्त धर्म एक ही हैं।

सभी महान् धर्मों में मूलभूत एकता निम्न प्रकार व्यक्त की जा सकती है—

**(1) ईश्वर के अस्तित्व में आस्था** (Belief in the Existence of the God)—संसार के समस्त महान् धर्मों ने ईश्वर के अस्तित्व में आस्था प्रकट की है चाहे उन्होंने ईश्वर को सगुण माना चाहे निर्गुण। ईश्वर को भिन्न-भिन्न रूप में मानने पर भी सभी यह मानते हैं कि ईश्वर का अस्तितव है, मनुष्य को आस्तिक होना चाहिये तथा नास्तिकता अनुचित है।

**(2) धर्म की अनिवार्यता** (Essentiality of Religion)—विश्व के सभी सन्त महात्माओं ने धर्म को मनुष्य के लिये आवश्यक माना है। धर्म के अभाव में मनुष्य की उच्च पक्षों का विकास असम्भव है। देश काल के अनुसार धर्म का स्वरूप परिवर्तित होते रहने पर भी उसका महत्व कभी भी समाप्त नहीं होता।

**(3) धार्मिक सहिष्णुता** (Religious Tolerance)—समस्त धर्मों के संस्थापकों ने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखने का उपदेश दिया है। यीशु ने तो अपनी विरोधियों के प्रति भी सहिष्णुता का उपदेश दिया है। ईश्वर सर्वत्र है, अत: किसी भी धर्म से घृणा नहीं की जानी चाहिये। पैगम्बर मौहम्मद ने कहा है कि धर्म में किसी प्रकार का बल-प्रयोग नहीं होना चाहिये। कुरान में लिखा है, ''मुसलमान, यहूदी और ईसाई जो भी ईश्वर में विश्वास रखते हैं और सही रास्ते पर चलते हैं, ईश्वर से पुरस्कार पायेंगे। उन पर किसी प्रकार का भय नहीं होगा और उन्हें किसी प्रकार का दुख नहीं होगा।''

**(4) समान समन्वय नियम** (Similar General Principles)—सभी महान् धर्म आत्म-नियन्त्रण, आत्म-त्याग, अहिंसा, सत्य, शुद्धता और सहिष्णुता के नियमों का पालन करने का उपदेश देते हैं।

**(5) साधनों की समानता** (Similarity of Means)—मूलरूप से धार्मिक साधना सर्वत्र आस्था, प्रेम तथा भक्ति पर आधारित है। ईश्वर की पूजा मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा कहीं भी की जाये और किसी भी विधि से की जाये उस का मूल मन्त्र है पुजारी की भक्ति, सच्चाई, शुद्धता और तन्मयता की भावना।

**(6) पैगम्बरों के समान उपदेश** (Similar Preachings of the Prophets)—सभी महान् धर्मों के पैगम्बरों ने उपदेश दिया है कि सबको प्यार करो, सबकी सेवा करो, आत्म-नियन्त्रण का अभ्यास करो, शुद्ध बनो, चरित्र में गुणों का विकास करो, सहिष्णु बनो, आत्म-त्याग करो, दान दो और दूसरों को अपनी चीजों में हिस्सा दो, श्रद्धा और भक्ति रखो और ईश्वर का चिन्तन करो।

**(7) पैगम्बर में विश्वास** (Faith in Prophets)—हिन्दू धर्म में ईश्वर तर्क ले जाने वाले गुरु को ईश्वर से भी उच्च स्थान दिया गया है। इस्लाम में पैगम्बर पर यकीन लाना मुसलमानों के लिये अनिवार्य है। ईसाई ईसा के मसीह होने पर अटूट विश्वास रखते हैं। सिख धर्म में गुरु को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

**(8) विश्व भ्रातृत्व का प्रचार** (Propaganda of Universal Brotherhood)—विभिन्न देश काल में उत्पन्न होकर भी प्रत्येक महान् धर्म में अपने-अपने तरीके में विश्व-भ्रातृत्व का उपदेश दिया गया है। सभी धर्मों के पैगम्बरों ने मानव मात्र की समानता पर बल दिया है और भ्रातृत्व की भावना से रहने का उपदेश दिया है।

**(9) धार्मिक देन में समानता** (Similarity in Religious Contribution)—समस्त महान् धर्मों ने भिन्न-भिन्न देश काल में मनुष्यों को आश्रय, शक्ति, साहस और बुद्धिमत्ता प्रदान की। सभी ने निराश हृदयों में आशा जागत की और मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर प्रेरणा दी। उन्होंने मनुष्यों में स्वतन्त्रता और आनन्द का प्रसार किया तथा मनुष्य को पूर्णता के पथ पर अग्रसर किया।

**(10) लक्ष्य के विषय में समानता** (Similarity regarding Objective)—समस्त महान् धर्मों के लक्ष्य निम्न प्रकार रहे हैं—

(i) मनुष्य में प्रेम भाव उत्पन्न कर पृथ्वी पर शान्ति की स्थापना करना।

(ii) स्वर्ग के राज्य को पृथ्वी पर उतारना।

(iii) मनुष्य को उसके सांसारिक कष्टों से मुक्ति दिलाकर आनन्द और पूर्णतया का पाठ पढ़ाना।

(iv) निराशा में आशा, निर्बलता में शक्ति और निर्धनता में समृद्धि उत्पन्न करना।

**(11) परिणामों में समानता** (Similarity regarding the Results)—मानव के इतिहास में समस्त महान् धर्मों के परिणामों में समानता दृष्टिगोचर होती है—

(i) परस्पर संघर्ष में कमी।

(ii) मतभेद कम होकर एकता की वृद्धि।

(iii) अशान्ति के स्थान पर शान्ति की स्थापना।

(iv) निराशा का दूर होकर आशा का जाग्रत होना।

(v) दुखों से मुक्ति के उपाय दिखाई पड़ना।

(vi) मनुष्यों में सुख-शान्ति, आनन्द की वृद्धि हुई।

## ● समाज एवं धर्म में होने वाले परिवर्तन (Changes in Society and Religion)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। विभिन्न समाजों में यद्यपि परिवर्तन की प्रकृति, दिशा, गति और ढंग चाहे भिन्न-भिन्न रहे हों, लेकिन समाज में परिवर्तन अवश्य हुए हैं। समाज में होने वाले परिवर्तनों को हम कई दृष्टियों से देख सकते हैं—

**(1) सामाजिक जीवन में परिवर्तन–**सामाजिक जीवन के अनेक पक्ष हैं, जैसे—परिवार, विवाह, जाति-प्रथा, रीति-रिवाज आदि का वर्णन निम्न प्रकार है—

**( अ ) परिवारों में परिवर्तन–**विश्व के समाजों में सदस्यों की संख्या के आधार पर दो प्रकार के परिवार पाये जाते हैं—संयुक्त परिवार एवं एकाकी परिवार। संयुक्त परिवारों में तीन-चार पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ रहते थे, साथ-साथ भोजन एवं पूजा करते थे और उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती थी। सबसे अधिक आयु का पुरुष सदस्य इन परिवारों का मुखिया होता था, वह अन्य सदस्यों पर नियन्त्रण रखता था एवं परिवार का संचालन करता था। समाज की इकाई व्यक्ति नहीं, परिवार होता था। परिवार के प्रत्येक सदस्य के मन में व्यक्तिवाद के स्थान पर समष्टिवाद की भावना विद्यमान रहती थी, किन्तु वर्तमान समय में संयुक्त परिवारों की संरचना और कार्यों में कई परिवर्तन आ रहे हैं। आजकल संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है और उनके स्थान पर एकाकी परिवार बन रहे हैं। यदि कहीं संयुक्त परिवार विद्यमान भी हैं तो उनमें पूर्व के समान परिवार के मुखिया का कठोर अनुशासन ढीला हो गया है। वृद्ध लोग युवाओं से भी सलाह करने लगे हैं एवं स्त्री-पुरुष की समानता का विचार भी पनपा है। रूढ़िवादिता कम हुई है।

विश्व के अधिकांश देशों में आज एकाकी परिवारों का बाहुल्य है। ये परिवार अधिकतर पुरुष प्रधान होते हैं। स्त्रियों को सम्पूर्ण विश्व में पुरुषों की अपेक्षा हीन माना जाता रहा है लेकिन आज इन परिवारों में भी स्त्रियाँ अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के लिये संघर्षशील हैं। इसके अतिरिक्त परिवार में युवाओं और बच्चों का महत्व बढ़ता जा रहा है। परिवार का प्रत्येक सदस्य आज आत्मनिर्भर बनने की ओर अग्रसर है और अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास करना चाहता है।

प्राचीन काल में परिवार अनेक कार्य करता था, लेकिन शनैः-शनैः परिवार के कार्य अन्य संस्थाओं ने ले लिये हैं, जैसे—भोजन के लिये होटल, कपड़े धोने के लिये लाण्ड्री, मनोरंजन के लिये सिनेमा, क्लब, शिक्षा हेतु विद्यालय, यहाँ तक कि यौन तृप्ति भी परिवार के बाहर भी हो सकती है। इसी संघर्ष में कुछ लोग यहाँ तक कहने लगे हैं कि परिवार का भविष्य अन्धकार में है। इसके अतिरिक्त नातेदारी का महत्व भी कम होता जा रहा है।

**( ब ) विवाह में परिवर्तन–**परिवार से सम्बन्धित संस्था विवाह में भी अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं। पहले जीवन-साथी का चुनाव माता-पिता एवं नातेदारों के द्वारा किया जाता था। आजकल अधिकांश देशों में लड़के-लड़कियाँ अपनी इच्छा से एवं अधिकतर प्रेम-विवाह करते हैं। भारत में बाल विवाह की प्रथा थी, अपनी जाति या उपजाति में विवाह करने की प्रथा थी तथा विवाह सम्पन्न करने में अनेक रूढ़ियों का पालन किया जाता था। आजकल इन सब स्थितियों में परिवर्तन हो रहा है। आजकल भारत में भी विधवा पुनर्विवाह कर सकती है, पत्नी-पति को तलाक दे सकती है तथा उसके लिये अब अपने पति को परमेश्वर मानना आवश्यक नहीं है। पश्चिमी देशों में तो विवाह, तलाक और पुनर्विवाह एक खेल बनकर रह गया है। भारत में तो यद्यपि अभी भी यौन-नैतिकता का बहुत महत्व है, लेकिन विदेशों में बहुत कम होता जा रहा है।

**( स ) जाति-व्यवस्था में परिवर्तन–**यद्यपि जाति, प्रजाति एवं जन्मजात भिन्नतायें विश्व के अनेक देशों में पाई जाती हैं लेकिन चरम रूप में जाति-प्रथा भारत की विशेषता है। जाति-प्रथा में विवाह, खान-पान, व्यवसाय, उच्चता, निम्नता, विशेषाधिकार, निर्योग्यतायें, अस्पृश्यता आदि बहुत से विचार जुड़े हुए थे। भारत की हवा में भी जाति-प्रथा बसी हुई थी, लेकिन आज इस शक्तिशाली प्रथा में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते जा रहे हैं। निम्न जातियों को संविधान में विशेष अधिकार दिये गये हैं। अत: वे विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा कम होती जा रही है। खान-पान और व्यवसाय पर प्रतिबन्ध के नियम ढीले होते जा रहे हैं। आजकल हमें अन्तर्जातीय एवं कभी-कभी अन्तधार्मिक विवाह होते हुए भी दिख जाते हैं।

जाति-प्रथा से जुड़ी हुई एक अन्य प्रथा—जजमानी व्यवस्था—जो कि भारतीय ग्रामों की मुख्य विशेषता रही है और जिस प्रथा के द्वारा विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे को अपनी सेवायें प्रदान करती हैं, टूटने लगी है। इसका मुख्य कारण औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं द्राव्यिक अर्थव्यवस्था है।

**( द ) रीति-रिवाजों में परिवर्तन–**प्राचीनकाल में लोग विभिन्न पक्षों, जैसे—परिवार, विवाह, जाति, धर्म आदि से सम्बन्धित रीति-रिवाजों का कठोरता से पालन करते थे, लेकिन आज शिक्षा के प्रसार, नवीन जागृति, विज्ञान के विकास के प्रभाव के कारण रूढ़िवादिता एवं कट्टरता कम होती जा रही है।

**(2) आर्थिक जीवन में परिवर्तन–**परम्परागत रूप से कृषि हल और बैल की सहायता से की जाती थी। कृषि के औजार खाद एवं बीज उन्नत प्रकार के नहीं होते थे, अत: प्रति एकड़ उत्पादन कम होता था, किन्तु वर्तमान समय में कृषि आधुनिक ढंग से की जाने लगी है। हल और बैल के स्थान पर ट्रैक्टर्स का प्रयोग होने लगा है। सिंचाई के लिये ट्यूबवैल्स, उन्नत खाद और बीजों का प्रयोग बढ़ रहा है। संक्षेप में कह सकते हैं कि कृषि मशीनीकृत होती जा रही है। साथ ही, फैक्ट्री प्रणाली, औद्योगीकरण एवं आधुनिकतम मशीनों का आविष्कार एवं प्रयोग आर्थिक क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। उपभोग की नित नवीन वस्तुएँ बाजार में आ रही हैं। विज्ञापनों का प्रभाव आज अत्यधिक है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा विभिन्न देश आपस में सम्बद्ध हो गये हैं। परिणामस्वरूप, नई-नई आर्थिक और व्यावसायिक संस्थाओं का जन्म एवं विकास हुआ है तथा सामाजिक गतिशीलता बढ़ती जा रही है। धन का समाज में सर्वोपरि मूल्य माना जाने लगा है।

**(3) राजनैतिक जीवन में परिवर्तन–**समाज में न्याय, प्रशासन एवं राजव्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। विश्व के सभी देशों के लोगों में राजनैतिक जागरूकता बढ़ती जा रही है। सभी वर्गों के लोग राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिये संघर्ष कर रहे हैं। इस प्रवृत्ति के कारण साम्प्रदायिकता, जातिवाद, प्रजातिवाद, प्रादेशिकता तथा गुटबन्दी बढ़ती जा रही है।

प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था को सर्वोत्तम पद्धति मानकर अनेक देशों के लोग आन्दोलनरत हैं, जैसे—रूस, नेपाल, पूर्वी यूरोप के देश आदि। भारत में भी आजादी के बाद प्रजातान्त्रिक शासन-पद्धति को अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त भारत में राजनैतिक क्षेत्र में ग्राम-पंचायतें बहुत प्राचीन काल से ही विद्यमान रही हैं लेकिन आजादी मिलने के बाद इन पंचायतों का पुनर्गठन किया गया। अब इन पंचायतों में नेतृत्व युवा पीढ़ी के हाथ में आ रहा है। उसमें परिवार, जाति, वंश, भूस्वामित्व सम्पत्ति का महत्व कम हुआ है। अब व्यक्तिगत गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है। निम्न जातियाँ एवं स्त्रियाँ भी पंचायत के माध्यम से ग्रामीण न्याय एवं प्रशासन में भाग लेने लगी हैं। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तन आने लगा है।

**(4) शैक्षणिक जीवन में परिवर्तन–**प्राचीन काल में शिक्षा का महत्व अपेक्षाकृत कम था। विशेष रूप से लड़कियों की शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था, परन्तु आज समाज बदल रहा है। लड़के-लड़कियाँ

सभी जातियों और वर्गों के लोग हर प्रकार की शिक्षा अपनी सामर्थ्यानुसार अधिकाधिक ग्रहण कर रहे हैं। आर्थिक प्रतिस्पर्धा के बढ़ जाने के कारण ऐसा करना स्वाभाविक भी है।

**(5) धार्मिक जीवन में या धर्म में होने वाले परिवर्तन–**सम्पूर्ण समाज में धर्म का विशेष महत्व रहा है। धर्म का अर्थ है—किसी पारलौकिक शक्ति में विश्वास, जो कि सृष्टि का संचालन एवं नियमन करती है। धर्म के साथ नैतिक विचार, कर्त्तव्य, कर्मकाण्ड, धार्मिक क्रियायें, पूजा-पाठ आदि जुड़े हुए हैं। धर्म का समाज में बहुत अधिक महत्व रहा है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान रहा है। धर्म के द्वारा व्यक्ति सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा पाता है तथा जीवन-यापन को सरल बनाने के लिये धर्म से उसे विशेष सम्बल प्राप्त होता है।

भारत में तो धर्म का विशेष महत्व रहा है। भारतवासियों का सम्पूर्ण जीवन ही धर्म द्वारा संचालित होता है। व्यक्ति के सभी कर्त्तव्यों को धार्मिक आधार प्रदान किया गया है, उदाहरण के लिये, ग्रामवासी फसल बोने, काटने, जन्म, विवाह, मृत्यु एवं अन्य उत्सवों के अवसर पर अनेक धार्मिक क्रियायें करते हैं। आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है।

लेकिन वर्तमान समय में बढ़ती हुई शिक्षा, विज्ञान का विकास, सन्देशवाहन और यातायात के साधनों का विकास, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण आदि के कारण धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। नवीन विचारों के कारण रूढ़िवादिता समाप्त होती जा रही है। धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के कारण धार्मिक भेदभाव कम होते जा रहे हैं। धार्मिक क्रियाओं, पूजा-पाठ, यज्ञ, हवन, संस्कारों एवं त्यौहारों आदि की महत्ता कम हो गई है। धर्म का संक्षिप्तीकरण हुआ है और धार्मिक क्रियायें शीघ्रता से और छोटे रूप में सम्पन्न की जाने लगी हैं। प्रमुख रूप से युवा पीढ़ी का धर्म में विश्वास कम हुआ है। युवा लोग जो थोड़ी-बहुत धार्मिक क्रियायें करते हैं वे इस कारण क्योंकि उनके पूर्वज ऐसा करते थे, उनका अपना विश्वास इसमें कम होता है। मन्दिर, मस्जिद एवं गुरुद्वारों में जाने वाले लोगों की संख्या घटती जा रही है। धर्म की व्याख्या अब लौकिक व तार्किक आधार पर होने लगी है। धर्म के अनुसार, कुछ वस्तुओं को पवित्र एवं अपवित्र माना जाता था, लेकिन अब पवित्रता, अपवित्रता के विचार समाप्त हो रहे हैं।

धर्म के साथ नैतिकता भी जुड़ी होती है। धार्मिक जीवन के साथ नैतिक जीवन में भी परिवर्तन हो रहा है। आज व्यक्तियों का नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। समाज में तरह-तरह के अपराधों में निरन्तर वृद्धि हो रही है, जैसे—आपस में लड़ाई-झगड़ा, जातियों में संघर्ष, प्रजातियों में संघर्ष, मार-पीट, मद्यपान, जुआ, गबन, रिश्वतखोरी तथा यौन-सम्बन्ध इत्यादि।

## ● अभ्यास-प्रश्न

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

**1.** धर्म ही सामाजिक समुदाय का काम करता है, यह मान्यता किस पर आधारित है?

(अ) समुदाय पर (ब) सम्प्रदाय पर

(स) धर्म पर (द) सांप्रदायिकता पर

**2.** ब्रह्मसमाज के आदर्श थे—

(अ) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (ब) राष्ट्रीय एकता

(स) दृढ़ विश्वास तथा सहयोग (द) ये सभी

**3.** किसने कहा है, ''राज्य न तो धार्मिक है और न अधार्मिक, न ही धर्म के विरुद्ध है बल्कि धार्मिक सिद्धान्त और कार्यों से तटस्थ है और इस प्रकार धार्मिक मामलों में निरपेक्ष है।''

(अ) वेंकटरमण (ब) राजा राममोहन राय

(स) केशवचन्द्र सेन (द) इनमें से कोई नहीं

**4.** 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थ किस समाज सुधारक की रचना है—

(अ) स्वामी विवेकानन्द (ब) रामकृष्ण परमहंस

(स) स्वामी दयानन्द सरस्वती (द) ईश्वर चन्द्र विद्यासागर

**5.** मुस्लिम समाज सुधारकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम सैय्यद अहमद का था, वे उत्तर प्रदेश के किस जिले से सम्बन्धित थे—

(अ) मेरठ (ब) बरेली

(स) रायबरेली (द) लखनऊ

**6.** 'Social control in an African Society' पुस्तक के लेखक हैं—

(अ) पी०एच० गुलिवर (ब) वेंकटरमण

(स) स्वामी विवेकानन्द (द) इनमें से कोई नहीं

**7.** 'मोंटगोमेरी वाट' ने अपनी पुस्तक 'इस्लामिक फंडामेंटेलिज्म एण्ड मोडरनिटी' में किस सिद्धान्त की व्याख्या की है—

(अ) साम्प्रदायिकता (ब) कट्टरवाद

(स) समाजवाद (द) धर्मनिरपेक्षता

**8.** किसके विचारानुसार संस्कृति के जटिल होने के साथ-साथ धार्मिक कार्यों का विभाजन अन्य संस्थाओं में हो जाता है—

(अ) डेविस (ब) मजूमदार

(स) श्री निवास (द) रामानुज

**9.** धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन के कारण हैं—

(अ) वैज्ञानिक प्रगति (ब) शिक्षा की प्रगति एवं विस्तार

(स) औद्योगीकरण व नगरीकरण (द) ये सभी

**10.** विश्व में विभिन्न धर्मों का अस्तित्व न केवल अपरिहार्य है वरन ..... भी है।

(अ) पृथक (ब) अनुरूप

(स) वांछनीय (द) विपरीत

**11.** ''मुसलमान, यहूदी और ईसाई जो भी ईश्वर में विश्वास रखते हैं और सही रास्ते पर चलते हैं, ईश्वर से पुरस्कार पायेंगे।'' यह लिखा है—

(अ) बाइबिल में (ब) कुरान में

(स) रामायण में (द) इनमें से कोई नहीं

**12.** समस्त धर्मों की मूलभूत एकता में शामिल है—

(अ) विश्व भ्रातृत्व का प्रचार (ब) धार्मिक सहिष्णुता

(स) ईश्वर के अस्तित्व में आस्था (द) ये सभी

**13.** किसके मतानुसार, ''धर्म असीम की ओर एक तीव्र पिपासा है, असीम का एक आनन्दमय साक्षात्कार है।''—

(अ) रवीन्द्रनाथ टैगोर (ब) विलियम जेम्स

(स) श्री निवास (द) इनमें से कोई नहीं

**14.** किस आयोग के अनुसार यह कहा गया है, भारत एक धर्म प्रधान देश है, अत: विभिन्न धर्मानुयायियों के बीच सौहार्द बनाए रखने के लिए विभिन्न धर्मों का ज्ञान होना आवश्यक है—

(अ) राधाकृष्णन आयोग (ब) कोठारी आयोग

(स) ये दोनों (द) इनमें से कोई नहीं

**15.** दलितवर्ग और भारतीय समाज के उत्पीड़ित वर्गों के उत्थान के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील एक महत्वपूर्ण आन्दोलन केरल में किसके द्वारा प्रारम्भ किया गया—

(अ) स्वामी विवेकानन्द (ब) दयानन्द सरस्वती

(स) नारायण गुरु (द) रामकृष्ण परमहंस

**16.** लखनऊ में फिरंगीमहल की दार्शनिक और ज्ञानमयी परम्परा को नये शैक्षिक पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया, भारत में कब इसका प्रचार हुआ—

(अ) 20वीं शताब्दी (ब) 16वीं शताब्दी

(स) 18वीं और 19वीं शताब्दी (द) इनमें से कोई नहीं

**17.** सिंह सभाओं के प्रयत्नों से और ब्रिटिश सहायता से अमृतसर में खालसा कॉलेज की स्थापना की गई—

(अ) 1891 (ब) 1893

(स) 1892 (द) 1894

**18.** संविधान किस आधार पर किए गए भेदभाव को अवैधानिक घोषित करता है—

(अ) राज्य (ब) धर्म

(स) समुदाय (द) मान्यताओं

**19.** धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियों में सम्मिलित है—

(अ) धर्म का व्यावसायीकरण (ब) धार्मिक संकीर्णता में कमी

(स) धार्मिक कट्टरता का कम होना (द) ये सभी

**20.** किसके अनुसार, ''लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत पहले हम जिस चीज को धार्मिक मानते थे, उसे अब हम धार्मिक नहीं मानते तथा प्रत्येक स्थिति को हम तर्क के द्वारा समझने की कोशिश करते हैं।''—

(अ) श्री निवास (ब) डेविस

(स) नारायण गुरु (द) इनमें से कोई नहीं

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

**1.** राजनीति, धर्म तथा शिक्षा में क्या सम्बन्ध है?

**2.** धार्मिक शिक्षा के विषय में मुदालियर आयोग के सुझाव लिखिये।

3. धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में राधाकृष्णन आयोग के सुझाव बताइये।
4. धार्मिक शिक्षा के विषय में कोठारी आयोग के सुझावों पर प्रकाश डालिये।
5. धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों की समान विशेषताएँ लिखिये।
6. उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनके कारण ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई?
7. ब्रह्मसमाज के नियम क्या थे?
8. प्रार्थना समाज ने सामाजिक विषमताओं को दूर करने में कैसे सहायता की?
9. एम०जी० राणाडे कौन थे?
10. आर्य समाज की स्थापना किसने की?
11. पहला दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज कहाँ स्थापित किया गया था?
12. गदाधर चट्टोपाध्याय के अनुसार आप मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकते हैं?
13. स्वामी विवेकानन्द का मूल नाम क्या था?
14. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सर्वोच्च धर्म कौन-सा था?
15. थियोसोफिकल सोसाइटी कहाँ स्थापित की गई थी?
16. थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना किसने की?
17. भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी का मुख्यालय कहाँ था?
18. सन् 1916 ई० में होमरूल लीग किसने स्थापित की?
19. मुहम्मदन एंग्लो ओरियन्टल महाविद्यालय किसने प्रारम्भ किया?
20. अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय कहाँ पर स्थित है?
21. मुस्लिम महिलाओं के विषय में सैय्यद अहमद खाँ के क्या विचार थे?
22. मुहम्मदन साक्षरता सभा कहाँ स्थित थी?
23. पारसियों के किन्हीं सुप्रसिद्ध सामाजिक-धार्मिक सुधारकों के नाम लिखिए।
24. सांप्रदायिकता के प्रत्यय को स्पष्ट कीजिये।
25. धर्म-निरपेक्ष शासन से क्या आशय है?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. शिक्षा में धर्म की भूमिका का वर्णन कीजिये।
2. धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा का स्थान निर्धारित कीजिये।
3. भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
4. धार्मिक सुधार आन्दोलनों के प्रभाव का वर्णन कीजिये।
5. धर्म एवं राजनीति पर एक निबन्ध लिखिये।
6. धार्मिक रूढ़िवाद से क्या आशय है?
7. विभिन्न तरह की सांप्रदायिक राजनीति का ब्यौरा दें और सबके साथ एक-एक उदाहरण भी दें।
8. धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिये।
9. समाज एवं धर्म में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिये।
10. धर्म का भविष्य क्या है? क्या एक विश्व धर्म सम्भव है?
11. समस्त धर्मों में एकता की सम्भावना पर विभिन्न विचारकों के मत स्पष्ट कीजिये।

## उत्तरमाला

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| **1.** (द) | **2.** (द) | **3.** (अ) | **4.** (स) | **5.** (स) | **6.** (अ) | **7.** (ब) | **8.** (अ) |
| **9.** (द) | **10.** (स) | **11.** (ब) | **12.** (द) | **13.** (अ) | **14.** (ब) | **15.** (स) | **16.** (स) |
| **17.** (स) | **18.** (ब) | **19.** (द) | **20.** (अ) | | | | |